

संस्कृत नाटकों के हिन्दी अनुवाद

दिल्ली विश्वविद्यालय की पी एच० डी०
उपाधि के लिए स्वीकृत शोधप्रबंध

डा० देवेन्द्रकुमार

एम० ए०, पी एच० डी०



राजपाल एण्ड सन्स, दिल्ली

© निशादेवी, १९६७

पहला संस्करण १९६७

मूल्य

तेरह रुपये

प्रकाशक

राजपाल एण्ड सन्स कश्मीरी गेट, दिल्ली-६

मुद्रक

हिंदी प्रिंटिंग प्रेस, दिल्ली-६

SANSKRIT NATAKON KE HINDI ANUVAD

BY DR. DEVENDRA KUMAR M. A. PH. D.

13 00

निवेदन

यह प्रबंध जिस शोधकाय के आधार पर लिखा गया है, वह जुलाई, १९५६ में दिल्ली विश्वविद्यालय के हिंदी विभाग में अंतर्गत आरम्भ हुआ था। इस अध्ययन के निष्कर्ष अब विद्वानों के विचार के लिए प्रस्तुत हैं।

इस ग्रंथ में अनुवाद की परिभाषा तथा गुण-दोष, अर्थ के स्वरूप, अर्थ-प्रकृतियों और कार्यविस्थापना, और भाव, रस तथा छंद के विषय में भी प्रासंगिक रूप में कुछ विचार रखे गए हैं—ये विचार इस धारणा से रखे गए हैं कि विद्वद्गण इन्हें यथायथा और अनुभव की कमोटी पर कसेगा।

सो से अधिक अनूदित नाटका की सूची प्रबंध में दी गई है और इनमें से कुछ की विस्तृत परीक्षा की गई है। पर १९६२ के बाद प्रकाशित सामग्री इसमें समाविष्ट नहीं की जा सकी।

अनूदित रचनाओं का मूल्यांकन केवल अनुवाद-कौशल के आधार पर करना मुझे उचित नहीं प्रतीत हुआ। अतः कोई रचना इसीलिए पढ़ी जाती है कि उसमें पढ़ने योग्य वस्तु है, न कि इसलिए कि वह अनुवाद है। रचना का मूल्य उसकी वह अपेक्षामयी है जिसके लिए हम उसे पढ़ना चाहते हैं। इसलिए अनूदित रचनाओं के प्रभाव का उसी प्रकार अध्ययन होना चाहिए जिस प्रकार मौलिक रचनाओं के प्रभाव का होता है। अंतिम अध्याय में मैंने इस प्रकार का संश्लिष्ट अध्ययन करने का यत्न किया है।

गोपकाम का आदि तो है, अंत नहीं। गोपकर्ता को नित्य नई सामग्री का विचार का मागात्कार होता रहता है। फिर भी, इस शोधकाय की पूर्वनिर्दिष्ट मंडित आ जाने पर मैं सबसे पहले परमविज्ञापरमात्मा की कृपा का स्मरण करना चाहता हूँ जो अपनी प्रेरणा द्वारा मानव को श्रेष्ठ कामों में लगाता है। इसके बाद मैं उन महनीय पूज-गरवों का प्रणाम करता हूँ जिनके प्रयास से कुछ जानकारी लेकर मैं यह प्रबंध प्रस्तुत करने में समर्थ हुआ हूँ।

इस काम की पूर्ति में जिन महानुभावों का योगदान है, उनमें डा० नगेन्द्र, डा० दशरथ आमा, डा० विजयेन्द्र स्नातक, हमारे सत्सत् साहित्य के गुरु

© निशादेवी, १९६७

पहला संस्करण १९६७

३९४३

मूल्य

तेरह रुपये

प्रकाशक

राजपाल एण्ड सन्ज कश्मीरी गेट, दिल्ली-६

मुद्रक

हिंदी प्रिंटिंग प्रेस, दिल्ली-६

SANSKRIT NATAKON KE HINDI ANUVAD

BY DR. DEVENDRA KUMAR M. A. PH. D.

13 00

निवेदन

यह प्रबंध जिस शोधकाय के आधार पर लिखा गया है, वह जुलाई, १९५६ में दिल्ली विश्वविद्यालय के हिंदी विभाग के अंतर्गत आरम्भ हुआ था। इस अध्ययन के निष्पन्न अथ विद्वानों के विचार के लिए प्रस्तुत हैं।

इस ग्रंथ में अनुवाद की परिभाषा तथा गुण-दोष, अर्थ के स्वरूप, अथ-प्रकृतियों और वाक्यविस्थापना, और भाव, रस तथा छंद के विषय में भी प्रासंगिक रूप में कुछ विचार रखे गए हैं—ये विचार इस धारणा से रखे गए हैं कि विद्वान इन्हें यथायथा और अनुभव की कसौटी पर कसेगा।

सो से अधिक अनूदित नाटकों की सूची प्रथम में दी गई है और उनके कुछ की विस्तृत परीक्षा की गई है। पर १९६२ के बाद प्रकाशित मामनी रचने समाविष्ट नहीं की जा सकी।

अनूदित रचनाओं का मूल्यांकन केवल अनुवाद-कौशल के अन्तर्गत करना मुझे उचित नहीं प्रतीत हुआ। अन्ततः कोई रचना इसीलिए नहीं कही है कि उसमें पढ़ने योग्य वस्तु है, न कि इसलिए कि वह अनुवाद है। वह रचना उमरी वह अयशामयी है जिसके लिए हम उसे पढ़ना चाहते हैं। इसीलिए रचनाओं के प्रभाव का उसी प्रकार अन्वयन होता है कि रचनाओं के प्रभाव का होता है। अन्तिम अंग में मैंने इस रचना के अध्ययन करने का यत्न किया है।

शोधकाय का आदिता है, अतः नहीं। इसका अर्थ है कि विचार का मायास्कार होता रहता है। इसीलिए मैंने इस मन्त्रित भा जाने पर मैंने प्रथम पक्ष पर ध्यान दिया है। चाहता हूँ कि अपनी प्रेरणा द्वारा मैंने इसका अर्थ है कि मैं उन महनीय पूर्व-गुरुओं का अनुसरण कर रहा हूँ। लेकर मैं यह प्रबंध प्रस्तुत करने में सक्षम हूँ।

इस काय की पूर्ति में मैंने बहुत सारे लोगों का धन्यवाद किया है।
 डा० दारप आनन्द, डा० शिवप्रसाद त्रिपाठी, डा० रामचन्द्र

साहित्याचार्य प० बागीश्वर विद्यालकार, डा० दशरथ शर्मा और श्री श्यामू स यासी ने नाम इस समय मुझे स्मरण आ रहे हैं पर अब अनेक हितपियों से भी इस काय में बड़ी सहायता मिली है।

गुरुकुल कागड़ी विश्वविद्यालय (हरिद्वार), हिन्दी साहित्य सम्मेलन प्रयाग, और नागरी प्रचारिणी सभा, काशी, तथा श्री विष्णु प्रभाकर के पुस्तकालयों से अनेक दुर्लभ ग्रन्थ और जानकारी प्राप्त करने में जो सहयोग मिला, उसके लिए इन सस्थाओं के अधिकारियों तथा विष्णुजी का मैं बड़ा आभारी हूँ।

अतः मैं उन अनेक विद्वानों और मनीषियों को भी धन्यवाद है जिनके विचारां से मैंने लाभ उठाया है पर उनके नाम मैं स्वयं नहीं जानता। यदि मेरे इस प्रबंध से मानवचिंतन को कुछ गति मिली तो मैं अपने को इन चिंतकों के ऋण से कुछ अंश तक उत्तृप्त समझूंगा।

ए ७/४७, कृष्णनगर

दिल्ली-३१

विजयादशमी, १९६६

—दधेन्द्रकुमार

विषय-सूची

भूमिका खंड

१ अनुवाद का अर्थ, सिद्धान्त और प्रक्रिया	६
२ संस्कृत और हिंदी का सम्बन्ध	२३
३ काव्य का अनुवाद	३०
४ नाटक का स्वरूप और अनुवाद की समस्याएँ	५२
५ अनुवाद की शैलियाँ, समीक्षा और गुण-दोष	७६

शेष प्रबंध

विषय प्रवेश	६५
पहला अध्याय अनुवाद और उनकी सामान्य प्रवृत्तियाँ	६७
दूसरा अध्याय मध्यकाल के अनुवाद	११२
तीसरा अध्याय आधुनिक काल (१८५०-१९००) के अनुवाद	१४४
चौथा अध्याय वर्तमान काल (१९०१-१९६४) के अनुवाद	२००
पाँचवाँ अध्याय अभिज्ञानशाकुन्तल के पाँच अनुवादों का तुलनात्मक अध्ययन	२३४
छठा अध्याय अनूदित नाटक और रंगमंच	२५०
सातवाँ अध्याय अनुवाद का योगदान और मूल्यांकन	२६३
परिशिष्ट	२८३
अनुसूचिका	२८७



भूमिका खण्ड

अनुवाद का अर्थ, सिद्धान्त, और प्रक्रिया

(१) अनुवाद शब्द और उसका अर्थ

(२) शब्द और अर्थ का स्वप्न

(३) अनुवाद का सिद्धान्त

(४) अनुवाद की प्रक्रिया

हिन्दी साहित्य में सुरुत नाटका के ज्ञान अनुवाद समाविष्ट हैं उनकी समीक्षा करने के लिए यह जानना आवश्यक है कि अनुवाद का अर्थ क्या है। हम आगे बताएंगे कि एक भाषा के शब्दों में निहित अर्थ की दूसरी भाषा के शब्दों में रखना अनुवाद कहलाता है। तब यह विचार करना आवश्यक है कि शब्द और अर्थ का स्वप्न क्या है। अर्थ का अर्थ ठीक-ठीक समझे बिना न अनुवाद किया जा सकता है और न अनुवाद की समीक्षा ही सम्भव है। अर्थ का ठीक स्वप्न स्पष्ट हो जान पर ही हम यह जान सकते हैं कि कौन-सा अनुवाद अच्छा है और किस किस प्रकार के अनुवाद किए गए हैं।

१ अनुवाद शब्द और उसका अर्थ

प्राचीन प्रयोग अनुवाद शब्द का प्रयोग बहिर और परवर्ती सुरुत साहित्य में अनेक स्थानों पर मिलता है। ऋग्वेद में और मैत्रायणी संहिता कृष्ण यजुर्वेदीया आदि में 'अनुवादनि' शब्द आया है। बाद में पाणिनीय अष्टाध्यायी (अनुवाद वरणानाम) में अनुवाद शब्द मिलता है। 'आपदग्न' (२ ६५) में वाक्य के तीन में से एक भेद को 'अनुवादवाक्य' कहा गया है।

घात्वर्थः स्वात्मिणी वद व्यक्ताया यावि घातु और चुरादिगो वद मन्त्रवचने घातु से भाव में घटा प्रत्यय होकर 'वा' धातु बनता है। अनुपपत्ता परवर्तिता, आदि अर्थ का आधान करनेवाला 'अनु' उपसर्ग पूर्ववत् होने पर 'अनुवाद' शब्द सिद्ध होता है। इसीका उत्तम रूप हिन्दी का 'अनुवाद' शब्द है।

अभिधेयार्थः शब्दाश्च चिन्तामणि वाप के अनुसार अनुवाद शब्द प्राप्तिमय पुनः कथन, या 'प्राप्तिमय प्रक्रिया' के, अर्थान् पहले बहिर अर्थ के पुनः कथन के लिए प्रयुक्त

१ २ १, २ १

२ १ १, १ १

३ २, ४, ३ १

होता था।

हिन्दी में अर्थ परिवर्तन हिन्दी मसृष्ट का 'अनुवाद शब्द' वस्तुतः भाषा नुवाद का सक्षिप्त रूप है। भाषानुवाद का अर्थ है 'बिना अर्थ भाषा में वही गई बात को बोले-चाते में प्रचलित भाषा में कहना'। पहले इसे 'भाषा बदलना' या 'भाषा में बदलना' कहा जाता था।

(क) बदो सिव अवगाहना, अस बदो निवपय।

जस प्रसाद भाषा करी नाटक नाम गिरथ।^१

(ख) प्रयागचन्द्रोदय के जसवन्तसिंह-जय अनुवाद के अन्त में 'इति महाराजा धिराज महाराज श्री जसवन्तसिंहजी वृत्त प्रबोध नाटक भाषा सम्पूर्ण'।

आधुनिक काल में राजा लक्ष्मणसिंह का अनुवाद शब्द का और भारत-दु ने अनुवाद तथा भाषा-अनुवाद शब्दों का प्रयोग किया है।^२ पर इन दोनों ने जो क उल्था और सजुमा शब्द भी इस अर्थ में प्रयुक्त किए हैं।^३ इसी अर्थ में अनुवाद शब्द का आज प्रयोग हो रहा है।

सारास यह कि हिन्दी में अनुवाद शब्द का अब एक भाषा में वही गई बात को दूसरी भाषा में कहना होता है और हिन्दी ने मसृष्ट के अनुवाद शब्द का अर्थ में कुछ परिवर्तन करके इसे ग्रहण किया है।

परिभाषा जब हम यह कहते हैं कि एक भाषा में वही गई बात का दूसरी भाषा में कहना अनुवाद कहलाता है तब यह प्रश्न पड़ा होता है कि यहाँ भाषा तथा 'बात' का अर्थ क्या है।

विचार करने से पता चलता है कि यहाँ 'भाषा' का अर्थ शब्द तथा 'बात' का अर्थ 'अर्थ' है। शब्द और 'अर्थ' भाषा के दो पहलू हैं। शब्द जित्वाजनित वणप्राह्य और भौतिक होता है। अर्थ इन्द्रियजनित आत्मप्राह्य और अभोक्तिक होता है। इस प्रकार अनुवाद की यह परिभाषा होगी

१ मल्लिकार्जुन नन्दलाल समयसार नाटक दिगम्बर नैन ग्रन्थमाला, सिन्धु-बालिधर पृष्ठ १५, पृष्ठ १०।

२ भारत-दु नाटकावली, भाग २, पृष्ठ ४७४।

३ नारनेन्दु नाटकावली भाग २ पृष्ठ ४५ लक्ष्मणसिंह वृत्त शकुन्तला नाटक, सप्तम संस्करण साहित्यरत्न भण्डार, आगरा २०१२ अन्त में 'जावन-चरित्र' में पृष्ठ ३ पर उद्धरण।

४ भाषा शब्द का अर्थ भाषा शब्द का प्रयोग प्रायः बड़ बड़ों में किया जाता है।

(१) मनुष्य समाज में प्रचलित सांस्कृतिक पदमसृष्ट, जैसे, भाषा विचार विनिमय का साधन है।

(२) किन्ना एक समुदाय विशेष में प्रचलित पद-समुदाय जैसे, हिन्दी भाषा।

(३) भाषाशैली जैसे प्रेमचन्द की भाषा प्रसाद की भाषा।

(४) शब्द तथा अर्थ जैसे भाषा के दो आधार हैं—भौतिक और मानसिक।

(५) शब्द जैसे, चिन्तियाँ की भाषा।

(६) बोधकाय में प्रचलित पदमसृष्ट, जैसे, भाषानुवाद।

ऊपर दिए गए सूत्र में 'संज्ञा' का प्रयोग द्वितीय अर्थ में हुआ है।

“एक भाषा के शब्दों में कह गए अर्थ की दूसरी भाषा के शब्दों में कहना अनुवाद कहलाता है।” इसे मूलरूप में इस प्रकार लिख सकते हैं

मूलभाषा ← अर्थ → अनुवादभाषा

अभिप्राय यह हुआ कि एक भाषा की किसी उक्ति के अर्थ का अपूर्ण रजत हुए दूसरी भाषा में उसे प्रकट करना—मूलभाषा के शब्दों के स्थान पर अनुवाद भाषा के शब्द ले जाना—ही अनुवाद करने का अर्थ है। जिस अर्थ को अधूरा बनाए रखना है, उसका अनुवादक का ठीक ठीक ज्ञान होना चाहिए। इसके लिए ‘अर्थ और ‘शब्द’ के स्वरूप पर कुछ विचार करना आवश्यक हो जाता है।

२ अर्थ और शब्द का स्वरूप

अर्थ का स्वरूप चेतन या आत्मा मन के द्वारा जगत के द्रव्य आदि विषयों का ग्रहण करता है। आत्मा के इस ग्रहण या ज्ञान का अर्थ कहते हैं।

यह ग्रहण या ज्ञान आत्मा को विषय के हानापादान, अर्थात् प्रमेय वस्तु के त्याग या ग्रहण, में प्रवृत्त करता है। त्याग या ग्रहण में प्रवृत्त करने में समय अर्थ में विभिन्न निषेधादिपर एक प्रधान क्रियाय अर्थात् प्रधान क्रिया रूप अर्थ, अवश्य रहता है। एक प्रधान क्रियाय वाला अर्थ ‘वाक्यार्थ’ कहलाता है।

वाक्यार्थ ही सदा व्यवहार में आता है और यही अर्थ की इकाई है। ‘दुष्प्रज्ञान’ न कुरंग का पीछा किया यह सम्पूर्ण अर्थ मिलकर एक अव्यय वाक्यार्थ है। अपादान-बुद्ध्या, अर्थात् मन की विलेपण शक्ति से, हम ‘दुष्प्रज्ञान’ आदि पदों के अर्थ, या पदार्थ, को अलग अलग सोचते-समझते हैं परन्तु तब कारक में प्रयुक्त ‘दुष्प्रज्ञान’ पदार्थ की काइ पुष्प सत्ता समझ नहीं। वाक्यार्थ जिन कारकादियुक्त अर्थों का समन्वित रूप होता है, उन्हें ‘पदार्थ’ कहते हैं।

यह वाक्यार्थ बोलकर ग्रहण करता है और उसका साथ बोल गए शब्द समुदाय से उसका समवाय सम्बन्ध समझता है। फिर वह ‘घोड़ा लाओ’, ‘घोड़ा ले जाओ’ आदि वाक्य सुनकर अवयव व्यतिरिक्त से ‘घोड़ा’ ‘लाओ’ और समग्र अभिहित पदों का परस्पर सम्बन्ध ग्रहण करता है। ‘शब्द और अभिधेय के सम्बन्ध का यह ज्ञान ‘शक्तिग्रह’ या ‘मन्त्रग्रह’ कहलाता है।

यह शक्तिग्रह धीरे धीरे शब्द (शक्तिपदिक), कारक धातु सकार आदि के अर्थों के लिए पृथक्-पृथक् हो जाता है और शक्तिपदिक या विभक्ति की स्वतन्त्र सत्ता नष्ट हो भी इनका पृथक् शक्तिग्रह होता है।

जिन शब्दों से पदार्थ का शक्तिग्रह होता है, वे शब्द भी पदार्थ के साथ ही आत्मा का विषय होते हैं। आत्मा में लीन शब्द और अर्थ पृथक् नहीं होते। जब शब्द बोलकर अर्थ प्रकट करने की इच्छा पैदा होती है तब मुसाधारतः म वाणी का ‘परा’ रूप होता है—

१ २ विस्तृतनिरूपण के लिए शक्तिग्रह मत इति, वाक्यार्थ इति, काण्ड २।

वहा से वाणी आरम्भ होती है। इसमें—

आत्मा बुद्ध या समेत्यार्थानि मनो मुड कने विवक्षया ।

मन कायाग्निमाहति स प्रेरयति मास्तम ॥

मास्तस्तूरसि चरमद्र जनयति स्वरम ।^१

इस अवस्था में शब्द और अर्थ अलग नहीं होने। जब प्राण नाभिचक्र में पहुँचता है, तब आत्मा द्वारा गन्ध और अर्थ अलग अलग करने का प्रयत्न होने लगता है। वाणी की यह अवस्था 'पश्यन्ती' अवस्था कहੀ जाती है। इसके बाद हृदय में पहचान शब्द और अर्थ अलग हो जाते हैं और यह वाणी की 'मध्यमा' अवस्था कहलाती है। जब वायु बँठ आदि से होता हुआ जिह्वा से विभिन्न वर्णों में रूपांतरित हो जाता है तब वह 'वहरी' वाणी कहलाती है। इसी वहरी वाणी को मातृप्य धोलते और सुनते हैं। इसे ही गान कहते हैं।

श्रोता सत्रमे पहले वहरी वाणी सुनता है जो नाम रूप में उसकी श्रवणेन्द्रिय पर पड़ती है फिर वणस्फोट पदस्फोट, वाक्यस्फोट की प्रक्रिया से वाक्यग्रहण करता है, उसका वस्तु रूप अर्थग्रहण करता है (मध्यमा), इच्छात्मक भावग्रहण करता है (पश्यन्ती) और सकल्पात्मक रसानुभव करता है (परा)। जो अनुवादक मूल रचना के अर्थ की इस अवस्था तक पहुँच जाता है, वही सफल अनुवादक हो सकता है।

आत्मा की तीन वस्तियाँ

आत्मा की वस्तियों के अनुसार, इस वाक्यार्थ के तीन रूप हो जाते हैं ज्ञानरूप, इच्छारूप और सकल्प (या प्रयत्न) रूप क्योंकि आत्मा की ये तीन ही वस्तियाँ हैं— ज्ञान इच्छा और सकल्प (प्रयत्न)।^१ जो वाक्यार्थ ज्ञानरूप होता है उसे 'वस्तु' या 'अलंकार' कहते हैं, जो इच्छारूप होता है उसे भाव कहते हैं और जो सकल्प (प्रयत्न) रूप होता है उसे रस कहते हैं।

इस प्रकार यदि किसी वाक्य का आत्मा पर पड़नेवाला प्रभाव ज्ञानवृत्तिरूप है तो उसका वाक्यार्थ वस्तु कहलाता है यदि किसी वाक्य का प्रभाव इच्छावृत्तिरूप है तो उसका वाक्यार्थ भाव कहलाता है और यदि किसी वाक्य का प्रभाव सकल्प (प्रयत्न) वृत्तिरूप है तो उसका वाक्यार्थ रस कहलाता है।

इस प्रकार अनुवाचाभाषा में मूलभाषा के जिस अर्थ को व्यक्त करना 'अनुवाद' कहलाता है वह वाक्यार्थ होता है और उसका तीन रूप हैं—वस्तु-अलंकार भाव और रस। वस्तु और अलंकार में इतना ही भेद है कि वस्तु के विषय-व्यभिचय को अलंकार कहते हैं।

मनोव्यापार की दृष्टि में वाक्यार्थ

यह वाक्यार्थ या आत्मिक वृत्ति विषयवृत्त को प्रत्यक्ष देखने से आत्मा में पदा

१ पाणिनाय सिद्धा—१, ७।

२ ज्ञानज या मरिचिच्छा इच्छा-या भवे कृति —अभिज्ञानविमर्शिका।

होती है। उसी विषयजगत् के वाचक वाक्या से भी यही वृत्ति पैदा होती है। वाक्या से यह वृत्ति पैदा होने में, अर्थात् वाक्याय की उपलब्धि में, तीन मनोव्यापार हात हैं जो क्रमशः अभिधा व्यापार, लक्षणा व्यापार, और व्यजना व्यापार कहलाते हैं।

‘अभिधा व्यापार’ वह व्यापार है जिससे वाक्य सुनकर सकेतग्रह के अनुसार, वस्तुरूप या अलंकाररूप वाक्याय का ज्ञान हो जाता है। अर्थ का यह प्रकार मुख्य या ‘वाच्य अर्थ’ कहलाता है।

‘लक्षणा व्यापार’ वह व्यापार है, जिससे मुख्य अर्थ के बाधित होने पर अर्थान्तर की उपलब्धि होती है। ‘देग’ के लिए प्राण दत्तवाला मनुष्य ही मनुष्य है—इस वाक्य में दूसरा ‘मनुष्य’ शब्द ‘प्रणमनीय’ अर्थ का ज्ञान कराता है। अर्थ का यह प्रकार ‘लक्षणा’ कहलाता है।

तीसरा ‘व्यजना व्यापार’ तब होता है जब वाच्य अर्थ तथा लक्ष्य अर्थ के बाद कुछ और भी अर्थ उपलब्ध होता है। जैसे, दश के लिए प्राण दत्तवाला मनुष्य ही मनुष्य है—इस वाक्य में दूसरे ‘मनुष्य’ शब्द में ‘प्रणमनीयता की अधिकता’ व्यजना व्यापार में उपलब्ध होती है। अर्थ का यह प्रकार ‘व्यंग्य अर्थ’ कहलाता है।

ये तीन व्यापार जिन लक्षणा के अर्थग्रहण में होते हैं, उन्हें क्रमशः ‘वाचक’, ‘लक्षक’ और ‘व्यङ्गक’ कहा जाता है। इनके वाच्य और लक्ष्य अर्थ तो व्यजन ही हैं, व्यंग्य अर्थ भी व्यङ्गक होता है।

यहां यह बात ध्यान देने योग्य है कि मनोव्यापार की दृष्टि में तीन प्रकार ज्ञान हुए भी अन्तिम प्रभाव या अनुभूति की दृष्टि से अर्थ के दो ही प्रकार हैं—वाच्य और व्यंग्य (या प्रतीयमान)। ऊपर दिए गए उदाहरण में यद्यपि लक्षणा व्यापार अवश्य होता है, पर अन्तिम उपलब्धि ‘अन्तिम प्रणमनीयता’ के ज्ञान के रूप में ही होती है। लक्ष्य अर्थ बीच का एक पड़ाव है, मजिस्त नहीं। इसीलिए आचार्य आनन्दबोधन ने वाक्याय के दो ही भेद या अंश माने हैं—वाच्य और प्रतीयमान

योग्य सहृदयस्तादर्थ्य काश्रमणि व्यवस्थित ।

वाच्यप्रतीयमानाभ्यां तस्य भेदावुभौ स्मृतौ ॥

—व्याकरण १०

इस प्रकार हमने देखा कि अर्थ का अर्थ ‘वाक्याय’ होता है, जो वस्तुरूप, अलंकाररूप, भायरूप, और रमरूप होता है। और, वाक्याय की उपलब्धि में जो मनोव्यापार हात हैं उनको दृष्टि से वाक्याय दो प्रकार का होता है—वाच्य और व्यंग्य।

वाक्याय की अनावट

ऊपर बताया जा चुका है कि व्यवहार में जाननेवाला वाक्याय एक अखण्ड द्वाद होता है। विचार की दृष्टि से विद्वत्सेपन करने पर वाक्याय के दो स्पष्ट भाग हात आते हैं—एक वह जिसपर प्रधान प्रिया आधारित होती है, और दूसरी प्रधान प्रिया स्वयं। जिसपर प्रधान प्रिया आधारित होती है उसे ‘मिद’ या उद्देश्य या अनुवाद कहते हैं। प्रधान प्रिया साध्य या ‘विषय’ कहलाता है। पाठे दोष रह है इस वाक्य में ‘पाठे’ पद का अर्थ

सिद्ध या उद्देश है, और 'दीड रह हूँ' पद का अर्थ विधेय है।

ध्याकरण की दृष्टि से उद्देश का कथन करने के बाद ही विधेय का कथन करना उचित है— 'अनुवादमनुस्त्वव न विधेयमुदीरयत'। परन्तु लोक-व्यवहार में और लोक-व्यवहार के प्रतिबिम्ब रूप साहित्य में यह नियम नहीं चलता। 'जानत है सब कोई' (गकुलला राजा लक्ष्मणसिंह १ १६) में विधेय 'जानत है' पहले आया है, और उद्देश 'मय काद पीद'। यहाँ उद्देश और विधेय का यही क्रम उचित था।

वाक्य या शब्द का स्वरूप

वाक्याय जिस अखण्ड ध्वनि-समुच्चय में रहता है, उस वाक्य कहते हैं। वाक्य एक अखण्ड सत्ता है, पर व्यावहारिक प्रयोजन के लिए उस पदों में खण्डित करके विचार किया जाता है। वाक्य बनाने-भंग करने परममुक्त्य वह होता है जिसके पदों के अर्थों में परस्पर सम्बन्ध की योग्यता या सम्भवत्व हा, जिसका एक पद सुनकर श्रोता को दूसरा पद जानने की जिज्ञासा रहे और जिसके पद एक दूसरे के बाद लगातार बोले जाएँ। कविराज विश्वनाथ के अनुसार,

वाक्य स्याद्योग्यताऽ नान्नाऽऽसत्तियुक्त पदान्वयः ।

—शा० ६०, २१

अर्थात् योग्यता आकांक्षा और आसत्ति या समीपता से युक्त पदसमुदाय को वाक्य कहते हैं।

'योग्यता' या परस्पर सम्बन्ध का सम्भवत्व ऐसे पदसमुदाय में नहीं होता जिसमें 'यह वत्त त्रिकोण है' या 'आग में सींचते हैं'। ये पदसमुदाय वाक्य नहीं हैं, क्योंकि पहले उदाहरण में वत्त और त्रिकोण पदों के अर्थों में परस्पर विरोध निरीक्षण सम्भव नहीं, और दूसरे उदाहरण में आग का धूम, जलाना सिंचाई क्रिया के प्रतिकूल है।

आकांक्षा का अर्थ है परस्पर सम्बद्धता। 'राम शहर से घोड़े पर आया', यह वाक्य है क्योंकि इसमें चारों पद—राम, शहर से घोड़े पर आया—परस्पर सम्बद्ध हैं। 'राम घोड़ा शहर हाथा यह वाक्य नहीं क्योंकि इसमें पद परस्पर सम्बद्ध नहीं, निराकार हैं। मीमांसा-दान के अनुसार अर्थकत्वादेक वाक्य साक्षात् चेद्विभागे स्यात् ।

आसत्ति का अर्थ है समीपता या पक्षों में काल-व्यवधान का अभाव। एक पद बोलने पर दूसरा पद यदि दूरी पर बोल दिया जाता है कि पहले पद का ध्यान नहीं रहता, तो वह पदप्रयोग वाक्य नहीं कहलाएगा।

इस प्रकार परस्पर सम्बद्ध होने की योग्यता वाले परस्पर सम्बद्ध और एक-दूसरे के तुरन्त बाद बोल जा रहे पदों के समुदाय को वाक्य कहते हैं। अनेक वाक्यों का जड़ित समुदाय 'महावाक्य' कहलाता है।

निष्कर्ष यह हुआ कि चूंकि यथा आत्मा सत्ता के विषयो को वाक्याय रूप में ग्रहण करता है। जिस पदसमुदाय से वाक्याय गृहीत होता है वह वाक्य कहलाता है। गृहीत अर्थ जानने पर इच्छारूप और सत्ता या प्रयत्नरूप होता है। जानने पर अर्थ को वस्तु या अंतर्कार, इच्छारूप अर्थ को भाव और प्रयत्न या सकृदर्थ अर्थ को रस कहते हैं। जब

यह कहा जाता है कि भूमभाषा के अर्थ को अक्षुण्ण रखते हुए अनुवादभाषा में उसे अभिव्यक्त करना अनुवाद कहलाता है तब उसका अभिप्राय यह होता है कि भूम रचना के वाक्यार्थ रूप वस्तु, अलंकार, भाव और रस अनुवाद रचना में अक्षुण्ण रहने चाहिए।

३ अनुवाद के सिद्धान्त

वैदिक संहिताओं को विश्व पुस्तकालय की प्राचीनतम रचना माना गया है। उनमें म्यान और जाति के भेद से मनुष्यों में भाषा भेद होने का उल्लेख मिलता है।^१ परस्पर सम्पर्क होने पर, चाहे वह विजयाकाक्षा में प्रेरित युद्ध के प्रसंग में हो, या सम्पत्ति मूलक प्रसंग में हो, विभिन्न जातियों के मनुष्यों को अपनी भाषा से भिन्न भाषा प्राचीनकाल में भी जाननी पड़ती होगी। इसलिए अनुवाद का आरम्भ प्राचीनतम काल में ही मानना चाहिए।

सम्राट् जगोक् की प्रशस्ति में स्यानों की मिन्नता के अनुसार कुछ भाषा भेद पाया जाता है। घम, आयुर्वेद, ज्योतिष आदि शास्त्रों के संस्कृत ग्रंथों के चीनी, तिब्बती तथा अरब भाषाओं में हुए अनुवाद इतिहास में प्रसिद्ध हैं। बताया जाता है कि प्रसिद्ध रसायनशास्त्री नागार्जुन ने एकटा कानानिक संस्कृत ग्रंथ का चीनी और तिब्बती भाषाओं में अनुवाद किया था। संस्कृत के शास्त्रीय ग्रंथों के अनुवाद अरबी और यूनानी में भी बड़े पैमाने पर हुए। यहाँ की गणित, ज्योतिष और आयुर्वेद की पुस्तकें यूनानी भाषा में अनूदित की गई, और इस प्रकार के आधुनिक यूरोप को उपलब्ध हो सकी।

साहित्यिक अनुवादों की परम्परा भी प्राचीन काल में ही चली आती है। बौद्ध धर्म में संस्कृत के घम, नीति आदि के अनेक श्लोक पालि में अनूदित किए गए। 'गाथा सप्तशती' मूलतः प्राकृत रचना थी, जिसका संस्कृत में अनुवाद हुआ। संस्कृत और पालि की कुछ समानार्थक रचनाएँ स्पष्टतः अनुवाद की उदाहरण हैं

योर्जहसवानि भूतानि हिनस्त्यात्ममुषेच्छया ।

आत्मन मुग्धमिच्छन् स प्रेत्य नव मुक्षी भवेत् ॥

—गङ्गाधर

सुखवामानि भूतानि या दहेन विहिंसति ।

अज्ञानो मुग्धमेवानो वेच्च सो न सन्नते मुक्त ॥

—धम्मपद, १०३

इसी प्रकार, पालि श्लोकों के समानार्थक श्लोक 'हितोपदेश' और 'मनुस्मृति' में (मन्वृत्त में) मिलते हैं

(व)

सन्ने तसति दण्डस्म मच्च भायन्ति मच्चुनो ।

अज्ञान उपम क्त्वा न हनय्य न पातय ॥

—धम्मपद, १०३

१ 'जैन विज्ञाना बहुधा विज्ञातः ज्ञानाधर्मात्' अथर्ववेद, १२१ अ० १।

प्राणा यथात्मनाऽभीष्टा भूतानामपि ते तथा ।

आत्मोपम्येन भूतेषु दया कुर्वति साधव ॥

—हितोपदेश, १२

(स)

मुख्यामानि भूतानि यो दद्रेन विहंसति ।

अतना मुखमेसानो पेच्च सो न लभत मुख ॥

—धम्मपद, १०६

योऽहंसवानि भूतानि हिनस्त्यात्ममुखेच्छया ।

स जीवश्च मृतश्च न क्वचित्सुखमपत ॥

—मनु० ५. ४५

संस्कृत के धर्मग्रंथों और साहित्यिक रचनाओं का भारत की आधुनिक भाषाओं में अनुवाद बड़े पैमाने पर होता रहा है। हिंदी में वेदों के भी अनेक अनुवाद उपलब्ध हैं। पुराणों और काव्यों तथा नाटकों के अनुवाद भी बहुत बड़ी संख्या में मौजूद हैं और नये अनुवाद आज भी होते रहते हैं। परंतु इस अनुवाद-सामग्री का बाई ऐसा शृंखलाबद्ध और व्यवस्थित विद्वलपण हमारे सामने नहीं है, जिसके आधार पर वैज्ञानिक शैली में कुछ सिद्धांत निकाल जा सकें। इस दृष्टि से बाइबल के अनुवादों से प्रस्तुत सामग्री और समस्याएँ कुछ निष्कर्ष निकालने में हमारी सहायक हो सकती हैं।

आज ससार की सबसे अधिक भाषाओं में अनूदित पुस्तक यह यहुदी ईसाई धर्म ग्रंथ बाइबल ही है। इसका अनुवाद दूसरी-तीसरी सतादी ईसापूर्व से आज तक चल रहा है। उस समय पुरान अहदनामे (ओल्ड टेस्टामेंट) का मूल हिब्रू से ग्रीक भाषा में अनुवाद हुआ था। इस समय ११०६ भाषाओं और बोलियों में इसका अनुवाद मिलता है जिनमें से २१० में तो दोना अहदनामों का पूरा अनुवाद है, और २७० अन्य भाषाओं में नये अहदनामे या 'न्यू टेस्टामेंट' का पूरा अनुवाद मौजूद है। शेष भाषाओं में इस ग्रंथ के कुछ अंगों का अनुवाद किया गया है। इस प्रकार ससार की ६५ प्रतिशत आबादी की भाषाओं और बोलियों में इस ग्रंथ का अनुवाद मिलता है। परंतु ये अनुवाद मूलभाषा हिब्रू में बहुत कम हुए हैं। यूरॉप के विविध भाषा भाषी पादरी पथ प्रचारकों ने अपनी अपनी भाषा में प्राप्त अनुवादों से ही ये अनुवाद किए।^१

इतनी भाषाओं और बोलियों में बाइबल अनुवाद करते हुए जो अनेक समस्याएँ और सामग्री सामने आई, उनसे अनुवाद के कुछ मूल सिद्धांत बनाए गए हैं।

कुछ व्यावहारिक समस्याएँ बाइबल धर्मग्रंथ हैं। इसलिए इसके अनुवादकों इनके शब्दों को पवित्र मानकर उनका वाच्य पदार्थ अनूदित करने का प्रयत्न करते थे। अनुवादभाषा की प्रकृति और उसने वालनवाला की संस्कृति व भेद के कारण यह प्रयत्न कई बार बड़ी उलझनदायक स्थिति पैदा कर देता था। उदाहरण के लिए अंग्रेजी बाइबल के ही बीट हिज ब्रेस्ट (He beat his breast) (लूक १८: १३) कथन का मध्य अफीका

१. यूनान ५० निबल का लेख—Principles of Translation As Exemplified by Bible Translating ON TRANSLATION

की चौकड़े बोली में शब्दानुवाद करें, तो उसका अर्थ मूल से बिल्कुल उलटा हो जाएगा। मूल का अर्थ है 'उसने (पश्चात्ताप में) छाती पीट ली', पर चौकड़े बोली में 'छाती पीटना' उस अर्थ में आता है, जिसमें हम 'अपनी पीठ ठाकना' कहते हैं। पश्चात्ताप-व्यंग्य व्यवहार उस बोली में 'अपना मिर फाटना' कहलाता है। हिंदी में इसे हम 'अपना सिर घुटना' कहते हैं।

फिनिशोस की हिलिगेनन तथा कुछ अन्य बोलियों में 'टूली, टूली आई से टू यू' (Truly, truly, I say to you) का शब्दानुवाद करें तो टूली शब्द दोहराने के कारण इसका अर्थ 'सायद' होगा। सूदान की नील तटीय बोलियाँ में संस्कृत 'तेन ग्राम गत' की तरह वचनवाच्य ही प्रयोग होता है, 'वह भाव गया' जैसा वक्तवाच्य प्रयोग नहीं चलता।

इन सबसे विविध स्थिति आगे और 'पीछे' के कालसूचक प्रयोग में दिखाई देता है। बालीबिया की क्वेचुआ भाषा में भविष्य का 'अपने पीछे मानने' और भूतकाल को 'अपने आगे', क्योंकि भूतकाल देखा जा चुका है जबकि भविष्य का अभी दखना है। हिंदी में भी बहुत से लोग, शायद पंजाबी के प्रभाव से, 'पीछे' और 'आगे' का ऐसा प्रयोग करते हैं—'आगे तो आप पटना में थे' अर्थात् 'पूले' या 'अतीत काल में'। 'पिछे' में 'पीछे' भूतकाल होता है और 'आगे' भविष्य। साधारणतया यही स्थिति हिंदी में है। इस प्रकार

१ अनुभाव का भेद (छाती पीटना या सिर घुटना)

२ अपपद्धति (शब्द दोहराने का अर्थ)

३ व्याकरणिक रचना (वाच्यभेद)

४ भाषा का मुहावरा और बोलचाल (आगे, पीछे)

जसी समस्याएँ अनुवादका के सामने, विनोदत शब्दानुवाद का प्रयत्न करते हुए आती हैं। इन समस्याओं को सामने रखकर हम सम्प्रेषण या अर्थ सूचन की दृष्टि से कुछ सिद्धान्त निष्कास सकते हैं।

मूल सिद्धान्त

कुछ मूल सिद्धान्त यहाँ से सवते हैं

१ 'भाषा' वाच्य-अर्थ्य प्रतीक या चिह्न का व्यवस्थाबद्ध समुदाय है।

'वाच्य-अर्थ्य' कहने का अर्थ यह है कि केवल 'बोलना' भाषा नहीं, बोला हुई बात को धोता का अर्थ-महित ग्रहण करना भी उसका अनिवार्य हिस्सा है। भाषा का लिखित रूप 'बोली-सुनी' भाषा का ही अधूरा प्रतीकात्मक रूप है।

२ प्रतीक, अर्थात् चिह्न, और उनके अभिधेया का सम्बन्ध यादृच्छिक है, किसी तथ्य पर आधारित नहीं।

जो शब्द नामात्मक समझे जाते हैं, उनका रूप भी अलग अलग भाषाओं में भिन्न होते हैं। भारत का कौआ 'काव-काव' करता है, अंग्रेज़ा का 'था' का (crow), हमारा कूतर 'गुटर-गू' करता है, अंग्रेज़ा का 'कू-कू' (coo)। जिस हम 'घप घप' करते हैं उसे अंग्रेज़ 'ट्रम्प-ट्रम्प' (tramp), मध्य अफ्रीका के बतूभाषी 'कू-का' और पश्चिमी अफ्रीका के मलगासी भाषी 'मिंगोडा-मादोना' कहते हैं। इसका कारण है जातीय संस्कार का अन्तर।

३ किसी भाषा में प्रतीक या शब्द जिस सचेदन और अनुभूति के वाचक हैं उस सचेदन और शब्द का सम्बन्ध भी यादृच्छिक है।

उदाहरण के लिए, अधिकतर अफ्रीकी भाषाओं में रंग के वाचक शब्द केवल सफेद, काल और लाल का अर्थ रखते हैं, पर इनकी हों सहायता से वे अरुण के साता घोड़ा का सूचन कर सकन हैं। भविस्य की ताराकुमारा भाषा में रंग के वाचक मूल 'रा' पाच हैं, और 'नीला' तथा 'हरा' का वाचक एक ही शब्द है। संस्कृत में 'श्याम', 'नील', 'कृष्ण', 'हरित' का एकाधिक मान लिया जाता है, जबकि हिन्दी में सावला, नीला, काला, हरा का अलग अलग भेद न करनेवाला आदमी मिलना कठिन है।

इस प्रकार सम्बन्धी वाचक शब्दों शरीर व अवयवों या वक्ष-चनस्पतियों व वर्गीकरण आदि में प्रत्येक भाषा ने अपने-अपने अलग चलन अपना रखे हैं। इसी कारण मूल शब्द या पद के बदले अनुवाद भाषा का शब्द या पद रखकर अनुवाद नहीं किया जा सकता। भाभी और साली जेजेजी में सिस्टर इन सा कहलाती हैं पर यह शब्द इनका जन्मभेद नहीं बता सकता।

४ पदा या शब्दों से वाक्याय बताने की पद्धति हर भाषा की अपनी हाती है।

पदा या शब्दों के क्रम आश्रित शब्दों कारकादि की पद्धति की दृष्टि से एक भाषा दूसरी भाषा से बहुत भिन्न हो सकती है।

निष्पन्न यह हुआ कि अनुवाद भाषा में कहा गया कोई भी कथन मूल भाषा के मूल या प्रतिरूप व यथावत् तुल्य नहीं हो सकता। प्रत्येक अनुवाद करते हुए,

१ मूल की कुछ न कुछ वस्तु अर्थात् जानकारी, छीज जाती है, २ मूल की वस्तु में कुछ नई वस्तु आ जाती है ३ मूल की जानकारी या अर्थ कुछ विकृतिपत हो जाता है।

यह विरूपण अनुवाद की प्रक्रिया का अनिवार्य अंश है। अनुवाद की प्रक्रिया को स्पष्ट रूप में समझाने के लिए सम्प्रेषण या अन्वयग्रहण का जातीय भाषिकीय अभिकल्प यहाँ प्रस्तुत किया जाता है।

४ अनुवाद की प्रक्रिया

सम्प्रेषण का जातीय भाषिकीय अभिकल्प सम्प्रेषण के प्रथम का प्रथम रूप इस अभिकल्प में दिखाया गया है



वाहरी वग सामान्य परिवेग है जिसे सक्षेप में सा कहा जा सकता है। वक्ता व जो कथन व को शब्दों में बाधकर बोलता है। और श्रुता है जो उस कथन को

सुनकर उसका अर्थ समझता है। भीतरी वग कथन (क) बाहरी वग अर्थात् सांस्कृतिक परिवेश (सा) का ही एक हिस्सा है क्योंकि यह भाषा का एक अंश है। इसीलिए दोनों की आकृति वग बनाई गई है—एक छोटा है, एक बड़ा।

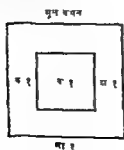
परन्तु सांस्कृतिक परिवेश पर विचार करते हुए काल-व्यवधान को भी ध्यान में रखना चाहिए। एक शब्द की जो सांस्कृतिक ध्वनि आज है, वही पहले सदा रही थी, यह नहीं मान लेना चाहिए। उदाहरण के लिए, आज भारतीय समाज की रुचि पशु हिंसा, विशेषतः गोहत्या, को अत्यधिक घणित समझती है। पर भवभूति के समय यह स्थिति आज से कुछ भिन्न रही होगी। तभी व 'सज्जप्यते वत्सवती' (महावीरचरित, अंक १) लिख सका। जो कार्य आज घणा का व्यञ्जक है, वह तब आदर का व्यञ्जक था।

इस प्रकार बक्ता और श्रोता को एक सांस्कृतिक परिवेश में रखकर शब्द का प्रयोग किया जाता है। पर साथ ही, प्रत्येक बक्ता और श्रोता का अपना पथक व्यक्तित्व भी होता है। यह व्यक्तित्व उनके अपने अपने जीवन संस्कारों के अनुसार अलग-अलग होता है। बक्ता के कथन को श्रोता अपने जीवन संस्कारों के अनुसार ही समझता या ग्रहण करता है। पूर्वी उत्तर प्रदेश में प्रचलित 'बलियाटिक' शब्द पश्चिमी उत्तर प्रदेश में व्यजनात्मा है। यही स्थिति पश्चिमी उत्तर प्रदेश में प्रचलित 'शिकारपुरी' या 'भागाव का' शब्दों की दृष्टि में होगी।

बक्ता तथा श्रोता अपने व्यक्तित्वों को भुलाकर एक-दूसरे के अनुकूल बनने का यत्न किया करते हैं। हमारे दमिणभाषी मित्र जब हमसे पूछते हैं 'आप कहाँ जा रहा हैं?' तब हम 'हू' के जेथ के स्थान पर 'हैं' का अर्थ समझते हैं। इस व-र-श प्रक्रिया में भाग लेनेवाला प्रत्येक व्यक्ति इस अनुकूलन का, जानते हुए करता है ताकि बक्ता और श्रोता के मना में निकटता आए। इस प्रकार यह व-र-श प्रक्रिया दोनरका प्रक्रिया है, चाहे बोलनेवाला पक्ष एक ही हो।

द्विती भी अनुवाद का पहला कार्य मूल की व-र-श प्रक्रिया का पुनर्निर्माण करना होता है। दूसरे गण्य में, अनुवादक का एग्जेजेसिस (Exegesis) करना चाहिए—मूल कथन का निवचन यतमान व स-द-भ में करना चाहिए, हमें-यूटिक्स (Hermeneutics) यानी मूल रचना का समकालीन सृष्टि के स-द-भ में नहीं।

अनुवाद का प्रतिरूप एक भाषा से दूसरी भाषा में अनुवाद प्रस्तुत करने की प्रक्रिया का प्रतिरूप यह होगा

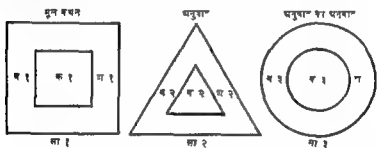


जहाँ सा_१ और सा_२ में बहुत अंतर होगा, वहाँ अनुवादक व_२ एक तरह से श_१ का सूचक होगा। उसे दोनों संस्कृतियाँ और भाषाओं के नाता का काम करना होगा।

इस प्रकार अनुवादक को सा_१ और सा_२ दोनों का एक सा अनुभव होना चाहिए, तभी वह ठीक ठीक श_१ हो सकता है और साथ ही ठीक व_२ बन सकता है। जो अनुवादक इनमें से किसी एक से भी कुछ दूर है उसका व_२, व_१ और ग_२ में बहुत अधिक अंतर कर देगा।

पर इससे भी बड़ौन समस्या तब होती है जब अनुवाद का अनुवाद करना पड़ता है।

अनुवाद का अनुवाद हिंदी में संसार की विविध भाषाओं का ज्ञान इन समय बहुत अंश तक अंग्रेजी के द्वारा आ रहा है। इस प्रकार अनूदित रचनाओं के लिए निम्न-लिखित प्रतिरूप होगा



मनोविश्लेषण शास्त्री सिगमंड फ्रायड की जर्मन रचना के अंग्रेजी अनुवाद 'A General Introduction to Psycho-Analysis' का हमारा किया हुआ हिन्दी अनुवाद 'मनोविश्लेषण' इसी प्रतिरूप के अन्तर्गत है। इसमें सा_१ और व_१ हिन्दी अनुवादक हैं। सा_२ अंग्रेजी का सांस्कृतिक परिवेश है, और सा_३ हिन्दी का। व_१ फ्रायड है और ग_२ हिन्दी पाठक। व_१ से व_२ पर पहुँचने में तीन संस्कृतियाँ और चार चक्र पार करने पड़ते हैं। इसलिए व_१ का रूप व_२ पर पहुँचकर बितना विरूपित हो जाना सम्भव है, यह सरलता से समझा जा सकता है। इसमें अनुवादक व_२ की समस्या और कठिनाई का भाँसा कुछ अनुमान हो जाएगा। अनुवाद की आलोचना करनेवाला का ये परिस्थितियाँ ध्यान में रखकर ही विचार करना चाहिए।

वस्तु के अनुवाद में पाँच स्थितियाँ मूल भाषा और अनुवाद भाषा के ध्वन्यात्मक भेदों के कारण वस्तु के भाषा-तरंग में नाचे लिखी पाँच स्थितियाँ में कठिनाई पदा हो जाती है

१ प्रकाशक—राजपात्र एड सन, दिल्ली अनुवादक—देवेन्द्र कुमार।

१ जहाँ मूलभाषा के शब्द में वह जानकारी नहीं होती, जो अनुवाद भाषा के शब्द में जानो आवश्यक है।

उदाहरण के लिए, हिन्दी के 'वह जाएगा' का सम्युक्त अनुवाद करनेवाले का सामन यह समस्या होगी कि 'जाएगा' का अनुवाद 'गता' करे, जो अनवगत भविष्य का सूचक है, या 'गमिष्यति' करे, जो आज के भविष्य का सूचक है। 'जाएगा' शब्द से यह कुछ भी पता नहीं चलता।

२ जहाँ अनुवाद भाषा में अवश्य सूचनीय जानकारी मूलभाषा में अस्पष्ट होती है।

संस्कृत में आदरायें बहुवचन आवश्यक नहीं, हिन्दी में आवश्यक है। सुग्रीव भी राम का एकवचन में पुकारता है, रावण भी। सुग्रीव के कथन में राम के साथ प्रयुक्त होनेवाले एकवचन के निया दाद का भी हिन्दी में बहुवचन में ही अनुवाद होना चाहिए। परन्तु रावण राम को अनादर-सूचक एकवचन में कह सकता है। संस्कृत शब्दप्रयोग मात्र में अनुवादकों को आदरायकता का ज्ञान नहीं हो पाता।

३ जहाँ अनुवाद भाषा में अवश्य-सूचनीय जानकारी मूलभाषा में सन्दिग्ध होती है।

वैभे अस्पष्टता में सन्दिग्धता आ ही जाती है पर वही-वही दो अर्थ बन सकने के कारण यह सन्देह रहता है कि दोनों में से कौन-सा अर्थ सही अभिप्रेत हो सकता है। उदाहरण के लिए, जब कोई वक्ता समा में यह कहता है कि 'हमारा मत यह है', तब यह पता नहीं चलता कि वह अपना अपने-के मत बता रहा है, या किसी समुदाय का। इसका बाद जब वह कहता है कि 'हमारा दंग महान् है', तब अपने दंगवासियों के सामने बोलते हुए तो इसका अर्थ है 'मरा और आपका दंग', पर अ य दंगवासियों के सामने बोलते हुए इसका अर्थ है 'मरा दंग'। अनुवादकों की ठीक-मदम का पता न हो तो उसके लिए ऊपर के प्रयोगों में, 'हमारा' शब्द का अर्थ सन्दिग्ध ही बना रहेगा। इसी प्रकार, अंग्रेजी के कश्मि, अवल आदि शब्दों का हिन्दी अनुवाद करने में कठिनाई पैदा होती है।

४ जहाँ अनुवाद भाषा में अभिधा में कहने योग्य बात मूलभाषा में केवल वस्तु-व्यञ्जना से पता चलती है।

जो बात मूलभाषा में वस्तुव्यञ्जना से कही गई है उस अनुवाद भाषा में वाच्य बना देने में व्यवहारतः कोई अधिक जानकारी नहीं मिल जाती। केवल कहने की सरणि में भेद हो जाता है। सुग्रीव के लिए राम की यह उक्ति 'न म मनुचित पया येन वाली ह्य गत हिन्दी अनुवाद में कुछ इस प्रकार रखी जा सकती है 'जहाँ वाली गया वही तुम्हें भेज दिया जाएगा। पर हिन्दी में यह वाच्य बचन राम के गौरव में अनुरूप नहीं लगता।

५ जहाँ मूल भाषा में वाच्य अर्थ को अनुवाद भाषा में किसी भिन्न रूप में रखना पड़ता है।

यह अवस्था तब कठिनाई पैदा करती है जब मूलभाषा का वाच्य अर्थ अनुवाद भाषा में ठीक-बम-वाच्य रूप में रखने पर सगन नहीं लगता।

जब संस्कृत में दाम्या पुत्र, गद्वास्तु, यदि निगद्यञ्ज प्रयोगों का यह

अनुवाद नहीं किया जा सकता जा 'दासीपुत्र', 'खटवामारुढ' आदि का किया जाएगा। 'दास्या पुत्र' गाली है, दासी-पुत्र 'तथ्य' है। 'दास्या पुत्र' को हिन्दी में हरामजात कहना अधिक उपयुक्त हो सकता है।

सारा यह हुआ कि अनुवाद का अर्थ है एक भाषा में कहे गए अर्थ को दूसरी भाषा में कहना। 'अर्थ' का अर्थ है वाक्यार्थ, जो वस्तु, अलंकार भाव और रसरूप होता है। प्रत्येक भाषा की अपनी एक पथक् सांस्कृतिक परम्परा, और व्याकरण पद्धति होती है। अनुवादक का कार्य एक सांस्कृतिक परम्परा और व्याकरणिक पद्धति का दूसरी सांस्कृतिक परम्परा और व्याकरणिक पद्धति में बदलना है। जिन भाषाओं की सांस्कृतिक परम्पराएँ और व्याकरणिक पद्धतियाँ जितनी अधिक मिलती जुलती हैं, उनसे एक दूसरी में अनुवाद उतना ही ठीक और यथाय हो सकता है। दो भाषाओं की सांस्कृतिक परम्पराओं और व्याकरणिक पद्धतियों में जितना अधिक अंतर होगा, अनुवाद में उतनी ही कठिनाई आएगी।

साहित्यिक अनुवाद की प्रक्रिया में वस्तु प्रधान रचना के अनुवाद की प्रक्रिया से कुछ अधिक विद्येपताएँ होती हैं। इस प्रकार के अनुवाद की प्रक्रिया का इस भूमिका के खंड ३, ४ और ५ में विवेचन किया गया है।

संस्कृत और हिन्दी का सम्बन्ध

जातीय भाषिकीय अभिव्यक्ति की दृष्टि से हमें मूलभाषा, संस्कृत, और अनुवाद-भाषा हिन्दी का पारम्परिक सम्बन्ध देखना चाहिए। यह सम्बन्ध तीन दृष्टियों से विचारणीय है

- (१) मूलभाषा की प्रकृति, अर्थात् गठन, व्याकरण, और शब्दसमूह का अनुवाद-भाषा की प्रकृति से सम्बन्ध।
- (२) मूलभाषा भाषी समाज का अनुवाद भाषा भाषी समाज से सम्बन्ध।
- (३) मूलभाषा की साहित्यिक परम्परा का अनुवादभाषा की साहित्यिक परम्परा से सम्बन्ध।

१ गठन, व्याकरण और शब्दसमूह

वर्द्धित भाषा और उससे बाद विकसित संस्कृत या पाणिनीय संस्कृत आज से कम से कम ६००० वर्ष पूर्व जन्म से चुकी थी। यह भाषा ही साहित्यिक और लौकिक धाराओं में बहती हुई आज तक भारतवर्ष में विद्यमान है। इसका लौकिक रूप आज हिन्दी बन गया है पर साहित्यिक रूप युगा के सागर पर चलता हुआ बहुत कुछ अपने पुराने स्वरूप में ही विद्यमान है। इस तथ्य से कि वर्तमान हिन्दी का विकास प्राचीन बोलचाल की संस्कृत भाषा से हुआ है, इन दोनों के घनिष्ठ सम्बन्ध का पता चलता है। संस्कृत हिन्दी की पूज्य है, और हिन्दी संस्कृत की गोत्रज।

परन्तु दोनों भाषाओं के बीच काल का व्यवधान बहुत सम्बन्ध हो चुका है। संस्कृत का काल ५०० ईसापूर्व तक माना जाता है। उससे बाद अगले ५०० वर्ष में भाषा ने प्रथम प्राकृत या पाणि का रूप ग्रहण लिया, जो अगले ५०० वर्ष में और अधिक बदलकर द्वितीय प्राकृत के रूप में आ गया। ईस्वी ५०० से १००० तक भाषा में जो परिवर्तन होने लगे, उन्होंने उसे अपभ्रंश का नाम दिलाया। ई० १००० के बाद से आधुनिक हिन्दी का रूप-विकास होना लगा।

इस प्रकार विभाग की यह चार अवस्थाएँ हिन्दी में पढ़ने पढ़ाने योग्य हैं जिनमें प्रथम प्राकृत या पाणि की छोटकर दोष तीन, अर्थात् पाणिनीय संस्कृत, द्वितीय प्राकृत और अपभ्रंश का सम्बन्ध नाटकीय में प्रयोग हुआ है। कर्पूरमञ्जरी जमी बोर्ड-बोर्ड रचना को पुनर्स्थापित करने में है। इन तीन कालों की भाषा में लिखे नाटकों का चौथे काल की भाषा

अर्थात् आधुनिक हिन्दी, में अनुवाद किया गया है। यहाँ यह भी ध्यान रखना चाहिए कि प्राकृत और अपभ्रंश य दोना शब्द अनेक वर्गीय तथा स्थानीय बोलियाँ को समाविष्ट किए हुए हैं। मृच्छकटिकम् में ऐसी आठ बोलियाँ का प्रयोग किया गया है।

फिर भी, हिन्दी अनुवादक प्राकृत और अपभ्रंश से कहाँ तक परिचित थे, यह कहना कठिन है। अनुवादा का पढ़ने से उनकी प्राकृत और अपभ्रंश की जानकारी का कोई चिह्न नहीं मिलता। हमारी धारणा यह है कि उन्होंने अनुवाद करते हुए केवल संस्कृत पाठ का और प्राकृत तथा अपभ्रंश की संस्कृतछाया का समझने का यत्न किया है प्राकृत और अपभ्रंश का नहीं। इसलिए हम केवल पाणिनीय संस्कृत की प्रवृत्ति पर विचार करके, उसकी तुलना हिन्दी भाषा की प्रवृत्ति से करेंगे।

गठन और व्याकरण—संस्कृत भाषा में अथर्वत्व का दानव गण प्रवृत्ति कह जाता है, और सम्बन्धत्व का द्योतक शब्द 'प्रत्यय' कहलाता है। किसी अर्थ की प्रतीति तब होती है जब प्रवृत्ति के साथ प्रत्यय जुड़ा हो। प्रत्ययों के चार प्रकार हैं—कारक प्रत्यय (सुप या विभक्ति), क्रिया प्रत्यय (तिङ या विभक्ति), वृद्धत प्रत्यय (क्रिया से बने शब्दों में प्रयुक्त प्रत्यय) और तद्धित प्रत्यय (सत्ताज्ञा आदि नाम गण से बने शब्दों में प्रयुक्त प्रत्यय), पर पद का पदत्व सुप और तिङ से ही होता है।

नाम शब्द में सत्ता विक्षेपण और सबनाम आते हैं। इनके तीन गिण होते हैं—पुल्लिङ्ग स्त्रीलिङ्ग और नपुंसक गिण। पर यह लिंग विधान प्रत्यक्ष जीवन के तथ्यों के आधार पर नहीं होता—याकरणिक या चलन के आधार पर ही होता है। स्त्री का वाचक कलत्र गण नपुंसकलिङ्ग में प्रयुक्त होता है, जबकि नपुंसक आत्मी का वाचक पठ शब्द पुल्लिङ्ग में। 'नाम शब्दों के तीन वचन और आठ विभक्तियाँ होती हैं। इस प्रकार एक नाम शब्द के चौबीस रूप बन जाते हैं। न च, आदि अव्यय गण सदा एक ही रूप में रहते हैं।

संस्कृत में क्रिया के दस सकार या वक्तियाँ होती हैं जिनमें तीन काल (भूत, भविष्यत्, वर्तमान) और चार विधियाँ (आज्ञा विधि आशी कथन, और हतुहेतुमदभाव) द्योतित की जाती हैं। एक विशेष बात यह है कि आज के भविष्य का अथ भविष्य से और आज के भूत का अथ भूत से अंतर लकार भेद से किया जाता है। लट लकार का प्रयोग सामान्यतया भविष्य के लिए किया जाता है पर लुट लकार का प्रयोग आज के भविष्य के लिए नहीं किया जाता। इसी प्रकार अनद्यतन भूत में लङ सामान्यभूत में लुङ और परोक्षभूत में लिट का प्रयोग होता था।

क्रियाएँ सक्रमक (द्विक्रमक भी) और अक्रमक होती हैं और उनके क्त वाच्य, क्तवाच्य, भाववाच्य और प्रेरणावाच्य (जिज्ञत्) प्रयोग होते हैं। क्तवाच्य और भाववाच्य रूप सत्ता 'आत्मनेपद' होते हैं। कुछ धातुएँ क्त वाच्य रूप में भी आत्मनेपदी हैं, और कुछ परस्मपदी। 'आत्मनेपदी' का अर्थ है वह क्रिया जिसका फल वर्त्ता को मिले, और 'परस्मपदी' वह क्रिया है जिसका फल वर्त्ता से भिन्न व्यक्ति को मिले। परन्तु इन अर्थों का यह मतलब नहीं कि सब आत्मनेपदी या परस्मपदी क्रियाएँ इन अर्थों के अनुसार ही आत्मनेपदी या परस्मपदी बनती हैं।

संस्कृत में छह समास पाए जाते हैं—तत्पुरुष बहुव्रीहि कर्मधारय द्विगु द्वन्द्व और

लियने-धोलने से ऐसा समझा है जैसे यहाँ समास है ही नहीं। इस अरूप द्वंद्व समास कहना उचित होगा। संस्कृत में 'रामलक्ष्मणभरता' रूप होने के कारण द्वंद्व समास की सत्ता सरलता में पता चल जाती है। यही बात अन्य समासों के बारे में भी समझनी चाहिए। "सब छात्र कृषि विद्यालय में एकत्र थे, इस वाक्य में 'कृषि विद्यालय' में पद में अरूप तत्पुरुष समान है। "सरोवर ताल कमला में सुशोभित था इस वाक्य में 'ताल कमला' में पद में अरूप वमधारय समास है।

कारक पद्धति में भी संस्कृत और हिन्दी में कुछ अंतर दिखाई देता है। सत्ता का क्रिया से जो सम्बन्ध होता है, उसमें कारक कहते हैं। कारक छह मान जाते हैं—वता, वम, करण, सम्प्रदान, अपादान और अधिकरण। पर आचार्य भन हरि ने वाक्यपदीय में 'शेष' का भी कारक माना है और यह बताया है कि इस कारक में क्रिया अभ्युत होती है।

सम्प्रदाय कारकस्याऽयं क्रियाकारकपूर्वकः ।

धुतायाभधुताया वा क्रियाया साभिधीयते ।^१

—कॉट इ. शापाधिकार शरिका ?

इसका अर्थ है कि कर्ता, वम आदि अन्य छह कारकों से भिन्न जो सम्बन्ध है, वह शेष कहलाता है। शेष कारक इसलिए है कि वह पहले हुई क्रिया में सम्बन्ध बताता है। राजा पुरुष यहाँ राजा और पुरुष का स्वस्वामिभाव सम्बन्ध है। राजा पुरुष का देता है, इस क्रिया से राजा प्रभावित है। इस प्रकार पहले जो कारकत्व है वह बाद में भी बना रहता है। राजा पुरुष को देता है तभी तो राजा पुरुष का स्वस्वामिभाव सम्बन्ध बना रहता है। पहले राजा में कत कारक और पुरुष में सम्प्रदान कारक था। शेष सब व होने पर कर्ता आदि कारक विनोपा का ज्ञान नहीं होता बस शेषभूत सामान्य कारकत्व का ज्ञान होता है। अभिप्राय यह हुआ कि कारक विनोप का विवक्षा न होने पर शेष होता है। ऐसे स्थानों पर क्रिया अभ्युत होती है। जहाँ यहाँ 'दान' क्रिया सुनाई नहीं देती।

हिन्दी में अभ्युत क्रिया वाले शेष कारक के चिह्न का 'के', 'की' है।

वर्तमान हिन्दी में अन्य कारकों के प्रयोगों में भी क्रिया अभ्युत रहने का उदाहरण मिलते हैं। 'वाणिज्य में भारतीय राजदूत श्री ब्रजकुमार नेहरू ने यूनाइटेड किंगडम का दौरा किया,' या 'विदेश मंत्रालय में मंत्री श्रीमती लक्ष्मी मनन ने भारत की विदेश नीति के लक्ष्यों पर भाषण दिया'—जैसे वाक्यों में, जो अंग्रेजी भाषा के प्रभाव से चल पड़े हैं अधिकरण कारक की क्रिया अभ्युत है। अपादान कारक में क्रिया अभ्युत होने का उदाहरण ऐसे वाक्यों में मिलते हैं "दिल्ली से मद्रास तक कितनी ही स्टेप्शन पड़ा है।

हिन्दी सत्ताओं में लिंग और वचन केवल दो ही होते हैं। विनोपणों में बहुधा किसी लिंग या वचन का संकेत नहीं होता। पर संस्कृत से लिंग गण विशेषणों में बहुत बार लिंग संकेत प्रयुक्त होता है। यह लिंग संकेत हिन्दी विनोप्य के लिंग के अनुसार चलता है।

क्रियाओं के प्रयोगों की हिन्दी में बहुत अधिक विविधता है। इनमें बालमेष की

^१ वाक्यपदीयम्, विशदम् संस्कृत मीमांसा सम्पादन के० सावशिव शास्त्री ।

दृष्टि से तो भूत, भविष्यत और वर्तमान का ही संवेत होता है। पर वर्तमानकाल का दीखनेवाला प्रयोग भविष्य का—प्रायः निकट भविष्य का—और निकट भूत का भी सूचक हो सकता है। हिन्दी क्रिया की एक और विशेषता है सहायक क्रिया का अत्यधिक प्रयोग। रहा, चुका, पड़ा, लिया आदि कितनी ही सहायक क्रियाएँ प्रयोग में आती हैं जो मुख्य क्रिया के अर्थ का कोई विशेष रस द देती हैं। इसी प्रकार हाना करना और देना क्रियाएँ अनेक सत्ता विशेषण या क्रियाविशेषण शब्दों के साथ मिलकर पूर्ण क्रिया का अर्थ देती हैं। कपड़े ठीक कर ला—यहाँ ठीक करना क्रिया बन गई है।

शब्द-समूह

हिन्दी शब्द समूह का हम चार भागों में बांट सकते हैं—तत्सम या संस्कृत, तद्भव, देशज और विदेशी। संस्कृत के अधिकतर नाम शब्द हिन्दी में हिन्दी व्याकरण से अनुशासित हानर खप पड़े हैं। बहुत बार वे हिन्दी ध्वनियाँ में ढल गए हैं और 'तद्भव' कह जाते हैं। 'देशज' शब्द वे हैं जिनका मूलन तो संस्कृत शब्द-समूह में है और न विदेशी शब्द-समूह में। पिछले १००० वर्षों में भारत का विदेशियों से जो सम्पर्क हुआ, उसका कारण विदेशी—तुर्की, अरबी फारसी, पुर्तगाली अंग्रेजी आदि—भाषाओं का शब्दों की बहुत बड़ी संख्या हिन्दी शब्द समूह में शामिल हो चुकी है। इनमें से बहुत से विदेशी शब्द बीता-चला में इतने अधिक प्रचलित हैं कि उनके स्थान पर संस्कृत तत्सम शब्दों का प्रयोग हास्यास्पद लगता है। हिन्दी शब्द समूह की यह विशेषता उसे संस्कृत शब्द-समूह से कुछ दूर कर देती है।

सारांश रूप में यह कहा जा सकता है कि हिन्दी भाषा संस्कृत की गोत्रज हाना हुई भी नहीं, व्याकरण और शब्द समूह की दृष्टि से संस्कृत से बहुत दूर और भिन्न हो गई है। योड़े से शब्द-समूह को छोड़कर संस्कृत की ओर विशेषताओं को हिन्दी अनुवाद में आने देना हिन्दी की प्रवृत्ति के विरुद्ध होगा और पाठकों का खटकेगा। हिन्दी के स्वरप्रयोग या मुहावरों के बारे में यह बात विशेष रूप से उल्लेखनीय है। संस्कृत का मुहावरा, और बहुत बार कहावत भी, हिन्दी में शब्दों अनुवाद कर देने पर निरर्थक और रंगमग्न करने वाले होते हैं। कारण है संस्कृत और हिन्दी की प्रकृतियों का भेद।

२ संस्कृतभाषी समाज और हिन्दीभाषी समाज

यदि तो संस्कृत के नाटक विभिन्न समयों में लिखे गए हैं। पर, संस्कृत कविता की रुढ़िप्रियता के कारण संस्कृत भाषा कवि और ब्राह्मणकालीन जिन आत्माओं और परम्पराओं की चाहत थी, वही उत्तम वाद के काल में भी अभिव्यक्त की जाती रहा। दूसरी ओर, संस्कृत की उम्र परम्परा के बावजूद हिन्दी समाज, प्राच्य-कालीन, तथा अग्रणी कालीन और उसके बाद के आत्माओं और विचारों से प्रभावित हुआ है। और यह कहना अतिशयोक्तिपूर्ण न होगा कि यदि संस्कृतवादी का कोई मनुष्य आज किसी तरह भाषा के नाम से तो यह आपुनिक भारत के निवासी का धायद आसानी से अपना गोत्रज भाई मान लें।

फिर भी, एक बात स्पष्ट है। सस्कृतनाम जो सस्कृतभाषाभाषी जनसमुदाय था, उसीके गोत्रज आज हिंदीभाषाभाषी समुदाय के अधिकतर लोग हैं। वे उन्हीं वैदिक भाषा का पाठ करते हैं, चाहे उच्चारण कुछ भिन्न हो गया हो, उन्हीं दार्शनिक आश्यों में आस्था रखते हैं, उसी प्रकार उपासना कर रहे हैं, उसी परिवार पद्धति में रहते हैं और अधिकतर धर्म में सेनी आदि की भी वही पद्धति अपनाए हुए हैं। दोनों के जीवन में भेद ही नहीं है भी परम्परा का एक अविच्छिन्न सूत्र दोनों को एकत्र बांधे हुए है।

परम्परा की इस अविच्छिन्नता का परिणामस्वरूप हिंदी भाषी समाज सस्कृत भाषी समाज की शतावली और उससे अभिन्न अथवा अविच्छिन्न आसानी और गहराई में समझ सकता है। समाज के ढाँचे में बहुत कम परिवर्तन होने के कारण राम के ज्येष्ठ भ्राता होने का अर्थ, परिवार के हित के लिए राम के अप्रिय त्याग, सीता की अभ्युत्पत्ति निष्ठा, भरत की अनुपम सहानुभूति, और लक्ष्मण का पूज्यभाव का महत्त्व जसा आज के हिंदीभाषी (या अन्य भारतीय) को हृदयगत हो सकता है वसा भारतीय सामाजिक परम्परा से परिचित किसी विदेशी को नहीं हो सकता। तू, तुम, और अपना अंतर केवल याकरण की सहायता से पल्ल नहीं पड़ सकता।

वातावरण की समानता भी दोनों समाजों में समानता पैदा करनेवाली है। उसी घरना उन्हीं नदियाँ और पर्वतों मदाओं और वनों का परिवेश इन दोनों समाजों के सस्कारों और मनाभूमि का सादृश्य पैदा करता है। याम्योक्ति ने राम को धर्म के हिमवानों के कहकर जानना चाहा है वह इस कारण हमारे लिए सुगोचर है कि हम भी हिमवानों के धर्म से परिचित हैं। सस्कृत के सारे माहित्य का दृश्यविधान एकचित्रण प्रतियोगिता हमारे लिए वसा ही सजीव है, जैसा वह उन लेखकों का पत्रकारी पाठकों के लिए होगा।

इस प्रकार सामाजिक परम्परा परिवेश और आदर्श की समानता के कारण, तथा प्राचीन परम्परा में बाद की पीढ़ी मान होने के कारण सस्कृत रचना का हिंदी भाषांतर अधिक सुगम और सुकर है। इस बात का महत्त्व तब अधिक अच्छी तरह समझा जा सकता है जब हम अंग्रेजी से हिंदी अनुवाद की सम्भावनाओं पर विचार करें। जंग्रेजी भाषा और हिंदी भाषा में परस्पर कोई निश्चित सम्बंध न होने से जो भाषा सम्बंधी कठिनाई होती है उसे छोड़ दें तो भी अंग्रेजीभाषी समाज और हिंदीभाषी समाज की सांस्कृतिक भिन्नता के कारण अंग्रेजी सामाजिक जीवन को लेकर लिखी गई रचना का हिंदीभाषांतर उतना सुगम और सफल नहीं हो सकता।

३ साहित्यिक परम्परा

साहित्यिक परम्परा की दृष्टि से सस्कृत और हिंदी में बड़ी घनिष्ठता है। काव्य का घेष्ठता का आदर्श, उपमान छंद विधान आदि की दृष्टि से हिंदी पर सस्कृत का बड़ा भारी प्रभाव है। काव्यशास्त्रीय विवेचन तो प्रायः सारा सस्कृत परम्परा को आधार बना कर ही चलता है। आज भी कवि लोग रामायण और महाभारत का उनके प्राचीन आदर्शों का, घटनाओं और दृश्यों का गणित और अनुकरण करते हैं।

दाना भाषाओं के साहित्य में विषयवस्तु, काव्यरूप, शब्दविधान, और जनकार की दृष्टि से घनिष्ठ सम्बन्ध बना रहा है। आधुनिक युग में सूत्रपात से पहले का हिन्दी साहित्य जिन वीरगाथाओं, भक्ति और भुवनक गृहार की वचनावली में भरा पड़ा है, वे तीनों संस्कृत साहित्य में, आरंभ के प्राकृत-अपभ्रंश साहित्य में, प्रचुर मात्रा में उपलब्ध थे। इसी प्रकार की गिनति महाकाव्य मुक्तक आदि काव्यरूपों के बारे में थी। हिन्दी साहित्य में प्राकृत और अपभ्रंश से जो छंद लिए गए नये आविष्टित किए, उनमें अनिश्चित संस्कृत छंदों का भी प्रचुर प्रयोग हिन्दी साहित्य में होता रहा और वह परम्परा आज भी कुछ अंश में जारी है। अलंकार मध्यकालीन कवियों का सा प्रिय था ही। आज का हिन्दी कवि भी वस अलंकार साहित्य की ही सृष्टि कर रहा है। यद्यपि बहुत बार वह यह जानता नहीं कि उसमें बेमेल अलंकार रचना की है जिसमें भाव गौण और अप्रधान है।

परन्तु इसकी समानता के साथ यह न भूलना चाहिए कि हिन्दी के साहित्य का अपना पृथक् व्यक्तित्व भी है, जो संस्कृत साहित्य में स्वतंत्र रूप से विकसित हुआ है। हर साहित्य किसी युग विषय के सामाजिक जीवन का निरूपण करता है। हिन्दी साहित्य पिछले सात आठ सौ वर्षों के हिन्दीभाषी प्रजा के जीवन का प्रतिबिम्ब है। उसमें विषयवस्तु की दृष्टि से प्रेमाख्यात्मक कवियों की रचनाएँ हैं और जनमानसों के जीवन प्रधान उपमास आदि हैं, काव्यरूप की दृष्टि से उद्ग, वगैरह इतिहास के प्रभाव में जाई मौलिक और अनुगुण रचनाएँ हैं। छन्दों की दृष्टि से मुक्त छन्द और जनक दत्त विष्णु लय ताना में सभी इतिया हैं। गद्य-समूह में तुर्की, पुतगासी अंग्रेजी आदि के जनक गद्य आ गए हैं।

अभिप्राय यह है कि यद्यपि संस्कृत साहित्य की परम्परा का हिन्दी साहित्य पर बड़ा गहरा प्रभाव है पर वह इसपर पड़ अनक प्रभावों में से केवल एक प्रभाव है। हिन्दी साहित्य जनक से प्रमुख प्रभावों से भी प्रभावित हुआ है और इस प्रकार वह संस्कृत साहित्य की छाया में होकर एक स्वतंत्र और बलवान साहित्य है जो अपने युग के सामाजिक जीवन की गहरी प्रतिबिम्ब है।

निष्कर्ष

हमने देखा कि भाषा समाज और साहित्य-परम्परा दोनों की दृष्टि से संस्कृत साहित्य और हिन्दी साहित्य में बड़ा निकटवर्ती सम्बन्ध है, जिसके कारण संस्कृत साहित्य की इतियों का हिन्दी भाषांतर जहाँ भाषाओं के साहित्य के भाषांतर के अपेक्षा अधिक गहरे और आनंदकारक बन सकता है, और अधिक आत्माय प्रतीत हो सकता है।

काव्य का अनुवाद

साहित्यिक अनुवाद की प्रक्रिया

साहित्यिक अनुवाद की प्रक्रिया जोर मौलिक काव्य रचना की प्रक्रिया मूलतः एक ही। अंतर इतना है कि अनुवादक को काव्य सामग्री का चयन नहीं करना होता। काव्य रचना की प्रक्रिया नाट्यशास्त्रकार महर्षि भरत के शास्त्रों में यह है

यथा बीजाद भवेत् पक्षो वसन्तपुष्प फल यथा ।
तथा मूल रसा सर्वे तेभ्यो भावा व्यवस्थिता ॥^१

जैसे बीज से वृक्ष होता है वस्तु स पुष्प और फल होते हैं, वैसे ही सब रस मूल हैं, उनमें भावा की स्थिति होती है। इस बारिका की व्याख्या करते हुए आचार्य अभिनवगुप्त ने 'अभावमारती म

बहा है

बीज यथा जलमूलत्वन स्थित तथा रसा । त-मूलादि हि प्रीतिपूर्विका युत्पत्ति न्ति त एव च व्याख्यानाह । कविगानाधारणीभूतसर्वमूलश्च काव्य पुरस्कारो नट-या पार । मय च मवि परमायतो रस । सामाजिकस्य च तत्प्रतीत्या वशीकृतस्य पदवाद पोद्दारयुद्ध्या विभावादिप्रतीतिरिति प्रयोजन नाट्य काव्ये सामाजिकधियि च । तदे मून बीजस्थानीय कविगतो रस । कविहि सामाजिकतुल्य एव । अत एवोक्त 'शृङ्गा च कवि (ध्वन्यानां ३-४२) इत्याद्यान-दवचनाचार्येण । ततो वक्षस्थानीय काव्यम । तत्र पुष्पास्थानीयोऽभिनवात् नट-यापार । तत्र फलस्थानीय सामाजिकरसात्वाद । तत्र रसमयमव निश्चयम् ।

अथान जो स्थिति वक्ष के मून बीज की है वही रसा की है। उन मूलरूप रसा म प्रीति होन पर ही काव्य का जन्मम किया जाता है और उनकी ही व्याख्या करना उचित है। जो का-यानुमारी नट-यापार का मूल कविगत साधारणीभूत सविन् ही है। यह मन्त्रि हो परमायत रस है। उसका प्रतीति म वशीभूत सामाजिक का वाद म वस्तुआ की पृथक्ता व नान म विभाव आदि की प्रतीति हाती है—नाट्य, काव्य और सामाजिक के नान म यह प्रयोजन है। तो इस प्रकार मूल है प्रीतिस्थानीय कविगत रस । कारण यह कि कवि सामाजिक व तुल्य ही है। इसीलिए आनन्दवचनाचार्य ने कहा है 'शृङ्गारी

चत्वि"। फिर, काव्य वक्ष्यानीय है। उसमें अभिनय आदि नट-यात्रा पुण्यस्थानीय है। उसमें सामाजिक का समास्वाद पक्षस्थानीय है। इसलिए संसार समय ही है।

अभिप्राय यह कि कवि संसार की किसी घटना को माध्यामीभूत रूप में देखकर रस अनुभव करता है, फिर उससे विभाषादि देखा है वह गद्य में प्रस्तुत करता है—इहं ही नट सामाजिक का सामने प्रस्तुत करते हैं।

यही प्रकिया जयकर प्रसाद ने इस रूप में रखी है

"कान्य आत्मा की सत्त्वात्मक अनुभूति है जिसका सम्बन्ध विश्लेषण विवर्ण या विधान में नहीं है। वह एक व्ययमयी प्रेय रचनात्मक गानधारा है। सत्त्वात्मक मूल अनुभूति कहने से मरा जो तात्पर्य है, उन भी समझ लेना होगा। आत्मा की मननशक्ति की वह असाधारण अवस्था जो श्रेय सत्य का उसका मूल चारित्र्य में सहसा ग्रहण कर लेती है, काव्य में सत्त्वात्मक मूल अनुभूति बही जा सकती है।"

यही भी कवि के मन की वह असाधारण अवस्था पहले श्रेय सत्य का उसका मूल चारित्र्य में सहसा ग्रहण करके उस सत्त्वात्मक रूप में अनुभव करती है। यही अनुभव वाचान्तर में प्रकट होता है और सामाजिक में वही अनुभव पदा करता है।

अनुवादक पहले सामाजिक के रूप में होता है। वह काव्यरस का आस्वादन करता है और उससे वाच्य काव्याय का दूसरी भाषा में इस प्रकार प्रस्तुत करता है कि परिवर्तित वाक्यावलि भी वही रस व्यक्त कर मने जो मूल भाषा की वाक्यावलि में व्यक्त होता था। इस लिए मूल के वाच्य अर्थ के साथ-साथ व्यक्त अर्थ को भी पूणतया अभिव्यक्त करनेवाली परिवर्तित वाक्यावलि हानी चाहिए। स्पष्टतः ऐसा तभी सम्भव है जब अनुवादक मूलभाषा और अनुवादभाषा दोनों में इतना पारंगत हो कि उनका गद्य के वाच्य और व्यक्त अर्थों का पूरा तरह समझता हो। उसमें इतनी भावुकता भी हानी चाहिए कि वह मूल लेखक के दृष्टान्त भाव और रस वस्तु और अलंकार ताल और लय का अपने मन में ग्रहण कर ले। दाना भाषाओं की सम्यक्ता का साथ ही, उसमें वह रचनाशक्ति भी हानी चाहिए जिससे वह अनुवादभाषा में मूलभाषा की रचना का प्रभाव पदा कर सके।

काव्य का स्वरूप

जिसे वाक्य का अर्थ वस्तुमान है जयान् जिसे वाक्य से आत्मा पर बचन गान रूप प्रभाव पड़ता है वह वाक्य या प्रकथ गान्य कहिये जाता है। पर जिसे वाक्य का प्रकथ का अर्थ मात्र रस पड़ता है, उसे काव्य कहा जाता है। इसी बात का इस प्रकार भी कह सकते हैं कि सहृदयों के लिए आह्लासजनक अर्थ वाले वाक्य को काव्य कहा है।

काव्य का वर्णनवालीन रूप आध्यात्मिक माध्यामीरस उत्पन्न आह्लास का अभिव्यक्ति के लिए प्रयुक्त होता था। वेगों को परमात्मा का अजर अमर काव्य कहा गया है — दण्ड ५५ काव्य में मधारन जीवति (अध्यात्म १०८ २२)। काव्य एक विद्या

काव्य का अनुवाद

साहित्यिक अनुवाद की प्रक्रिया

साहित्यिक अनुवाद की प्रक्रिया और मौलिक काव्य रचना की प्रक्रिया मूलतः एक है। अंतर इतना है कि अनुवादक को काव्य सामग्री का चयन नहीं करना होता।

काव्य रचना की प्रक्रिया नाट्यशास्त्रकार महर्षि भरत के शब्दों में यह है

यथा बीजाद भवेद वक्षो वक्षस्तुष्य फल यथा।

तथा मूल रसा सर्वे तेभ्यो भावा ध्यवस्थिता ॥^१

जैसे बीज से वक्ष होता है वक्ष से पुष्प और फल होते हैं, वैसे ही सब रस मूल हैं, उनसे भावा की स्थिति होती है।

इस कारिका की व्याख्या करते हुए आचार्य अभिनवगुप्त ने 'अभावभारती' में कहा है

बीज यथा जलमूलत्वेन स्थित तथा रसाः । तन्मूलादि हि प्रीतिपूर्विका व्युत्पत्तिरिति त एव च व्याख्यानाहर्हा । कविगनसाधारणीभूतमविमूलश्च काव्यपुरस्कारो नटव्यापारः । मय च सविस्तरमावृतो रसः । सामाजिकस्य च तत्प्रतीत्या वशीकृतस्य पदबाधपोद्धारपुण्या विभावोदप्रतीतिरिति प्रयोजनं नाट्यकाव्ये सामाजिकविधिषु । तद्वन्मूलबीजम्यानीय कविगतो रसः । कविर्हि सामाजिकतुल्य एव । अत एवोक्तं शृङ्गारी चैकवि (ध्वन्यालोका ३-४२) 'त्याद्यानन्वचनाचार्येण । ततो वक्षस्थानीय काव्यम् । तत्र पुनर्वाप्तिस्थानीयाऽभिनवाप्तिनन्वापारः । तत्र फलम्यानीय सामाजिकरसास्वादः । तत्र रसमयमेव निश्चयम् ।

अर्थात् 'जो स्थिति वक्ष के मूल बीज की है, वही रसा की है। उन मूलरूप रसा में प्रीति होने पर हा काव्य का अम्याम किया जाता है और उनकी ही व्याख्या करना उचित है। जो काव्यानुगारी नन्वापार का मूल कविगत साधारणीभूत सवित् ही है। उन्मविन ही परमायत रस है। उसी प्रतीति में वशीभूत सामाजिक को बाद में वस्तुआ का पृथक्ता के ज्ञान से विभाव आदि की प्रतीति होती है—नाट्य काव्य और सामाजिक के ज्ञान में यह प्रयोजन है। तो इस प्रकार मूल है बीजस्थानीय कविगत रस। कारण यह कि कवि सामाजिक के तुल्य ही है। इसीलिए जानन्वचनाचार्य ने कहा है 'शृङ्गारी

चलवि"। फिर, काव्य वृक्षम्यानीय है। उसमें अभिनय आदि नटव्यापार पुष्पस्थानाय है। उसमें सामाजिक का समास्वात् फलम्यानीय है। इसलिए सत्तार रसमय ही है।"

अभिप्राय यह कि कवि भसार की किसी घटना को साधारणीभूत रूप में देखकर रस अनुभव करता है, फिर उसके विभावादि देखता है, उन्हें गान्धे में प्रस्तुत करता है—
इहो ही नट सामाजिक का सामन प्रस्तुत करत हैं।

यही प्रक्रिया जयशर प्रसाद ने इस रूप में रखी है

काव्य आत्मा की सत्त्वात्मक अनुभूति है, जिसका सम्बन्ध विश्लेषण, विकल्प या विधान में नहीं है। वह एक श्रमयोगी प्रथम रचनात्मक चानधारा है। सत्त्वात्मक मूल अनुभूति कहने में भरा जो तात्पर्य है, उस भी समझ लेना होगा। आत्मा की मननशक्ति की वह जसाधारण अवस्था, जो श्रेय मत्त का उसके मूल चारित्र्य में सहसा ग्रहण कर लेती है, काव्य में सत्त्वात्मक मूल अनुभूति कही जा सकती है।"

यहां भी कवि का मन की यह असाधारण अवस्था पहले श्रेय मत्त का उसके मूल चारित्र्य में सहसा ग्रहण करण, उस सत्त्वात्मक रूप में अनुभव करता है। यही अनुभव चार्णीरूप में प्रकट होता है और सामाजिक में वही अनुभव पदा करता है।

अनुवादक पहले सामाजिक के रूप में होता है। यह काव्यरस का आम्वादन करना है, और उसमें वह काव्याय को दूसरी भाषा में इस प्रकार प्रस्तुत करता है कि परिवर्तित वाक्यावलि भी वही रस व्यक्त कर सके, जो मूल भाषा की वाक्यावलि से व्यक्त हुआ था। इस लिए मूल का वाक्य अथवा भाषा-साथ व्यक्त श्रेय का भी पूज्यतमा अभिव्यक्त करनेवाली परिवर्तित वाक्यावलि होनी चाहिए। स्पष्टतः, ऐसा तभी सम्भव है जब अनुवादक मूलभाषा और अनुवादभाषा, दोनों में इतना पारंगत हो कि उनका गन्दा के वाक्य और व्यक्त अर्थों का पूरी तरह समझता हो। उसमें इतनी मादुबता भी होनी चाहिए कि वह मूल सत्य का सनागत भाव और रस वस्तु और जलवार, ताल और लय का अपन मन में ग्रहण कर सके। दोनों भाषाओं का समझता के साथ ही उसमें वह रचनाशक्ति भी होनी चाहिए जिससे वह अनुवादभाषा में सनागता की रचना का प्रभाव पदा कर सके।

काव्य का स्वरूप

जिसे काव्य का लय वस्तुमान है अथात् जिस वाक्य में आत्मा पर बदन का रूप प्रभाव पड़ता है वह वाक्य या प्रबंध 'काव्य-वाटि' में आता है। पर जिसे चारित्र्य या प्रबंध का अर्थ भाव रस पड़ता है, उसे काव्य कहा जाता है। दूसरी बात का इस प्रकार भी अनुमान है कि सहस्रों के लिए जाह्लाजनव जय जाने वाक्य को काव्य कहते हैं।

काव्य का चरित्रात्मान रूप आध्यात्मिक साक्षात्कार में उन्नत जाह्लाद की अभिव्यक्ति के लिए प्रयुक्त होता है। वेदा को परमात्मा का अजर अमर काव्य कहा गया है —
द्वन्द्वं सत्यं वाक्यं न सत्यं न जीवति (मन्त्र)

है न कि कला यह स्थापना करत हुए बतमान काल में प्रताप ने नव-नव साक्षात्कार के अभियोजन को काय माना है।

महाकाव्य-युग में स्थायी भाव की अभिव्यजना का काव्य माना गया जसा कि आदिकवि वाल्मीकि व प्रथम सौविज्ञ श्लोक की प्रसिद्ध कहानी से पता चलता है। इस कहानी में काव्य की छन्दस्पता को भी महत्वपूर्ण माना गया है।

परवर्ती काल में वाच्य अलंकार को काव्य का प्राण माना जान लगा। कभी कभी कविले छन्द भी काव्य का स्वरूपाधारक समझ लिया जाता था।

आचार्य जानदवधन ने इन सब धारणाओं और काव्यजनित आह्वान व कारणों की परीक्षा करके यह स्थापना की कि काव्य की आत्मा ध्वनि या व्यजना 'पापार' है और ध्वनित वस्तु ध्वनित अलंकार, ध्वनित भाव और रस—ये चारों वाक्यांश काय की श्रणी में गिने जा सकते हैं। इनके अतिरिक्त अलंकार छन्द या शब्द मात्र की विशेषता वाला वाक्य को आपने काव्य का चित्ररूप माना।

ध्वनित वस्तु और ध्वनित अलंकार से ध्वनित भाव को, तथा ध्वनित भाव से ध्वनित रस का अधिक ध्येष्ट कोटि का काय माना गया है।

उत्कृष्ट काव्य

ध्वनि और वाच्य अलंकार का सम्यक् कायसमीक्षा में आज भी चलता है। फिर भी इस प्रश्न पर कोई विशेष मतभेद नहीं कि 'रसात्मक' वाक्य ध्येष्ट काय होता है। परन्तु कविराज विद्वनाथ व 'वाक्य रसात्मक' काय में लक्षण की सखीयता इसी एक बात से स्पष्ट हो जाएगी कि ध्वनित रस की ध्येष्ट काव्य माननेवाले आचार्य जानदवधन का यह कहना पड़ा था कि ऐसे दो तीन या पांच छंद ही महाकवि हैं जिनकी वाणी रस प्रवाहिणी है।

सरस्वती स्वादु तदवपस्तु नि प्यदमाना महता कवीनाम् ।
अलोकसामायमभिष्यनन्ति परिस्फुरत प्रतिभाविगमम् ।

—स्वयंभाष १६

तत् वस्तुतत्त्व नि प्यदमाना महता कवीना भारत अलोकसामाय प्रतिभा विगम परिस्फुरतमभिष्यनन्ति । यनास्मिन्तविचित्रकविपरम्परावाहिनि ससारे कालिदासप्रभृतयो द्वित्रा पक्षपा एव वा महानवय इति गम्यन्त ।

स्पष्ट है कि यदि एवमान रसात्मकता का काय का लक्षण माना जाएगा, तो काय का क्षेत्र बड़ा सीमित रह जाएगा।

इसलिए ध्वनित वस्तु ध्वनित भाव और ध्वनित अलंकार को भी काव्य व अन्तर्गत रसकर ध्वनि का वाच्य का प्राण माना गया। हमारे विचार से यह दृष्टान्त और ध्यान रखना होगा कि ध्वनित वस्तु और ध्वनित अलंकार भी भावमूलक हाव हैं परन्तु उनमें प्रधानता भाव की नहीं, वस्तु या अलंकार की होती है। ध्वनित अलंकार व धारे में यह कहना आवश्यक है कि यहाँ अलंकरण ने अर्थ में अलंकार शब्द का प्रयोग ब्राह्मण धर्मण पाप से किया जाता है—अर्थात् वाच्य अलंकार जिस वस्तुविषय का चित्र

प्रस्तुत करता है, वही चिन्ता जब ध्वजना से प्रस्तुत हो तब अलंकारध्वनि या ध्वनित अलंकार होता है।

इस प्रकार भावध्वनि, वस्तुध्वनि और अलंकारध्वनि का रसध्वनि क बाण की काटि में रचना चाहिए। कुछ आचार्यों ने सार ध्वनि वाक्य का उत्तम श्रेणी में रखा है, पर रसध्वनि को श्रेष्ठ ध्वनियों में श्रेष्ठ माना है। पंडितराज ने रसध्वनि के लिए उत्तमोत्तम की श्रेणी निर्धारित की है और आगे तीन भेद और किए हैं।

प्रथम प्रकार, जिस वाक्यांश में ध्वनि की प्रधानता है, वह श्रेष्ठ वाक्य हुआ। जिस वाक्यांश में ध्वनि अप्रधान है और वाक्य वस्तु या वाक्य अलंकार प्रधान है वह द्वितीय काटि का गुणोद्भूत वाक्य है। हा यदि वाक्य वस्तु प्रधान हो और उसमें ध्वनि अलंकार गुण हो, तो ध्वनि वाक्य ही गिना जाएगा। जिस वाक्यांश में ध्वनि नहीं है, केवल वाक्य वस्तु या वाक्य अलंकार है, वह भी कई बार वाक्य की काटि में समझ लिया जाता है इसलिए उस तृतीय काटि का वाक्य बहु दल है। वस्तुतः जो वाक्यांश वाक्य वस्तु है वह विज्ञान या धर्मशास्त्र आदि शास्त्रों की कोटि का कथन है वाक्य नहीं, और वाक्य अलंकार पक्षीकारी की कोटि का कथन है। फिर भी, चूंकि वाक्य और वाक्य अलंकार का उपयोग वाक्य और अलंकार दोनों में होता है, इसलिए इस वाक्य समझना के कारण वाक्य के प्रसंग में, वाक्य वस्तु और वाक्य अलंकार के अलंकार होने पर भी, उस पर विचार किया जाता है।

प्रधान वाक्यांश

उपरोक्त वाक्य में एक और बात बड़ी महत्वपूर्ण है। वाक्य वस्तु और वाक्य अलंकार को हमने अलंकार कहा है। इस वाक्य का अभिप्राय यही है कि जिस वाक्य का प्रधान, अर्थात् अंगी, वाक्यांश वाक्य वस्तु या अलंकार हो वह वाक्य नहीं। परन्तु, यदि वाक्य अलंकार या वाक्य वस्तु प्रधान वाक्यांश न हो, तो वह ध्वनित प्रधान वाक्यांश का अंग बनकर आ सकता है।

रसायन वाक्यांश में जो अलंकार गिनाया जाता है वह वास्तव में यही अलंकार अलंकार होता है।

इस प्रकार हमने देखा कि रचना का प्रधान वाक्यांश—

- १ रसध्वनि,
- २ भावध्वनि,
- ३ वस्तुध्वनि,
- ४ अलंकारध्वनि,
- ५ वाक्य अलंकार,
- या ६ वाक्य वस्तु।

हा गवता है और रचना का अप्रधान वाक्यांश भी—रसध्वनि, भावध्वनि, वस्तुध्वनि अलंकारध्वनि वाक्य अलंकार, या वाक्य वस्तु हो सकता है।

जब रसध्वनि और भावध्वनि प्रधान होते हैं तब इन अप्रधानों को रसध्वनि

अलंकार कहते हैं।

किसी वाक्य का प्रधान वाक्याथ ध्वनि है या नहीं, इसका निश्चय कवि के सरभ या विवेका और सहृदयता के अनुभव से होता है।

निष्कर्ष यह हुआ कि आत्मा जिस वाक्याथ को ग्रहण करता है, वह वाक्य में रहता है। जो वाक्य रस आदि को प्रधानतः ध्वनित करे वह काव्य है।

इस काव्य का ध्वनित अथ ठीक ठीक समझने के लिए ध्वनि के भेदों गुणा, दोषा और अलंकार के स्वरूप को समझना आवश्यक है। इसलिए हमने आगे ध्वनि के भेद, काव्य के गुण दोष और अलंकार का स्वरूप दिया है। काव्य में छंद का भी अपना स्थान है, और वह भावव्यजना में सहायक होता है। इसलिए उसपर भी थोड़ा विचार किया गया है।

ध्वनि या व्यजना के भेद

ध्वनि के पहले दो भेद किए जाते हैं (१) अविवक्षितवाच्य या लक्षणामूला और (२) विवक्षितवाच्य या अभिधामूला।

अविवक्षितवाच्य के फिर दो उपभेद किए जाते हैं (क) अत्यन्ततिरस्कृतवाच्य, (ख) अर्थान्तरसन्निहितवाच्य।

अविवक्षितवाच्य या लक्षणामूला ध्वनि में वाक्य का वाच्य अर्थ विवक्षित नहीं होता। यदि वह स्वयं अविवक्षित हो, अर्थात् अपना वाच्य अर्थ बिलकुल छोड़कर कोई और अर्थ ग्रहण कर ले, तो उसे अविवक्षितवाच्य ध्वनि का अत्यन्ततिरस्कृतवाच्य उपभेद कहेंगे। यदि वाच्य अर्थ किसी दूसरे अर्थ में परिणत हो जाए तो उस दूसरे अर्थ को अविवक्षितवाच्य ध्वनि का अर्थान्तरसन्निहित उपभेद कहेंगे।

विवक्षितवाच्य या अभिधामूलक ध्वनि के भी पहले दो भेद हैं

(१) असंलक्ष्यक्रम व्यंग्य (२) संलक्ष्यक्रम व्यंग्य।

असंलक्ष्यक्रम व्यंग्य ध्वनि में वाच्य अर्थ के बाद व्यंग्य अर्थ की प्रतीति होती है पर यह इतनी जल्दी होती है कि वाच्य अर्थ और व्यंग्यार्थ का पूरा-पूर क्रम बहुत अच्छा तरह अनुभव नहीं होता। यही भावध्वनि और रसध्वनि कहलाती है। इसीके अंतर्गत (सामाजिक आदि दृष्टियाँ से अनुचित आलम्बन हान पर) रसाभास और भावाभास, तथा भावगति, भावादय भावसंचि और भावश्रवणता भी आते हैं।

संलक्ष्यक्रम व्यंग्य ध्वनि के फिर तीन उपभेद हैं—(क) अर्थाश्रित, (ख) अर्थान्वित, (ग) शब्दार्थाश्रित।

शब्दार्थाश्रित संलक्ष्यक्रम व्यंग्य ध्वनि के दो रूप हैं वस्तुध्वनि, अलंकारध्वनि।

अर्थान्वित संलक्ष्यक्रम व्यंग्य ध्वनि के भी दो रूप हैं—वस्तुध्वनि और अलंकारध्वनि। पर इन दोनों रूपों के व्यंग्य अर्थ चार-चार प्रकार के होते हैं जिसमें अर्थान्वित संलक्ष्यक्रम व्यंग्य ध्वनि के वस्तुध्वनि रूप चार, और अलंकारध्वनि रूप भी चार प्रभेद हो जाते हैं और, इनकी कुल संख्या आठ हो जाती है।

यहां जय शब्द का एक दूसरा अर्थ स्पष्ट समझ लेना चाहिए । यदि कोई अभिधेय अर्थ समझ में वस्तु होता या हो सकता है तो उसे स्वतः समझी अर्थ कहते हैं । यदि कोई अभिधेय अर्थ वस्तु नहीं होता या हो सकता, पर कविपरम्परा में वस्तु होने वाले रूप में वर्णित होता आया है, और इसीलिए पाठक समझ में वाक्यतन्त्र के रूप में स्वीकृत है तो उस प्रतीकानुसिद्ध अर्थ कहते हैं । उदाहरण के लिए 'स्वाति नक्षत्र में सीपी में पड़ा हुई बघा की बूंद माती बन जाती है,' या नदी में कमल होना 'उदयानल,' अस्तावल, आदि इस प्रकार के प्रतीकानुसिद्ध अर्थ हैं । यदा भेद अभिधेय के समबलत्व के आधार पर किए गए हैं । चैतन्य या आत्मा की वृत्ति पर पड़नेवाले प्रभाव की दृष्टि से वस्तु-अलंकार, भाव और रस—य तीन भेद पढ़ने बताए जा चुके हैं जो क्रमशः पानात्मक, इच्छात्मक और सत्त्वात्मक हैं । तब भी य तीन प्रभाव पदा तीन में कुछ मानसिक व्यापार भी होता है । प्रथम मानसिक व्यापार 'अभिधा' कहलाता है । यदि अभिधेय अर्थ सुमंगल नहीं होना तो द्वितीय लक्षणा व्यापार होता है । अभिधेय या लक्ष्य अर्थ की उपलब्धि के बाद कोई और अर्थ उपलब्ध हो, तो ध्वनि अर्थ होता है और उसे उपलब्ध करानेवाला व्यापार व्यञ्जना व्यापार कहलाता है ।

इस प्रकार अर्थ का तीन दृष्टियां में देखा जाता है (१) समबलत्व की दृष्टि से, अर्थात् कोई अभिधेय अर्थ स्वतः समझी है या प्रतीकानुसिद्ध ।

(२) चेतन्य पर प्रभाव की दृष्टि से, अर्थात् वह पानरूप है या इच्छारूप या सत्त्वरूप ।

(३) तब से प्रभाव तक पहुंचने में होनेवाले मानसिक व्यापारों की दृष्टि से, अर्थात् वह अभिधाव्यापार मात्र है, या लक्षणाव्यापार भी है और या व्यञ्जना व्यापार भी है ।

तात्पर्यप्रमत्त्य ध्वनि के दो रूप, वस्तुध्वनि के दो रूप, वस्तुध्वनि और अलंकारध्वनि जिन वाक्य अर्थों के बाद उपलब्ध होंगे, व स्वयं या तो वस्तुरूप हीन और या अलंकाररूप । इस प्रकार,

१ वस्तुरूप व्यञ्जक अर्थ से ध्वनि के दो रूप हुए—वस्तुध्वनि और अलंकारध्वनि ।

और २ अलंकाररूप व्यञ्जक अर्थ में भी ध्वनि के दो रूप हुए वस्तुध्वनि और अलंकारध्वनि ।

व्यञ्जक वस्तुरूप अर्थ स्वतः समझी जा, तो प्रथम के दो रूप हुए । और व्यञ्जक वस्तुरूप अर्थ प्रतीकानुसिद्ध हो, तो भी उनके दो रूप हुए । इस प्रकार चतुर्ध्वनियुक्त ध्वनि के चार भेद हो गए । एम ही चार भेद अलंकाररूप व्यञ्जक अर्थ के हुए । कुल मिला कर निम्नलिखित पाठ बन रहा है

व्यञ्जक अर्थ

ध्वनि अर्थ

(i) स्वतः समझी वस्तुरूप

(१) वस्तुध्वनि

(ii) स्वतः समझी अलंकाररूप

(२) अलंकारध्वनि

(३) वस्तुध्वनि

(४) अलंकारध्वनि

(III) प्रौढोक्तिसिद्ध वस्तुरूप

(५) वस्तुध्वनि

(६) अलंकारध्वनि

(IV) प्रौढोक्तिमिद्ध अलंकाररूप

(७) वस्तुध्वनि

(८) अलंकारध्वनि

आचार्य आनन्दवर्धन और उनके अनुयायियों ने प्रौढोक्तिसिद्ध का कवि प्रौढोक्ति-
मिद्ध और कविनिबद्धवस्तुप्रौढोक्तिसिद्ध भेदों में रखा है जिसमें उपर्युक्त आठ को जगह
चारह ध्वनिभेद हो जाते हैं। हमारी समझ में कविप्रौढोक्तिसिद्ध और कविनिबद्धवस्तु
प्रौढोक्तिसिद्ध में थोड़ा ही अंतर है। प्रथम में वाक्य सीधे कवि का कहा हुआ अभिप्रेत
होता है और दूसरे में कवि द्वारा प्रस्तुत वस्तु का कहा हुआ अभिप्रेत होता है। यह वस्तु
क्षणीय भेद है।

शब्दार्थाश्रित लक्ष्यक्रम-व्यंग्य ध्वनि केवल अलंकाररूप होती है।

इस प्रकार ध्वनि के कुल भेद य चोदह हुए

अविवक्षितवाच्य	(१) अर्थान्तरितरसूतवाच्य	१
या लक्षणामूला	(२) अर्थान्तर सन्निहितवाच्य	१
विवक्षितवाच्य या	(३) असलक्ष्यक्रम-व्यंग्य रस	१
अभिधामूला	(४) लक्ष्यक्रम व्यंग्य	
	ग-दाश्रित वस्तु अलंकार	२
	अर्थाश्रित	=
	शब्द-ग-दाश्रित	१

 १४

इन ध्वनिभेदों में जैसा कि ऊपर बताया जा चुका है सबसे ध्येष्ठ रमणीय ध्वनि है।
अतः उसका स्वरूप यहाँ दिखाया जाएगा।

रस का स्वरूप

अपन नित्य जीवन में अंतर्गत मनुष्य जगत् की विविध वस्तुओं घटनाओं और
परिस्थितियों से सुख या दुःख अनुभव करता है। जिन वस्तुओं में सुख या दुःख अनुभव
होता है उन्हें रसविवेचना में 'आलम्बन' कहते हैं। जो परिस्थितियाँ यह सुख दुःख पदा
वरण के लिए अनुकूल होती हैं उन्हें उद्दीपन कहते हैं। सुख दुःख अनुभव हान पर
अनुभवकर्ता में जो शारीरिक परिवर्तन दूसरे मनुष्य को दिखाई देते हैं उन्हें 'अनुभाव'
कहते हैं। सुख दुःख की समग्र अनुभूति को म्यायीभाव कहते हैं और क्षणिक अनुभूतियों
को संचारी या व्यभिचारी भाव कहा जाता है। अनुभवकर्ता को आश्रय कहते हैं।
आलम्बन और उद्दीपन का मिलाकर विभाव कहते हैं।

रस का स्वरूप हजारों वर्ष पहले महर्षि भरत ने इस सूत्र में रखा था

विभावानभाव-व्यभिचारिसंयोगाद्रसनिष्पत्ति

श्री मम्मटाचार्य न यही बात इस प्रकार कहती है

कारणाग्रय कायाणि सहकारीणि यानि च ।
रतान् स्याद्विना लाव तानि चेनाटयवाच्यम् ॥
विभावा अनुभावास्तत्तद्व्यक्ते व्यभिचारिण ।
व्यक्त मतविभावाच्च स्वायी भावा रम स्मृत ॥

—कव्यप्रकाश, ४ २९ उम

अथान 'लाव' जीवन में होनेवाले, अनुप्य के रति आदि स्वायी भावा के कारणों का विभाव, कारणों का अनुभाव और सहकारी कारणों का व्यभिचारी भाव कहते हैं। उन (वाच्य) विभाव आदि में व्यक्त स्वायी भाव रस कहलाता है।

अभिप्राय यह है कि विभाव अनुभाव और व्यभिचारी भावा के वाचक वाक्याग्रय का रस्य वाक्याग्रय रस होता है। यह जल्दी तरह ध्यान रखना चाहिए कि विभावानि से व्यक्त वाक्याग्रय और रस अभिन वस्तुएं हैं न कि व्यंग्य वाक्याग्रय के बोध से रस पत्ता होता है। इन महत्वपूर्ण बात पर ध्यान न देने का ही यह परिणाम हुआ है कि जाचाय रामचन्द्र गुजर जन मनापी भाव-योजना और वस्तु-योजना के व्यापार को भिन्न काटि का बता गए।

आधुनिक मनोविज्ञान की विचार गला में भी भरतमुनि के रसमूल की सुन्दर पुष्टि होती है। मनोविज्ञान में जिन SOR फार्मूला कहते हैं, वह वास्तव में भरत कव्य में नवान् आख्यान मात्र है।

इस मूल में चतुर्थ के लिए O (आगतिरम) मुख्य और बाह्य पदार्थों में कुछ अनुनित्या होती है। बाह्य पदार्थों को S (वि-स) से चतुर्थ से संबंधित करते हैं और अनुनित्या को R (रिस्पॉन्स) से। बाह्य चतुर्थ के अनुभव में हम मूल रूप में इस प्रकार रस मकन हैं

$$S \rightarrow O \rightarrow R$$

अथान बाह्य पदार्थों में चतुर्थ पर कुछ विपत्ति है। इस प्रभाव का चतुर्थ अनुभव करता है। यह अनुभव चतुर्थ के लिए बाह्य परिवर्तन में द्वारा का पता चलता है। यह प्रभाव क्या होता है? मुझे अपने गठन या गस्कारा पर निमर है। बाह्य विभाव बाह्य पदार्थ का प्रभाव उद्दीपन विभाव दाना आ जान है। उद्दीपन विभाव का पदार्थों में आनन्दन निमित्त।

इस प्रकार निमित्त रस में यह कहा जा सकता है कि प्रत्यक्ष जीवन में कुछ पदार्थों के नामान्तरण वस्तुओं में रति आदि भाव उत्पन्न होते हैं और उक्त बाह्य रस में कुछ परिवर्तन होता है जो रति को उत्पन्न करने की योग्यता का पता पता। जब बाह्य रस ही पदार्थ रस में प्रस्तुत होता है तब पाठक या दर्शक का कुछ आनन्दन विभाव से अनन्तर तत्काल अनुभव होता है। यह अनुभव पूर्ण आनन्दन अथवा, रस-रस-रस, गडगडोती (७६ मुद्राङ्क) प्रप २२।

स्वप्रकाश, और चतुर्थरूप होता है।

यह रतिभाव आलम्बन विशेष से सम्बद्ध नहीं होता। इसी बात को इस प्रकार भी कह सकते हैं कि यह रतिभाव तब अनुभव होता है, जब आत्मा म राग, गुण और तमा-गुण दब जाते हैं और मत्त्वगुण का उद्भेद हो जाता है—यह माम्ब्यदगान का गन्ध प्रमाण है।

रम जिन स्थायी भावा के पुष्ट उन्बोध को कहत हं वे मनुष्य प्रकृति व जन्म जात धर्म हैं । य स्थायी भाव ही उदबुद्ध हाकर मनुष्य को विभिन्न कर्मों में प्रेरित करतें हैं । काव्य विभिन्न आलम्बन पाठन के सामन लाकर उसे उचित कर्म के लिए प्रेरित करता है । काव्य से उन्बुद्ध स्थायी भाव आनन्द रूप हाता है इसलिए उसकी प्रेरणा या उपदेश वातासमितनया होता है अर्थात् जैसे वाता वात को अपन से अभिन्न बनाकर, उसकी विक्षेपवृत्तिया का दबाकर, कर्म के लिए प्रेरित करती है, उमी प्रकार उदबुद्ध स्थायी भाव के आनन्द से आविष्ट मनुष्य आलम्बन के प्रति ग्रहण या त्याग के स्वरूप से युक्त हो जाता है । यही रम की श्रेष्ठता और महत्त्व है ।

स्थाया भाव आठ हैं—रति उत्साह, जुगुप्सा शोध, हास, विस्मय, भय और गार
मा करणा । दशरूपवचन ने मन की चार अवस्थाएँ मानी हैं विषाग, विस्तार, विक्षोभ
और विक्षेप । उपयुक्त स्थायो भावा म नमन य अवस्थाएँ होती हैं अर्थात् रति और
हास म विकास, उत्साह और विस्मय म विस्तार जुगुप्सा और भय म विनाश, और क्रोध
तथा शोक मे विक्षेप ।

शृंगार, जो जाठ स्थायी भाषा की पुष्टि होने पर इन आठ रसा का आस्वाद होता है—

इति आठ श्लोकाः हास्य अद्भुत, भयानक, वरुण ।

तत्त्वज्ञानजनित निर्व्याघ्रभाव है। जब 'घात' रस माना गया है तबका स्थायी भाव

कुछ आचार्य मानते हैं, और इसका स्थायी भाव वास्तव्य माना जाता है।

जीवगत्स्वामी और अन्य विद्वानों ने भक्ति को रस माना है, और इसका इगो-भाव ईश्वर प्रेम को माना है।

हमारे विचार से काम में धम स्थायी न नाटक में नहीं। यह भाव तत्त्वज्ञानजनित माना गया है। शास्त्र रस माना जा सकता है। अमजित धम नहीं है। ससृष्टि-जनित धम है। स्थायी भाव मनुष्य प्रकृति का रूप में होते हैं। यदि तत्त्वज्ञान से जनित धम किसी काम में रित नहीं करता है। वह करने की इच्छा अनुभाव न होने से नाटक में रसानुभव नहीं हो सकता। यदि किसी काम में रित करता है। जैसे ब्रह्मविहार (मैत्री, करुणा, मुदित्या, उपेक्षा) में, वह रति आदि भावों में ही गिना जाएगा, या फिर सचारी भावों की काटि में रहेगा।

वत्सल को रस मानना हमारी समझ में अनावश्यक है। हाकवि सूत्र ५-३२ पदो म वत्सल रस माननवाला को उनके प्रधान वाक्याथ पर ध्यान देना चाहिए। यदि प्रधान वाक्याथ (ईश्वर) प्रीति है, तो वात्सल्यभाव उसका अंग है। यदि प्रधान वाक्याथ ईश्वरप्रीति नहीं है तो फिर उन पदों का महत्त्व बहुत हो पार ३।

भक्ति का जो लोग काव्य में रस मानते हैं, उनसे हम सहमत नहीं। वस्तुतः भक्ति प्रत्यक्ष जीवन में परम आनन्द देनेवाला भाव हो सकता है, काव्य में नहीं। कारण यह कि एक तो ईश्वरप्रीति कोई मानवप्रकृति का जन्मजात धर्म नहीं, दूसरे ईश्वर कोई स्वन सभवा अर्थ नहीं, प्रौढोत्तिसिद्ध अर्थ है। रस के लिए आश्रय में आलम्बन स प्रत्यक्ष जीवन में भावोदबोध होना चाहिए, और वह आलम्बन सामान्यतया मनुष्यमात्र में वही भाव जगाने में समर्थ होना चाहिए। ऐसा न होना के कारण न तो ईश्वरप्रीति को म्यायी भाव की सजा दी जा सकती है, और न भक्ति का रस की। हा, प्रत्यक्ष जीवन में अपने सम्पादन — जोर्ड-बार्ड महापुरुष ईश्वरप्रीति में परमात्मद अनुभव करने सगे यह हा सवता है।

रस और औचित्य

ऊपर बताया जा चुका है कि रस का प्रत्यक्ष अनुभव में त्रिकुल सोधा सम्बन्ध है। चूँकि प्रत्यक्ष जीवन में सामाजिक आदि औचित्य के कुछ नियम हैं, इसलिए समाज विरोध के माहित में उस समाज के औचित्य का अनुकूल रहना स्वार्थ है, इसलिये प्राचीन काव्यसमीक्षकों ने औचित्य की बसोटी पर खरे उतरनेवाले आलम्बन और प्रिय से ही रसानुभूति मानी है अनुचित सम्बन्ध वाली अनुभूति को रसाभास कहा है।

औचित्य के निषाङ्ग प्रेम-आन आदि होना है। उदाहरण के लिए, विवाहित दुष्यन्त का शकुन्तला से प्रेम सत्कालीन समाजनीति का अनुगार उचित है परन्तु आज की समाजनीति का अनुसार अनुचित है। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि इसी कारण अन्तर्गत काल में शकुन्तला का चिन्मीकरण करत हुए दुष्यन्त का पूर्व विवाहित होने के सत्य की उपमा कर दी गई।

औचित्य की दृष्टि से पराक्षा की जाए, तो परकीया नायिका सम्बन्धी सब रचनाएँ आज रसाभास की कोटि में आएंगी। पर, इसका निषेध करने की उचित रीति यही है कि कवि के समकालीन समाज की औचित्य विषयक धारणा देखी जाए।

यहाँ जो कुछ रसाभास के बारे में कहा गया है, वही रसाभास के बारे में भी समझना चाहिए।

भावगान्ति आदि

भावोदय भावगान्ति भावसंधि और भावगतता का अलग-अलग ध्येय ध्वनि में अलग-अलग गिनाया जाता है। हमारे विचार से ऐसा बचस स्पष्ट करने के लिए किया जाता है, तथा इनमें और भाव में कोई मौखिक अन्तर नहीं है।

भाव

हरण नायक और सखी नायिका के उचित रसभाव (अपान् पुत्र प्राप्ति के सक्षम स विमल की इच्छा) के रसि रसायी भाव कहते हैं जो शृंगाररस बनता है। दरजा,

पुत्र, गुरु, पेश, आदि के प्रति प्रेम को केवल भाव माना जाता है, यह प्रेम रसकादि तक पुष्ट नहीं हो पाता। जो विद्वान इनका रस काटि तर पुष्ट होना मानते हैं व पुत्रप्रेम के पुष्ट होने पर 'वत्सल' रस, और दयताप्रेम के पुष्ट होने पर 'भक्ति रस' मानते हैं।

व्यभिचारी भाव रस की पुष्टि में सहायक होता है यह बात भरतमुनि के रस सूत्र में बही गई है। इसमें लिए व्यभिचारी भाव वाच्य होना चाहिए न कि व्यंग्य। यदि व्यभिचारी भाव वाच्य नहीं है व्यंग्य है तो वह रस का सहायक बनने के स्थान पर स्वयं अनुभूति का विषय बनता है, परन्तु रसकादि तक नहीं पहुँचता।

व्यभिचारी भाव

व्यभिचारी भावों की सरथा तैत्तिरीय मान्य है। परन्तु रामचन्द्र गुणचन्द्र ने नाट्यदर्पण में दिखाया है कि यह मृदुल आदि अथ भावा के अस्तित्व का निषेध नहीं करती। श्री रामचन्द्र सूर्य का कहना है कि 'व्यभिचारी भाव की स्थापना की है। सब वृद्धि ही मिश्रित भाव' सरथा का वही अर्थ नहीं।

तैत्तिरीयशास्त्र के अनुसार तैत्तिरीय व्यभिचारी भाव निम्नलिखित हैं
निर्वेद, श्लानि, क्षका, असूया, मन्, श्रम, आलस्य, दय, चिन्ता, मोह, स्मृति, घति, शीघ्रा, चपलता, हृष, आवेग, जडता, गव, विपाद, आत्मिक्य, निद्रा, अपस्मार, मुप्ल, विबोध, अमप, अवहित्य, उग्रता, मति व्याधि, उन्माद, मरण, श्वास, जीर, वितक।

स्थायी भाव और व्यभिचारी भाव में दाना मनोविकार हैं, अर्थात् मन की अवस्था विनोद है। भाव शब्द के अनेक अर्थ स्पष्ट करते हुए भावप्रकाशकार ने लिखा है
भाव स्याद भावन भूतिरयं भावयतीति वा।

पदार्थों का प्रिया सत्ता, विकार मानमोयवा ॥—प्रथमा विकार।

इन अर्थों में संक्षेप मानस विकार के अर्थ में काव्यसमीक्षा में भावशब्द का प्रयोग होता है। इस मनाविकार की क्षणिक तथा झुंझरी अवस्थाएँ व्यभिचारी भाव हैं और स्थायी अर्थात् अधिक देर ठहरनेवाली अवस्थाएँ स्थायी भाव हैं। एक स्थायी भाव के उद्बोध में अनेक व्यभिचारी भाव क्रमशः जाते जाते हैं।

काव्य के गुण और दोष

जिस वाक्य का प्रधान वाक्यार्थ रसध्वनि है उसमें मन की रसावस्था कभी आह्लादमय और कभी उद्दीप्त होती है। आह्लादमय रसावस्था माधुर्य गुण वाली कहलाती है, और उद्दीप्त रसावस्था जोज गुण वाली कहली जाती है।

इस प्रकार माधुर्य और जोज, ये रस के गुण हैं। रस प्रधान वाक्यार्थ है। प्रधान वाक्यार्थ रूप रस के ये गुण उसके वाक्य में भी गौरवरूप से माने जाते हैं। यद्यपि रस व्यंग्य अर्थ है शब्द या वाच्य अर्थ नहीं तब भी रस के गुण शब्द में मानना उपलक्षण मात्र है।

माधुर्य गुण शृंगार वरुण, और विप्रलम्भ शृंगार रस में होता है, तथा 'जोज गुण वीर, रोद्र और वीरमत्त रसों में होता है।

तीमरा, 'प्रसाद गुण' माधुर्य और ओज दोनों के साथ रहता है। प्रसाद का अर्थ है गीघ्रता से वित्त में व्याप्त हो जाना।

श्री मम्मटाचार्य (काव्यप्रकाश ८ ७४) के अनुसार माधुर्य गुण के व्यञ्जक वग य है। पंचमवर्ण से सयुक्त वर्गीय अक्षर, परन्तु ट, ठ, ड, ढ का छोड़कर तथा ह्रस्व स्वर से युक्त र, ण। इसकी व्यञ्जक पदावली में ममास छोटे हात हैं अथवा विलकुल नहीं हैं, और रचना सरल होती है।

जो व्यञ्जक वर्ण य हैं वग के प्रथम और तृतीय वर्ण का क्रमशः द्वितीय तथा चतुर्थ वर्ण से संयोग र का विसा वर्ण से संयोग या र संवित्ती वर्ण का संयोग एव ट, ठ, ड, ढ, ण, य। इसकी व्यञ्जक पदावली में ममास सम्बन्ध तथा रचना विकट होती है।

प्रसाद गुण की व्यञ्जक पदावली यह है, जिसके साद सुनते ही अर्थ का पान हो जाए। यह सय रसा और रचनाओं में हो सकती है।

कौन क्या है क्या वचनीय है और क्या वाक्यरूप है, इसके अनुसार भी रचना वृत्ति (ममास), और वर्णों का विन्यास किया जाता है। अभिप्राय यह है कि यदि वही भीमसेन जमा करता हो या प्रलयानि का वर्णन हो तो उद्धत रचना करनी चाहिए। इसी प्रकार आप्यायिका में शृंगार रस में भी मसण वर्ण जादि नहीं रसे जाते, क्या में रौद्र रस में भा बहुत उद्धत रचना नहीं की जानी, और नाटकादि में रौद्ररस में भी दीपसमाप्त उचित नहीं होते।

दाप

रस की अनुभूति में वाक्य पद, वाक्य, अर्थ और काव्य के दाप बदलाते हैं। इन दोषों का होना रस की अनुभूति में कुछ न कुछ बाधा पड़ती है। दापा का निम्न परिगणन 'काव्यप्रकाश' आदि काव्य समीक्षा ग्रंथों में किया गया है। इन दापा का दापरव अन्त रमहानि पर हो निर्भर है। रस व्यञ्जक वाक्य अर्थ की हानि करनेवाले धारण भी दोष कहान हैं। अर्थ के वाक्य गम्भीरार्थ पद, पदार्थ, और वाक्य भा वाक्याप और रस के दोष में साहाय्य होते हैं, अतः उनमें भी दाप रहते हैं।

श्री मम्मटाचार्य (काव्यप्रकाश, सप्तम उल्लास) के अनुसार पदा में दाप होने हैं

- १ धृतिवद् जो सुनने में बुरा लग।
- २ व्युत्तरवृत्ति व्याकरण की दृष्टि से अशुद्ध।
- ३ अशुद्धि व्यकरण की दृष्टि से शुद्ध होने पर भी कवियों द्वारा जो प्रयोग नहीं किया जाता।
- ४ अज्ञानम रिमो अब अप्रचलित हो गए अर्थ में गलत का प्रयोग।
- ५ निहताय दो अर्थों वाले शब्द का एक प्रसिद्ध अर्थ में प्रयोग।
- ६ अनुचितार्थ अनुचित अर्थ में शब्द का प्रयोग।
- ७ निरर्थक अर्थवत् शब्द का अनुप्रास से पार्श्ववृत्ति के लिए प्रयुक्त पद।
- ८ अवाक्य अर्थ का प्रयोग।

संस्कृत नाटको व हिंदी अनुवाद

६ अन्तीत
१० सदिग्ध

११ अप्रतीत

१२ ग्राम्य

१३ नेपाथ

१४ क्लिष्ट

१५ अविमलविधायन

१६ विरुद्धमतिवृत्त

इन मोलह म से तीग अर्थात्

क्षप तेरह दोष वाक्यगत भी होते हैं और पदागत भी ।

बचल वाक्यगत दोष इसकोस हैं ।

१ प्रतिकूलव्यवस्था

२ उपहृतविसंगताऔर

३ लुप्तविसंगता

४ विसर्गि

५ हतवसता

६ अनपदता

७ अधिक्पदता

८ अधिक्पदता

९ पतत्रपथ

१० समाप्तपुनरात्ता

११ अर्थांतरकपदता

१२ अभवमतसम्बन्ध

वाच्यस्यानभिधान

अस्यानस्यपदता

अस्यानसमासता

सज्जाव्ययक, घृणान्ययक या अमगल-ययक ।

जहा किसी शब्द के दो अर्थ हों और यह सत्य रहे

वि उसका किस अर्थ में प्रयोग हुआ है ।

किसी शास्त्र विरोध में प्रचलित शब्द का प्रयोग । एत

शब्द का अपेक्षी में जागन कहते हैं ।

जिसका प्रयोग सिष्ट व्यवहार में नहीं चलना ।

रुद्धि और प्रयाजन से गूँथ लक्षण ।

जिसका अर्थ सरलता से समझ में न आए ।

विषय जहाँ जिसमें प्रधानतया निदिष्ट नहीं किया गया ।

जिसमें विवर्णित से विरुद्ध अर्थ प्रतीत हों ।

जिसमें व्युत्पत्ति असमय, और निरर्थक का छोड़कर

जिस रस में जा वण गुणा व अनकूल बताए गए हैं

उनका प्रयोग न करना ।

विमग को आ रूप हुआ जाना और विमग का लोप हो

जाना ।

मधि जहाँ अवश्य जानी चाहिए वहाँ न करना सधि हो

जान से अवलीलता की यजना होना और सधि हो

जान से उच्चारण में कठिनाई होना ।

छन्द रचना में अज्ञातता और रस व प्रतिकूल छन्द

का प्रयोग ।

किसी पद की कमी होना ।

किसी पद की अधिकता होना ।

एक ही शब्द का दो बार प्रयोग ।

पहले हिस्से में जसी रचना हो बाद में हिस्से में उससे

दुबल रचना होना ।

एक वाक्य समाप्त करके उस फिर शुरू कर देना ।

छन्द व पदल आधे भाग महाने योग्य कोई पद पिछले

जाधे में रग देना ।

जिन पदों का सम्बन्ध इष्ट है, उनका सम्बन्ध न

होना ।

अवश्य कथनीय शब्द का कथन न करना ।

किसी पद को अनुपयुक्त क्रम में रखना ।

जहाँ समास अनुपयुक्त हो, वहाँ समास करना ।

- १६ सपीणता जहा एक वाक्य के पद दूसरे वाक्य में घुस जाए ।
 १७ गभितता जहा एक वाक्य में भीतर दूसरा वाक्य घुस गया हो ।
 १८ प्रसिद्धिविद्वत्ता कवि प्रसिद्धि के विद्वत् प्रयोग ।
 १९ भग्नप्रश्न जिस पद से प्रकरण आरम्भ किया, आगे उसको छोड़ देना ।
 २० अश्रमता अनुचित प्रश्न लगाना ।
 २१ अश्रमपरायता जहा दूसरा अर्थ प्रकृत अर्थ के विरुद्ध हो ।
 इनमें से उपर्युक्त विसंगता और सुप्तविसंगता केवल सस्मृतभाषा से आए शब्दों में होते हैं ।

अपगत दोष

अपगत दोष तेई हैं ।

- १ अपुष्ट वह अनावश्यक विनोपण आदि रखे हो ।
- २ कष्ट जहा अर्थ समझने में कठिनाई हो ।
- ३ व्याहत परस्पर विरोधी कथन ।
- ४ पुनरुक्तता जो बात एक बार कह चुके उसे फिर कहना ।
- ५ दुष्प्रमत्त अर्थ के महत्त्व की दृष्टि से उचित प्रश्न न लगाना ।
- ६ प्राम्यर्थ गवार बात कहना ।
- ७ सविधार्थ यह स्पष्ट न हो कि वक्ता दो में से कौन-सा बात को प्रधानता दे रहा है ।
- ८ निहंतुत्य बिना कारण बताए वाक्य प्रस्तुत करना ।
- ९ प्रसिद्धिविद्वत्ता कविप्रशंसा में मनमाना परिवर्तन कर देना ।
- १० विद्याविद्वत्ता शास्त्रविनोप में असंगत बात कहना ।
- ११ अनवीकृत्य जो बात बहुत बड़ी बड़ी बार-बार कहना ।
- १२ अनियमपरिवृत्ति जहा एक वस्तु मात्र का अवधारण करना चाहिए, वही उस वस्तु का बिना अवधारण के कथन ।
- १३ अनियमपरिवृत्ति जहा किसी वस्तु का अवधारण नहीं करना चाहिए, वही अवधारण करना ।
- १४ विशेषपरिवृत्ति जहा विनोप वस्तु का कथन करना चाहिए वही सामान्य का कथन ।
- १५ अविनोपपरिवृत्ति जहा सामान्य का कथन करना चाहिए, वही विनोप का कथन ।
- १६ साक्षात्ता किमा आक्षेपों में पद का प्रयोग न होना ।
- १७ अपर्युक्त स्थान पर अनावश्यक पद जोड़ देना ।
- १८ शब्दभ्रमिता अर्थात् बातों के साथ भुरी बातों को रख देना ।
- १९ प्रवर्णितविद्वत्ता जो बात कह चुके हैं, उगल विरुद्ध बात कहना ।
- २० विधायकता विषय अर्थ का उचित रूप न देना ।

- २१ अनुवादायुक्तता जिमरा कथन अनुवात्, अर्थात् उद्देश के रूप में नहीं करना चाहिए उसका उद्देश व रूप में कथन करना ।
 २२ समाप्तपुनरावृत्तता वात पूरी हो जाने के बाद उसे फिर शुरू करना ।
 २३ अश्लीलता शिष्ट समाज में न कहने योग्य बात कहना ।
 य दोष वक्ता प्रसंग आदि की दृष्टि में उचित होन पर दोष नहीं रहते ।

रम दोष

जो नायक रस में सम्मग्न रहते हैं य निम्नलिखित हैं

१ व्यभिचारी, रम, और स्थायी भाव का अपने वाचक शब्द द्वारा कथन ।

व्यभिचारी भाव जहां योग्य अभिप्रेत है, वही उसकी स्वशब्दाच्छता दोष गिनी जाएगी । जहां वह रम की प्रधान वाक्याव्यता में सहकारी बनकर जाता है वहां वह वाच्य होता है ।

२ अनुभाव और विभाव की कठिन कल्पना द्वारा व्यञ्जना ।

३ रस के प्रतिकूल विभावार्थ का ग्रहण ।

४ रस की वारम्बार दीप्ति ।

५ अनवसर में रम का विमार या विच्छेद ।

६ अगो रूप अर्थात् अप्रधान रम का बहुत विस्तार करना ।

७ अगो अर्थात् प्रधान रस को भूल जाना ।

८ पात्रों की प्रकृति के विरुद्ध निरूपण ।

९ अनग अर्थात् प्रधान रस का अनुपकारक अर्थ का कथन ।

दोष समीक्षा

यद्यपि ये दोष संस्कृत रचनाओं के प्रसंग में बताए गए हैं पर साधारणतया प्रत्येक भाषा की रचना में हो सकते हैं । इनका विस्तृत उद्भव इसलिये किया गया है कि मौलिक रचनाओं की तरह अनुवात् रचनाओं में भी इन दोषों का अनुसंधान करना चाहिए । इनके अतिरिक्त, अनुवादविषयक दोषों का उल्लेख खंड पांच में किया गया है ।

पद दोषों के बारे में यह ध्यान रखना चाहिए कि हिंदी भाषा की पदरचना और संस्कृत भाषा की पदरचना में बड़ा अंतर है जैसा कि अध्याय दो में स्पष्ट किया जा चुका है । हमें हिंदी भाषा की पदरचना पद्धति के अनुसार ही उपर्युक्त दोषों का मनेन करना चाहिए ।

यही बात कुछ वाक्य दोषों के बारे में भी समझनी चाहिए ।

अर्थ दोष और रम-दोष दोनों भाषाओं में समान महत्त्व रखते हैं ।

अलंकार

विचित्र वस्तु को अलंकार कहते हैं । अलंकार को चित्रकाम माना गया है और

अधम या तृतीय कोटि का वाच्य कहा गया है।

अलङ्कार वाच्य होता है। इसका अर्थ यह है कि अलङ्कार वाच्य म वाच्य रूप से आते हैं, या वाच्याय प्रधान होता है। उपमा रूपक, आदि अलङ्कार वाच्य रूप से आते हैं, और समासोक्ति आदि वाच्याय प्रधान होते हैं, यद्यपि, इनमें कुछ व्यंग्य वस्तु भी रहती है।

अलङ्कार चूँकि विविध वस्तु का ही नाम है, इसलिए अलङ्कारों की निश्चित मर्यादा नहीं है। प्रतिभा सम्पन्न लेखक नये नये ढंग से बात कहकर नये-नये अलङ्कारों की सृष्टि करते रहते हैं।

जब कोई वस्तु वचिन्त्य व्यंग्य होता है तब वह अलङ्कारध्वनि कहलाता है। वस्तुतः यहाँ अलङ्कार शब्द का प्रयोग अलङ्कारण के अर्थ में होता है, ब्राह्मण-श्रमण-यायस। अभिप्राय यह कि अलङ्कार व्यंग्य नहीं होता, वाच्य ही होता है। पर जब कोई वस्तु वचिन्त्य व्यंग्य होता है तब उसे उस वचिन्त्य व वाच्य रूप अलङ्कार के नाम से कह दते हैं।

ऊपर बताया जा चुका है कि वाच्य रसध्वनि भावध्वनि वस्तुध्वनि और अलङ्कार ध्वनि को कहते हैं। यही वाच्य अलङ्कार है। इसी की गोभा वृत्तान के लिए वाच्य अलङ्कार का प्रयोग होता है। पर यदि किसी वाच्य में उपयुक्त तीनों ध्वनियाँ मेल न पाई भी न हो, और वाच्य वाक्याय अलङ्कार रूप में हो तो वह चित्रवाच्य कहना होगा।

चित्रवाच्य या चित्रवाक्य अतः वस्तु की तरह रमादि के विभावादि ही हान है। इसलिए उनका रस सम्बन्ध तो बन जाता है पर उनमें व्यंग्याय लगभग और अप्रधान होने से उन्हें अत्यन्त चित्रवाच्य की कोटि में गिनते हैं।

अलङ्कार का महत्त्व

आचार्य मम्मट ने वाच्य में अलङ्कार का महत्त्वपूर्ण स्थान माना है। उनका वाच्य सहाय स यत्न वात पता चलती है। उन्होंने कहा है 'तन्माद्यो सन्माद्यो मनुणावनलज्नी पुन मवापि,' अर्थात् वाच्य दापरहिता और गुणमुक्त सन्माद्य का महत्त्व है जो कही-नही बिना अलङ्कार भी हो सकता है। मतलब यह कि वाच्य में समास-यनया अलङ्कार का हाना आवश्यक है, पर कही-नही अलङ्कार बहुत स्पष्ट न होने पर भी वाच्य होता है।

वाच्य में अलङ्कार का महत्त्व पर आचार्य मम्मट का पूरवर्ती और परवर्ती अन्य वाच्य समीक्षक भी लगभग इसी विचार में हैं।

परन्तु एक बात ध्यान रखनी चाहिए। वाच्य अलङ्कार जब प्रधान वाक्याय होता है तब वह चित्रवाच्य कहलाता है। जब भाव या रस प्रधान वाक्याय होता है तब वाच्य अलङ्कार वाच्य या अर्थ मात्र होता है। इसलिए वाच्य समीक्षा में वाच्य अलङ्कार का निर्णय विस्तारपूर्वक करने की जाती है वाच्यरचना और वाच्य-समीक्षा का माध्यम नहीं बनती। जबकि ध्वनि वाच्य रसध्वनि, वस्तुध्वनि, या अलङ्कारध्वनि है तब उक्त वाच्य वाच्य अलङ्कार को अधिक महत्त्व देना कहा तब उचित हो सकता है? अनुवाद में भी हम इस प्रधान गौण विवेक से ही समीक्षा करनी उचित है।

अलंकारों के भेद

जिन अलंकारों का अस्तित्व शब्द, अर्थात् शब्दांश, मात्र पर होता है, उन्हें शब्दालंकार कहते हैं। जिन अलंकारों का अस्तित्व अर्थ, अर्थात् वाक्यांश, पर आश्रित होता है उन्हें अर्थालंकार कहते हैं।

ऊपर बताया जा चुका है कि अलंकार काव्य का अंगमान्य है गौण अंश है, और वह रसव्यञ्जना का उपकरण नहीं है। दो प्रकार के अलंकारों में से भी शब्दालंकार का वाक्य में कोई विशेष महत्त्व नहीं। शब्दालंकार का प्रेम कवि के सामर्थ्य की अधिकता को सूचित नहीं करता, और रसव्यञ्जना में बाधक बन जाता है। इसीलिए आचार्य आनंद वधन ने शृंगार रस में शब्दालंकार को अप्राहृत माना है।

ध्वन्यात्मभूते शृंगारे यमकादिनिवधनम् ।

शक्तावपि प्रमान्तिव विप्रलम्भे विनोपत ॥

—ध्वन्यालोक २ १५

अलंकार भाव की तीव्रता के अनुरूप हो ता अवश्य वाक्य की शोभा बढ़ाता है परन्तु उसे भी जब अधिक महत्त्व या विस्तार दिया जाता है तब वह रसव्यञ्जना में बाधक बन जाता है। इसीलिए अर्थालंकार के बारे में श्री आनंदवधनाचार्य ने लिखा है

ध्वन्यात्मभूते शृंगार समीप्य विनिवर्जितः ।

रूपकादिरलंकारवग एति यथायताम् ॥

—ध्वन्यालोक २ १७

निवृत्तातत्परत्वेन नाङ्गित्वेन कदाचन ।

काले च ग्रहणत्यागी नातिनिबहणपिता ॥

—ध्वन्यालोक २ १८

अनुवाद में मूल भाषा की पदावलि नहीं रहती। इसलिए मूल भाषा के वाक्य में रखा गया शब्दालंकार अनुवाद में आ ही नहीं सकता। संस्कृत के उत्तम शब्दों का हिंदी में प्रचुर प्रयोग होने में कहीं-कहीं यह संभव है कि कोई शब्दालंकार अनुवाद में आ सके। परन्तु जमा कि ऊपर बताया जा चुका है, रसव्यञ्जना में सहायक न होने के कारण इस बात का कोई महत्त्व नहीं लिया जा सकता कि मूल का य का कोई शब्दालंकार अनुवाद में आया या नहीं।

अर्थालंकार अनुवाद में सामान्यतया आने चाहिए। जब कोई अर्थालंकार ही मूल में प्रधान वाक्यांश है तब तो वह अनुवाद में पूरी तरह अविकृत रूप में जाना ही चाहिए। जहाँ अर्थालंकार मूल में रम्य प्रधान वाक्यांश का अंग है वहाँ वाक्यांश के अनुवाद में भी अंगरूप से वह अलंकार जाना चाहिए। परन्तु यह न भूलना चाहिए कि अनुवाद की श्रेष्ठता का निर्णय प्रधानतः रसव्यञ्जना के आधार पर होगा और अलंकार का प्रश्न रस के मुकाबले गौण हो रहेगा।

छन्द

काव्य में छन्द का कोई अपरिहाय स्थान नहीं माना गया। कारण यह है कि छन्द ऐंद्रिय सबदन मान है, अर्थात् इसका आत्मा में जान, इच्छा और प्रयत्न रूप अघातक वृत्तियाँ पदा करने में कोई उपयोग नहीं है। बिना काव्य के भी इसका प्रयोग किया जा सकता है और केवल जानवृत्ति पदा करनेवाली गाम्भीर्य रचना का भी छन्दबद्ध किया जा सकता है। आयुर्वेद, गणित, आदि में जनक सस्कृत ग्रन्थ छन्दोबद्ध है। हिंदी में अनेक सृष्टियाँ छन्दबद्ध हैं—य नोतिगास्त्र और वाचागास्त्र की रचनाएँ केवल छन्दबद्ध हान के कारण कभी-कभी कविता के क्षेत्र में सम्मिलित होती हैं। दण्डपत्रकार में नत्त का ताल और लय के आश्रित बताया है नृत्त ताललयाश्रितम् (दण्डपत्र, १६)। यह नृत्तात्मक स्वरूप ही छन्द का है। नत्त भाव या पदाय पर आश्रित नृत्य सं, तथा रस या वाक्याय पर आश्रित नाट्य सं, भिन्न होता है। यह भाव या रस नहीं पैदा करता—केवल एक विशेष प्रकार का तालनयारमक इन्द्रिय-मवेदन पदा करता है। यही बात तालनयारमक छन्द के बारे में है। परन्तु इस कथन पर सहमति नहीं किया जा सकता कि छन्द भी रम्यजना में सहायक होता है। स्वयं श्री मम्मटाचार्य ने वाक्यगत दापों में हत वृत्तता दाप गिनाया है। उनका कथन है कि छन्द रस के अनुकूल होना चाहिए, प्रतिकूल नहीं। प्रतिकूल छन्द दोष है।

छन्द वस्तुतः वाक्य की विशेषता है, और इसे 'पदैकदेशरचनावर्णव्यपि रमादय' के 'रचना' के अन्तर्गत गिना चाहिए।

यद्यपि काव्यशास्त्रियों ने छन्द का काव्य के प्रमग में सम्मिलनीय नहीं माना, फिर भी छन्द को काव्य का परिचायक मानने की धारणा बड़ी व्यापक है। बहुत बार केवल छन्द दण्डकर रचनाओं को कविता या काव्य मान लिया जाता है। तत्काल-व्यवहार में तो यह भावना सर्वत्र प्रचलित है।

सब धृष्टिए तो यह भावना नई नहीं, बहुत ही पुरानी है। आदिशिवि वात्मीकि क स्वता स्फुट उद्गार

मा निपाद प्रतिष्ठात्वमगम गावती समा ।

पार्थीवमिथुनादमकपी काममाहितम् ॥

—श्रीशिव रानावग्नु, २ १५

का प्रथम अन्तर या लौकिक काव्य मानन हुए इसकी छन्दोमयता का ही विशेष ध्यान दिया गया था।

छन्द का महत्त्व

छन्द का कविता में साथ अमिन्न करने की इस प्रवृत्ति का एक विशेष कारण है। कविता में मापारणतया भाव और रस प्रदान होता है। रस में अनेक अनुकूल संचारी भाव दाप भर के लिए आन है और फल जान है। शांति भावों की यह अवस्था चित्त में सरलता या द्रव्य साती है। छन्द इस सरलता या द्रव्य के अतिरिक्त रूपों का स्यात्मा तालमात्रा

द्वारा जाड़े रखता है, जिससे व अनेक ध्वन्यायी भाव एकत्र समष्टि होकर चित्त को अधिक स्थायी आत्माद प्रदान करते हैं। अनेक भावकणा को छंद एक तरंग के रूप में बाधे रहता है। जब छंद, भावकणों के स्थान पर, जान बणा को बाधकर प्रस्तुत करता है, तब इस बाधन और भावबाधन में सादृश्य होने से किसी रचना को अनेक छंदों के कारण बबिता कह दिया जाता है और काव्य समझ लिया जाता है।

छंद का स्वरूप

‘छंद पादौ तु वेदस्य (शिक्षाप्रश्न ३१७) कहकर पाणिनि ने छंद का प्रयाजन और काय स्पष्ट किया है। छंद वेद का पर है जान के प्रेषण, म्यानांतरण या गति का साधन है। इस साधन का महत्त्व इतना अधिक हुआ कि छंद वेद का नामांतर ही हो गया।

स्वरूप निर्धारण का प्रयत्न करते हुए ऋग्वेदसर्वानुक्रमणिकाकार ने यदभरपरिमाण तच्छंद कहा, अर्थात् अक्षरों के परिमाण को छंद कहने हैं। इसकी पुष्टि पिंगल च्छंद सूत्रम में की—‘छंदः सन्वेनाक्षरसंख्यावच्छंदो नाभिधीयते (अ० २ सूत्र० १ की वृत्ति)। किंतु यह परिभाषा केवल वृद्धा में प्रयुक्त छंदों के लिए है। अन्य छंदों में अक्षरों की संख्या ही नहीं लघु-गुरु की तरंग या लय भी रहती है। पहले वदेतर छंद के प्रकट करनेवाले महर्षि वाल्मीकि स्वयं छंद की इस विशेषता पर प्रकाश डालते हैं

पादबद्धोक्षरसमस्तं त्रीलयसमवितं ।

श्लोकात्तस्य प्रवृत्तौ मंश्लोको भवति नायथा ॥

—वाल्मीकि रामायणम् २ १८

यहां पादबद्धता, ‘अक्षरसमता और ‘त्रीलयसमवितता’ ये तीन विशेषताएँ लक्ष्य की गई हैं। इन तीन का छंद का शरीर की विशेषता कह सकत हैं। चौथी विशेषता, जो छंद की आत्मा है श्लोकात्तस्य प्रवृत्तता है—श्लोक भाव की तीव्रता होने पर छन्द का निमाण हुआ है।

श्री मधुसूदन सरस्वती ने प्राणमानाच्छंद^१ परिभाषा करते हुए मापने की तीन पद्धतियाँ—गिनती, तोल और लम्बाई—के आधार पर अक्षर छंद गणच्छंद और मात्रिक जातियाँ का व्याख्यान किया है।

का० पुत्तलाल शुक्ल की परिभाषा यह है

अक्षरों बखरीधारा मानावर्णस्तंरगिता ।

लयच्छन्दं सुविद्यते लघुगुणानि तानि नो ॥^२

वस्तुतः छंद प्राण की लय और मात्रा (या माप) अथवा लयतालबद्ध बखरी है। लघुगुरु क्रम ही लय है, जिससे प्राण में साम्य की स्थापना होती है। चार पाद चार ताल हैं। लघु और गुरु भारसूचक शब्द हैं। इस भार का बलाघात भी कहते हैं। संस्कृत और हिंदी (खड़ी बोली) साहित्य में यह भार या बलाघात माना के स्वरूप के अनुसार चलता

१ पिंगलच्छन्द सूत्रम्—भूमिका ।

२ आधुनिक हिंदी काव्य में छन्द योजना पृष्ठ ३१ ।

है—ह्रस्व मात्रा लघु दीर्घमात्रा गुरु, परंतु मयुक्त व्यंजनध्वनि से पहले वाली ह्रस्व मात्रा गुरु, अनुस्वार और विसर्ग वाली ह्रस्व मात्रा भी गुरु। व्रज, उर्दू तथा अंग्रेजी आदि भाषाओं में पद्य में यह भार सदा मात्रा के अनुसार नहीं होता। अनेक छंदों में यह लय के अनुसार ढाला जाता है जिसमें दीर्घ मात्रा का लघु और ह्रस्व मात्रा का गुरु उच्चारण हो जाता है। उदाहरण के लिए

मुख मारि निहारत पाछें जब रद कंध सा एक लगावत है।^१

यहां पाछें और कंध सा के 'छें' और 'सा' में दीर्घ स्वर होते हुए भी बोलते हुए भार कम करके लघु रखने पर ही लय रह पाती है। अक्षरछंद वैदिक तथा वत्त, दो प्रकार के होते हैं। वैदिक अक्षरछंद में लय विवक्षित नहीं होती। वत्ता, गणच्छन्दों और मात्रिक छन्दों में लय विवक्षित होती है। परन्तु वत्तो और गणच्छंदों में यह पूणतया नियत और मात्रिक जातियों में साधारणतया नियत होती है।

नाटयशास्त्रकार भरत ने ठीक ही लिखा है कि ऐसा कोई वचन नहीं जो छंद-रहित हो।^२ परंतु वहां उनका अभिप्राय शास्त्रीय मयायता का महत्त्व समझाने का है। एकाक्षर पाद वाल उक्त नामक छंद में वह लय नहीं आ पाती जो भावव्यंजना की सहायक हो।

पदबंध के दो भेद—ध्रुवपद और निबद्धपद—करते हुए नाटयशास्त्रकार ने निबद्ध-पद का वर्णन इस प्रकार किया है

नियतांगरसम्प्रधे छंदोयतिसम्बितम्।

निबद्ध तु पद नैव सतालपतनात्मकम् ॥

—भा० शा० १४ ३३

अर्थात् जिस पदबंध में अक्षरों का नियत क्रम से सन्निवेश हो, निर्दिष्ट छन्द (या माप) और यति हो, तथा ताल के अनुसार (पाद) हो, उस पदबंध को निबद्धपद कहते हैं।

संक्षेप में हम प्रकार कह सकते हैं कि भाव की तीव्रता के समय, लय और ताल में बद्ध प्राण की मात्रा का छंद कहते हैं।

उक्त परिभाषा से स्पष्ट है कि भाव की तीव्रता के भेद से छन्दा में लय (द्रुत, मध्य, विलम्बित आदि) का ताल का और अक्षरों या मात्राओं की संख्या का भेद होना है और होना चाहिए।

छंद के विषय में आचार्यों और विद्वानों ने काव्य रचनाओं के आधार पर छन्द और भाव या रस का सम्बन्ध करनेवाले कुछ नियम निकाले हैं जिनका मारण्डा० पुत्तलाल गुप्त ने गवेषणा प्रबंध 'आधुनिक हिंदी काव्य में छंद-याचना के पृष्ठ ६६ ६७ के आधार पर यहां प्रस्तुत है

१ शकुन्तला नाटक, रास नन्दनगुप्त पृष्ठ ३३ अंक १।

२ छन्दां गान शम्भो-जिन न छन्दः शम्भो-जिनः।

विभिन्न रसों में छन्दों की अनुकूलता

शृंगार इन्द्रवज्रा, उपद्रवज्या, उपजाति वसंततिलका, मालिनी, शिखरिणी, मन्दाप्रज्ञाता, पादूलवित्रीदित वगस्थ, मत्तमयद, दुर्मिल, मदिरा, घनाक्षरी ।

आर्या गीति उद्गीति विष्णुपद, सरसी सार, मरहठा, माधवी ताटक, मानव (१४ मात्रा) बीर, दोहा, चौपाई, रोला, राधिका, हरिगीतिका, पीयूषवर्षी, प्लवगम, अरिल्ल शृंगार, पदरि पादाकुलक, योग, हाकलि, सीता, चौपाई त्रिलोकी, सखी बीर, विधाना रूपमाता, मधुमालती माधवमालती सरस्वती, कामिनी, गिप्ताल ।

वीर और रौद्र रस शादूलवित्रीदित, भुजगप्रयात शम्भरा, पञ्चामर वशस्थ, शिखरिणी बीर, अरिल्ल छप्पय रोला, हरिगीतिका, अमृतध्वनि मोतियदाम, कुडलिया, नाराच पदरि घाटक, घनाक्षरी, त्रिलावी, पदरि और घनाक्षरी पर आधित मुक्त छन्द ।

कृष्ण मन्दाप्रज्ञाता, द्रुतविलम्बित, शिखरिणी, वगस्थ, मालिनी शादूलविक्रीटित, हरिणी, शालिनी श्योदता ।

वतालीय आर्या पुष्पिताग्रा मानव, ताटक हाकलि पीयूषवर्षी हरिगीतिका, रूपमाला सखा, प्लवगम, रोला, चौपाई, विष्णुपद, सार, पादाकुलक, त्रिलोकी सुमेरु, चमिला, विधाना, सरसी, शृंगार, चौपाई, मधुमालती सरस्वती कामिनी, माधवमालती, सवैया ।

हास्य दोषक (? मम्मट), कवित्त सवैया, ताटक (? भानु, वामन) हरिगीतिका शृंगार, चौपाई ताटक योग सरसी, माधवी ।

बीभत्स रोला, घनाक्षरी, छप्पय, दोहा चौपाई, सवैया ।

भक्ति शिखरिणी अनुष्टुप् वसंततिलका, घाटक, शादूलवित्रीदित शम्भरा, भुजगप्रयात, इन्द्रवज्रा, पञ्चामर ।

चौपाई, दोहा पद, भजन (विष्णुपद सार, सरसी और रूपमाला के आधार पर) नाराच रोला, त्रिभगी, दुर्मिल, चौपाई अरिल्ल, ताटक, दडक, भूलना, हरिगीतिका, पदरि, शृंगार ।

वात्सल्य पद ताटक चौपाई, चौपाई अरिल्ल, हाकलि, सखी शृंगार सार, घनाक्षरी आर्यागीति मिताक्षरी ।

शांत मन्दाप्रज्ञाता द्रुतविलम्बित शिखरिणी, वशस्थ दोहा चौपाई सोरठा, रोला, चौपदा रूपमाता कुडली, सखी, सबद (पद) हरिगीतिका, मोहिनी त्रिभगी, भूलना ताटक अक्षण पदरि दडक बीर मरहठा, माधवी, सरसी, चतुष्पदी, सरस्वती, शक्तिपूजा, योग गोपी, मानव और घनाक्षरी ।

प्रकृति चित्रण और रूपचित्रण—द्रुतविलम्बित मन्दाप्रज्ञाता, वशस्थ, रोला, त्रिलोकी ताटक पादाकुलक चतुष्पद पीयूषवर्षी, राधिका, सार, रूपमाला, सरसी, शृंगार चौपाई, शृंगारहार (१६ १२ अक्षर), रोला, मानव चतुष्पदक (१५ मात्रा, अन्त ॥ १

सारांश

वाक्य के अनुवाद की प्रक्रिया वाक्य रचना की प्रक्रिया के सदृश है ।

वाक्याय वस्तु अलंकार, भाव और रसरूप होता है । वस्तु-अलंकार वाच्य भी होते हैं, व्यंग्य भी । भाव और रस व्यंग्य होते हैं ।

रस भावप्रधान वाक्य या प्रबंध उत्कृष्ट वाक्य कहलाता है ।

अलंकार, भाव और रसरूप वाक्याय के अनेक भेद हैं ।

यह वाक्याय जिन शब्दों से गृहीत होता है, उन्हें वाक्य कहते हैं । प्राण की मात्रा और लघु-गुरु स्वर की नियमित तरंग छन्द कहलाती है । यह तरंग भावरसरूप वाक्याय के अनुकूल या प्रतिकूल हो सकते हैं ।

अनुवाद प्रबंध की परीक्षा करने के लिए मूल प्रबंध के ठीक वाक्याय उसके सहायक या बाधक गुण दाप, और छन्द को जानना और अनुवाद प्रबंध के वाक्याय और छन्द आदि से तुलना अपेक्षित है ।

नाटक का स्वरूप और अनुवाद की समस्याएँ

अभिनेय काव्य को नाटक कहते हैं।^१ दूसरे शब्दों में नाटक में अभिनय द्वारा वाक्याथ का यजना की जाती है।^२

पिछले अध्याय में बताया जा चुका है कि काव्य रसप्रधान वाक्य होता है। नाटक के वाक्यरूप का पाठ्य कहते हैं। जब वह पाठ्य गान के लिए होता है तब उसे गीत कहा जाता है। पाठ्य का ही जग, नपथ्य (वेप) और सात्त्विक भावों से अभिनय किया जाता है, जो रस का व्यञ्जक होता है।

पाठ्य, गीत अभिनय और रस से मिलने पर सर्वांगपूर्ण नाटक होता है जमा कि भरतमुनि ने लिखा है

एव सन्तुष्य भगवान् सबदाननुस्मरन् ।
नाट्यवेदं ततश्च त्रे चतुर्वेदागसम्भवम् ॥
जग्राह पाठ्यमभेदात् सामभ्या गीतमव च ।
यजुर्वेदादभिनयान् रसानाथवणादपि ॥

—ना० शा० १/१६-१७

अर्थात् नाट्यवेद के चार अंगों—पाठ्य अभिनय, गीत और रस—का जन्म त्रयश चार वेदों—ऋक् यजुष साम और अथर्व—से हुआ।

रस के सम्बन्ध में काव्य के प्रसंग में पिछले अध्याय में चर्चा की जा चुकी है। अभिनय करनेवाले नायक जादि पात्र होते हैं। नाटक की दृष्टि से गीत के भेदों का उल्लेख इस अध्याय में किया जाएगा।

नाटक में, जसा कि अभी कहा गया वाक्याथ का अभिनय होता है। यदि केवल पदार्थ का अभिनय हो तो उससे रस की व्यञ्जना नहीं हो सकती—वह भाव मान की व्यञ्जना कर सकता है। इस प्रकार के अभिनय को नृत्य कहते हैं। यदि अभिनयरूप मात्र-विक्षेप केवल ताल अर्थात् कालसाम्य और लय के आश्रित हो, तो वह नर्त कहलाता है।^३ यही ताललयात्मकता छन्द में भी होती है (देखो खंड ३) और छन्द का प्रभाव वही

१ नाट्यद्वय १२।

२ ना यशारत्न, १४२।

३ अन्यद्भावाथ नृत्य न च ताललयाश्रितम् । शान्ति पदार्थभिनय ।

होता है जो नत्त का—अर्थात् वह भाव या रस का व्यञ्जक नहीं होता, उनकी व्यञ्जना में महायक मात्र होता है।

दण्ड्यकार ने नाटक या रूपक के केवल ये दस भेद माने हैं १ नाटक, २ प्रकरण, ३ भाण, ४ प्रहसन, ५ डिम्ब, ६ व्यायोग, ७ समवकार, ८ वीथी, ९ अफ, १० इहामग।

नाटक मप्रकरण भाण, प्रहसन डिम्ब।

व्यायोगमयकारी वीथ्यवेहामूया इति ॥

—दशरूपक, १८

इनके अतिरिक्त डाप्पी, श्रीगदित, भाणी, भाण, प्रस्थान, रासक, वाक्य—ये सात नर्य के भेद हैं।

नाट्यदर्पणकार ने नाटक के इन दस भेदों के अतिरिक्त दो और भेद नाटिका और प्रकरणों भी माने हैं।

नाटक प्रकरण च नाटिका प्रकरण्यथ।

व्यायोग समवकार भाण प्रहसन डिम्ब ॥

अथ ईहामगो वीथी

—नाट्यदर्पण १ १-४

इन दस या बारह प्रकार के नाटकों में परम्पर भेद करनेवाली तीन विनियमिताएँ हैं—कथावस्तु (या पाठ्य), नेता या मुख्य पात्र और रस।^१

इनमें पहला स्थान वस्तु का है और वस्तु के गठन या विधान का नाटक में बड़ा महत्त्वपूर्ण स्थान है।

वस्तु या इतिवृत्त

नाटकीय कथावस्तु या इतिवृत्त को भरतमुनि ने नाट्य का गरीर कहा है। इस गरीर में पांच संधियाँ या कथावस्तु के खंड होते हैं

इतिवृत्त तु नाट्यस्य शरीर परिकीर्तितम्।

पञ्चमि संधिभिस्तस्य विभाग संप्रकल्पित ॥

—ना० शा०, ११ १

इस प्रकार पांच संधियाँ वाले कथानक को इतिवृत्त नाम दिया गया है। ऊपर दिए गए श्लोक की व्याख्या करते हुए आचार्य अभिनवगुप्त ने लिखा है 'तु गच्छे व्यतिरेके—कथामाप्रस्थानाभिनयस्य तावद् वृत्तमात्रं शरीरं, मन्त्रीयस्य रमिनयस्य इति एक प्रकारत्वात् यदुपस्थाप्य वृत्तं अत्र एव निवृत्तं गच्छाच्च तद्वस्तु गरीरं रम्यं पुनरागमात्'। अर्थात् वृत्त ता प्रत्यक्ष वाक्य के गरीर को कहते हैं वह अभिनेय हो न या हा। इतिवृत्त यदि उस नाटकीय कथावस्तु के लिए आता है जो विभिन्न प्रकार से बाट-धाँटकर बनाई गई है।

१. कथु मेरु रसगर्भं भवति।

—दशरूपक १ ११

इतिवृत्त के दो भेद होते हैं आधिकारिक और प्रासंगिक। आधिकारिक का अर्थ है मुख्य और प्रासंगिक का अर्थ है सहायक। दशरूपककार के अनुसार, अधिकार शब्द का अर्थ है फल की प्राप्ति। फलप्राप्ति तक का मुख्य व्यापार किए जाते हैं उनका वक्त आधिकारिक कहलाता है। फलप्राप्ति के सहायक कार्यों का वक्त प्रासंगिक वृत्त कहलाता है।

पाच कार्यावस्थाएँ

जो फल प्राप्त करना होता है उसकी प्राप्ति में पाच अवस्थाएँ अवश्य होती हैं प्रारम्भ, प्रयत्न, प्राप्त्यागा नियताप्ति और फलयोग।

जो फल प्राप्त होना है उसके प्रति औत्सुक्य पदा होना प्रारम्भ कहलाता है। उसकी प्राप्ति के लिए किए जा रहे व्यापार तथा अत्यधिक औत्सुक्य का प्रयत्न कहते हैं। जब फल की प्राप्ति की कुछ आशा हो जाती है, तब प्राप्त्याशा या प्राप्तिसम्भ अवस्था होती है। जब फल प्राप्ति होने का निश्चय हो जाता है तब नियताप्ति अवस्था होती है और जिसमें फल प्राप्त हो जाता है वह अन्तिम फलयोगावस्था होती है।

ये पाच अवस्थाएँ अलग-अलग प्रकार की और अलग अलग काल में होती हैं पर इन्हें एक-भाव से विन्यस्त किया जाता है, अर्थात् परस्पर सम्बद्ध करके एकीकृत किया जाता है। वस्तुतः नायक का प्रत्यक्ष सम्बन्ध तो फलयोगावस्था से ही होता है परन्तु दशकों की प्रत्येक अवस्था प्रारम्भ आदि के रूप में स्पष्ट दिखाई देती है और यह अवस्था निर्देश दशक की अनुभूति की दृष्टि से ही समझना चाहिए।

उपयुक्त पाच अवस्थाएँ इतिवृत्त के एक एक खण्ड या संधि में दिखाई जाती हैं। पाच संधियाँ ये हैं मुख, प्रतिमुख, गम, विमश या अवमश और निवहण। 'मुख' संधि में प्रारम्भ नामक कार्यावस्था होती है प्रतिमुख संधि में प्रयत्न नामक कार्यावस्था रहती है 'गमसंधि' में प्राप्त्यागा अवमश संधि में नियताप्ति, और 'निवहण' संधि में फल योगावस्था आती है।

ये पाच संधियाँ प्रत्येक प्रकार के नाटक में इतिवृत्त में नहीं होती। चार संधियाँ बाले इतिवृत्त में चौथी अर्थात् अवमश संधि का लोप कर दिया जाता है। इसी प्रकार तीन संधियाँ बाले इतिवृत्त में तीसरी और चौथी—गम और अवमश—का, तथा दो संधियाँ बाले इतिवृत्त में दूसरी, तीसरी और चौथी—प्रतिमुख, गम और अवमश—का लोप कर दिया जाता है। संधियों का लोप होने पर उस संधि वाली कार्यावस्था भी नाममात्र की आँधी विस्तार से नहीं।

उपयुक्त नियम केवल आधिकारिक वृत्त के लिए है। प्रासंगिक वृत्त तो आधिकारिक वृत्त का सहायक मात्र होता है। इसलिए उमम जैसे भी कोई संधि ठीक बैठे, वैसे ही उसे जोड़ देना चाहिए।

पाच अथप्रवृत्तियाँ

इतिवृत्त में पाच संधियाँ और पाच कार्यावस्थाओं की तरह पाच अथप्रवृत्तियाँ

हानी है। अथप्रवृत्ति का अर्थ, आचार्य अभिनवगुप्त के अनुसार, 'फलप्राप्ति के उपाय है। पाच अथप्रवृत्तियाँ हैं बीज, बिन्दु, पताका, प्रकरी, काम।

आचार्य अभिनवगुप्त ने, और उनका ही अनुसरण करते हुए नाट्यदणकार रामचन्द्रगुप्त ने, अथप्रवृत्तियों के पहले दो भेद किए हैं जड़ और चेतन।

जड़ के फिर दो भेद हैं मुख्य कारण और गूढ़तर। मुख्य कारण तो 'बीज' कहलाता है और गूढ़तर का 'काय' कहते हैं जिसका अर्थ है करणीय या प्रयात्तव्य।

चेतन भी दो प्रकार का है मुख्य तथा उपकरणभूत। उपकरणभूत फिर दो प्रकार का है स्वायत्तसिद्धि से युक्त और परायत्तसिद्धि से युक्त। इन तीन में स प्रथम का 'बिन्दु', द्वितीय का 'पताका' और तृतीय को 'प्रकरी' कहते हैं।

य भेद और उपभेद किस प्रयोजन ने किए गए हैं, यह स्पष्ट नहीं होता।

'बीज' उम वस्तु को कहते हैं जिसमें नायक का प्राप्त होनेवाला फल का स्वल्प निर्देश होता है। यह बीज फलप्राप्ति पथ के सार इतिवृत्त में व्याप्त रहता है। यह वहीं उपाय रूप, वहीं फलमात्र, वहीं दोनों रूपों में होता है। फल भी वहीं उपादानरूप कहें हम चाहे कि निवृत्त रूप और वहीं दाना रूप में होता है। वहीं यह नायक के आश्रय से, वहीं प्रतिनायक के आश्रय से और वहीं अय प्रकार में होता है। शाकुन्तल में फलरूप बीज चरित्रों पुत्र की प्राप्ति है जो मुनियों के आशीर्वाद के रूप में प्रथम अक्ष में आता है।

'बिन्दु' उस वस्तु को कहते हैं जो घटनाक्रम के भाग चलन पर प्रयोजन विच्छेद लावती है। इसका अर्थ यह है कि आधिकारिक घटनाओं को परस्पर जोड़ने के लिए जा प्रामाणिक बस रख जाते हैं उन्हें बिन्दु कहते हैं।

'पताका' उस वस्तु का कहते हैं जो दूसरे का प्रयोजन सिद्ध करने के लिए होता है, और प्रधान वृत्त का उपकारक होता है, साथ ही अपने नायक का भी कोई फलप्राप्ति कराना है। पताका का नायक बीज में निहित फलप्राप्ति में महायक होता है।

'प्रकरी' उम वस्तु का कहा है जो मुख्य नायक का फलप्राप्ति कराने में महायक होता है, पर अपने नायक को कोई मिट्टि नहीं कराता।

काय उम वस्तु का कहते हैं जो फलप्राप्ति कराने के प्रयोजन में रखा जाता है।

य पाच अथप्रवृत्तियाँ प्रत्येक इतिवृत्त में हानी आवश्यक नहीं, न इनका यह क्रम है निश्चित है। फिर भी बीज का पहला और काय का अन्त में होना निश्चित है। पताका और प्रकरी का प्रयोग आवश्यकता के अनुसार होता है।

पाच संधियाँ

ऊपर बताया जा चुका है कि प्रधान वस्तु के पाच अर्थ या संधियाँ होती हैं: मुख्य प्रतिमुख, गन्, विमर्श, और निवृत्त वर्तमाना है, और इनमें प्रत्येक प्रारम्भ या पाच कार्याभ्यास आती है।

जिस वृत्त में बीज की उन्नति होती है उस 'मुखमधि' कहते हैं। यह बीज भाग घटकर अनेक अर्थों और रंगों में रूप में परिवर्तित होता है। इस मुखमधि

कहते हैं क्योंकि यह कान्य शरीर में मृग्य के समान सत्रम पहले हाती है।

‘प्रतिमृग्य मधि वह वत्ताश है जिसमें बीज बढ़ने लगता है—अर्थात् फलप्राप्ति के लिए कुछ व्यापार होने लगता है, पर उस व्यापार में बीज दिखाई नहीं देता। या सम भिए जैसे बीज पृथ्वी पर रखने के बाद उसके ऊपर मिट्टी डाल दी—मिट्टी डालना फल प्राप्ति की निशा में किया गया व्यापार है, पर उससे बीज छिप जाता है।

इसके बाद जब बीज नहीं दिखाई देने लगता है, और नहीं छिप जाता है और फिर बिंदु के द्वारा पकड़ा जाता है, तो वह वत्ताश ‘गम कहलाता है। इसमें फलप्राप्ति के लिए किए जा रहे प्रयत्नबाहुल्य से बीज बार बार छिपता जाता है पर बिंदु द्वारा पकड़ा जान से फलप्राप्ति की आशा हो जाती है।

जिस वत्ताश में फलप्राप्ति के विषय में शोध विपत्ति आदि के कारण कुछ सदेह पैदा हो जाए (पर हमारे विचार से, वह अधिक प्रबलन है) उसे ‘विमग या ‘अवमग’ सधि कहते हैं। यह बात कुछ विचित्र सी लगती है कि जिस वत्ताश में फलप्राप्ति में सदेह पैदा हुआ है उसमें नियताप्ति नामक बाधावस्था होती है। इसका समाधान यही प्रतीत होता है कि इसी सधि के अंतर्गत सदेह का निवारण करनेवाली घटनाएं आ जाती हैं जिससे सदेह नहीं रहता। इन विचार की पुष्टि इस तथ्य से भी होती है कि अवमग सधि के जो तेरह अंग या हिस्से हैं उनमें म्यारहवा अंग प्ररोचना है जिसमें किसी सिद्धपुरुष का भविष्य विषयक कथन होता है जो सदेह का निवारण करने नियताप्ति बाधावस्था ला देता है।

अन्तिम ‘निवहणसधि’ में पहले आए सब सूत्रों का इकट्ठा करके फलप्राप्ति कराई जाती है।

इस प्रकार हमने नाटकीय वस्तु में सधिया कायावस्थाओं और अथप्रकृतियों का निरूपण किया। प्रश्न यह है कि सधिया और अथप्रकृतियों में क्या भेद है और कार्यावस्थाओं का क्या अभिप्राय है।

पञ्चकत्रय पर विभिन्न मत

इतिवत्त के निर्माण में प्रयुक्त इन तीन पञ्चकों के स्वरूप के बारे में विद्वानों में बड़े पुराने समय से मतभेद चले जाते हैं।

दशरूपक और अवलोक टीका के अनुसार, पांच अवस्थाएँ आरम्भ, यत्न, प्राप्ति, अशा, नियताप्ति और फलागम हैं। इनका यह विचार भी प्रतीत होता है कि ये अवस्थाएँ नायक या मुख्य पात्र आदि के मन की अवस्थाएँ होती हैं।^१

अवस्थाओं के बारे में दशरूपककार से पहले, आचार्य अभिनवगुप्त का भी यही मत रहा मालूम होता है। आपने ‘अभिनवभारती’ में लिखा है

१ धनजय धनिक दशरूपकम्, प्रथम प्रकाश कारिका १६-२१

२ भौतसुखमानं पशु यद्वर्जितं निवृत्तम् ।

मदतं फलयोगस्य च पञ्चारम्भ इत्येते ॥

डा० कीय का कहना है कि अथप्रकृतियाँ का वर्गीकरण सम्भवतः अनावश्यक है।^१

डा० भालाशंकर 'याम' अथप्रकृतियों को 'नाटकीय वयावस्तु' का जीषादानिक विभाजन मानते हैं। आपका कहना है कि "जहाँ भी य पाँच अथप्रकृति होंगी, कथा का ढाँचा सड़ा हो जाएगा।

तो, अथप्रकृतियाँ का ठीक स्वरूप क्या है ?

सधि

सधि के रूप के बार में दशरूपककार ने लिखा है
अथप्रकृतयः पञ्च पञ्चावस्थामभिविता ।
यथासत्पन जायन्ते मुखाद्याः पञ्च मधयः ।
अतरैकायसमधः सधिरवाचयः सति ।

—प्रथम प्रकृति २२ख-२३ कारिका

अर्थात् पाँच अथप्रकृतियों के क्रम से पाँच अवस्थाओं से मिलने से क्रमशः मुख आदि पाँच सधियाँ बन जाती हैं। एक प्रयोजन में सम्बद्ध कथाओं को किसी दूसरे एक प्रयोजन से सम्बद्ध किया जाए तो वह सबध सधि कहलाता है।

सधि के स्वरूप के विषय में दशरूपककार की यह भावना उनके अपने ही बाद के कथना से असंगत है। गमसधि का लक्षण करते हुए आपने लिखा है

गमस्तु दृष्टनष्टस्य बीजस्यावयवमुत्तु ।
द्वादशाङ्गं पलाकाभ्यान्तवाभ्यात्प्राप्तिसम्भवः ॥

—प्र० १ ३६ कारिका

अर्थात्, गमसधि में पनाका हो भी सकती है और नहीं भी पर प्राप्तिसम्भव अवस्था अवश्य हानी चाहिए।

इसी प्रकार आपके अवमश और निबहण सधियों के लक्षणों में क्रमशः प्रकरी और काम नामक अथप्रकृतियों का उल्लेख होना चाहिए था पर नहीं है

त्रोधेनावमृशेदयन व्यसनाद्वा विलाभनात् ।
गमनिभिनबीजाय मोऽवमश इति स्मृतः ॥

—प्र० १ ४३ का०

बीजवतो मुखाद्यर्था विप्रकीणा ययायथम् ।
ऐवाध्यमुपनीयते यत्र निबहणं हि तत्र ॥

—प्र० १ ४८ ख, ४९ क का०

फिर इनके सधि के लक्षण के अनुसार प्रतिमुखसधि में विदु नामक अथप्रकृति आनी चाहिए, पर अवलोक टीका में विदु का जो उदाहरण रत्नावली से दिया गया है, वह

१ The classification of elements of the plot is perhaps superfluous beside the junctures A. H. Keith *The Sanskrit Drama* Oxford University Press p 299

प्रतिमुखसंधि का नहीं, मुखसंधि का है।

दशरूपककार के संधि के लक्षण में भी उनके अपने ही बाद के कथन से कुछ असंगति दिखाई देती है। १ २३ में संधि की एक सम्बन्ध बताया गया है और ३ २५ ए, २६ क में इसे विभाग या गड कहा गया है

आद्यतमेव निश्चित्य पञ्चा तद्विभज्य च।

महण सविज्ञानश्च विभागानपि खटयत ॥

—३ २५ ए २६ क

दूसरी ओर, नाट्यशास्त्र,^१ अभिनवभारती और नाट्यरत्न^२ तीनों इस बात में एकमत हैं कि पाँच अथप्रवृत्तियाँ का कोई निश्चित क्रम नहीं है। साथ ही इनके मत में संधि गण वृत्त के विभाग का वाचक है।^३

हा० कौय ने संधि का अर्थ जबर बिया है जिसका अर्थ जोड़ होना है। यदि यह अर्थ माना जाए तो पाँच जोड़ लगाने के लिए छह टुकड़े हान आवश्यक हैं।

तब, संधि का वास्तविक स्वरूप क्या है ?

याथावस्था, अथप्रवृत्ति और संधि

नाटक एक महावाक्य है जिसमें एक पूर्ण क्रिया होती है। इस क्रिया का फल जिन घटनाओं और व्यापारों में प्राप्त होता है उनमें अन्विष्ट रूप को बतलाने हैं। विविध रीति से निष्पादित घटनाएँ और व्यापार इतिवृत्त कहलाते हैं।

नाटक 'वाक्य' का पढ़ना काम यह है कि वह पूर्ण क्रिया का पाँच प्रमुख क्रियाओं में बाँटे। य पूर्ण क्रिया की पाँच अवस्थाएँ क्या हैं और आनेवाली घटनाओं और व्यापारों से अनुभव होती हैं। एक एक अवस्था क्रम से एक एक क्यागड में आनी चाहिए। य क्यागड पाँच मधिया हैं।

उदाहरण के लिए, गानुत्तल में कवि दुष्यन्त का पुत्र प्राप्त कराना चाहता है। पुत्र प्राप्ति तक पहुँचने में य पाँच अवस्थाएँ हो सकती हैं

१ दुष्यन्त गानुत्तल का परस्पर-प्रेम, २ प्रणय, ३ विवाह गर्भाधान, ४ पुत्र जन्म और ५ पुत्र प्राप्ति।

नाटक की पूरी कहानी को पाँच एम गडों में बाँटना चाहिए कि पहले गड में भाव्य-भावना का परस्पर-प्रेम हो जाए दूसरे में प्रणय हो जाए तीसरे में विवाह और गर्भाधान हो जाए चौथे में पुत्र का जन्म हो जाए और पाँचवें में पुत्र प्राप्ति हो जाए।

अब समझिए कि नाटक ऐसा जा रहा है। प्रथम गड में दुष्यन्त और गानुत्तल का प्रथम परिचय दृश्य है। यह बीज की उत्पत्ति है और यही प्रारम्भ नामक कार्यवस्था है। दूसरे गड में वह उत्त परिचय का सप्त प्रणय में परिणत होता दृश्य है। यह बीज का उदघाटन है। यी पुत्र प्राप्ति रूप फल की प्रयत्नावस्था है। तीसरे गड में

१ अ० १६ का० २२, पृष्ठ १२।

२ प्रथम वि० ४० २८, पृष्ठ ३७।

३ नाट्यशास्त्र १३३, अभिनवभारती १३३, नाट्यरत्न १ ३७।

उस दुष्यंत और शकुंतला के विवाह और शकुंतला के गभवती होने का पता चलता है। यह बीज का उदभेद है और यहाँ पुत्र प्राप्ति रूप फल की प्राप्ति सम्भव अवस्था हुई। चौथे खंड में पुत्र के जन्म और दुष्यंत तथा शकुंतला की परस्परा मुक्तता का पता चलता है। यह नियताप्ति अवस्था हुई। पाचवें खंड में दुष्यंत का पुत्र रूप फल प्राप्त हो गया। यह फलप्राप्ति अवस्था हुई।

इन चारों खंडों का प्रथम, द्वितीय, आदि न कहकर भूख आदि नाम से कहा गया है, पर हैं ये चारों खंडों का सूचक शब्द ही।

ये अवस्थाएँ नायक आदि की मनोवृत्ति नहीं हो सकती और न ही नाटक का मनोवैधानिक विभाजन हो कहा जा सकता है। इन अवस्थाओं का नाम केवल दशक का होता है जो पहले की सब नाटकाय घटनाओं को दख और जान चुका है। यदि विमर्श संधि में नायक के मन में नियताप्ति अवस्था मानी जाए तो शकुंतला में दुष्यंत की यह अवस्था आती असम्भव है क्योंकि उसे शकुंतला और उसका पुत्र का पता अंतिम अंक के अंत में ही चलता है। दूसरी ओर दशक का छठे अंक में सानुमती व कथनांत, जो राजा के लिए अन्त्य है, शकुंतला और उसके पुत्र के होने का पता चल जाता है। इस प्रकार राजा को दुर्वास के नाम का कुछ पता नहीं जबकि दशक उस घटना से परिचित है। जब मछियारे के पास जगूठी मिल जाती है तभी दशक के लिए नियताप्ति का आरम्भ हो जाता है।

इसी प्रकार प्राप्ति सम्भव अवस्था राजा के लिए नहीं आती दशक के लिए ही आती है। राजा की मानसिक अवस्था तो यह है कि उसे निश्चय है कि शकुंतला से कभी उसका विवाह नहीं हुआ। नगर सीटन व एकाध सप्ताह बाद सत्सेकर अंत में अकस्मात् पुत्र प्राप्ति होने तक के समय में राजा के मन में न नियताप्ति अवस्था है और न प्राप्ति सम्भव ही।

यह स्थिति उन सब नाटकों में रहेगी जिनमें फलप्राप्ति है या सहायका के द्वारा होती है। उनमें नायक का यापार गौण रहता है और उसकी मनोदशा का कोई संकेत नहीं मिलता। अवस्थाओं को नायक की मनोदशा मानने से उत्पन्न इस असंगति की ओर राजा भाज का भी ध्यान गया था। पर इसके समाधान के लिए उन्होंने एक विलक्षण कल्पना कर डाली।

भोज के तीन पंचक

भाज ने चारों अवस्थाओं के तीन पंचक माने—अवस्था, संस्था और समवस्था। इनके मत से अवस्था के पांच रूप ये हैं

- आरम्भ
- प्रसव
- उद्भेद
- विचिच्छेद
- समाप्ति।

जाटव का स्वप्न और अनुवाद की समस्याएँ

और य पाच समस्याएँ नव होनी हैं जत्र फनप्राप्ति म दव का प्राधाय होना है ।

पाच समस्याएँ ये हैं

प्रारम्भ

प्रयत्न

प्राप्तिसम्भव

निम्नफल प्राप्ति

फनयाग ।

और ये समस्याएँ उम क्यावस्तु म हाती हैं जिमम पौरुष का प्राधाय हाता है । यहा 'प्र उपसग पौरुष म मूचन के लिए है ।

पाच 'ममवस्थाएँ ये हैं

प्रापना (पौरुष)

लाभ (दय)

मयाग (पौरुष)

ताग (दय)

सम्प्राप्ति ।

और य पाच ममवस्थाएँ उमम प्राधाय म होनी हैं ।^१

मोज की इस कल्पना की व्ययता हमारी उपयुक्त ध्याख्या म स्पष्ट हो जानी है ।

निष्कष यह हुआ कि दगाव क आग नाटकाय क्यानक की जो घटनाएँ आता हैं, उनगे उम य अनुभव होना है कि नामक की होनवाली फनप्राप्ति का अर प्रारम्भ हो गया अब उमर लिए प्रयत्न हाने लगा, अब उमरा मित्रता सनव हो गया अब उमरा मित्रता निश्चिन ह। गया और अब उम फनप्राप्ति हो गई ।

नाट्यगाम्भकार के कथन मे भी अवस्थाओं का यही अभिप्राय जान पन्ता है ।

नाट्यगाम्भकार का कथन है

गमाध्य फनयाग तु व्यापार कारणस्य य ।

सम्यानुपूत्या विधेया पञ्चाशस्या प्रयाक्नुमि ॥

—अ० १६, अ० ७

अर्थात्, तामर क लिए माध्य फन क कारण—यानी बत्ता महायक और दव— का जो व्यापार है यो कमा इन अवस्थाओं पर पहुँचना है । स्पष्ट है कि य व्यापार अर्थात् लिए हुए थाय, का अवस्थाएँ हैं मन की नती ।

हा० काय क निम्नलिखित उद्धरण म we have we learn आदि गग का प्रयोग प्रकट करता है कि व ना दगाव की हा चला कर रह है

Thus in the Cakuntala we have the king's first anticipation of seeing the heroine then his eagerness to find a device to meet her again, in Act IV we learn that the anger of the sage Durvasas has

in some measure been appeased and the possibility of the re union of the king and Cakuntala now exists in Act VI the discovery of the ring brings back to the king remembrance and the way for a union is paved to be attained in the following act (A. N. Keith *The Sanskrit Drama*, Oxford University Press p 298)

यहाँ एक प्रश्न पूछा जा सकता है। हमारा कहना है कि प्रारम्भ नामक अवस्था में दशक को फलप्राप्ति का आरम्भ दिखाई देता है। प्रश्न यह है कि उसे फल का गान कैसे हो गया।

इसका उत्तर है अथप्रवृत्तियों में, जिन्हें डा० बी० नीरधर बताते हैं। वस्तुतः अथप्रवृत्ति का ठीक अभिप्रायन समझपान के कारण ही डा० बी० नीरधर को यह भ्रम भी हुआ है कि शाकुन्तल का फल दुष्यन्त और शकुन्तला का मिलन है, जो त्रिवर्ग—धर्म अथ काम—में से काम के अन्तर्गत है। नाटक का लेखक दशक को सबसे पहले उस फल की सूचना देता है जो वह नायक को प्राप्त कराएगा। उस फल का दशक को गान हो जाना बाद ही उस फल की प्राप्ति की दिशा में हो रहे आरम्भ आदि का अनुभव हो जाता है। इस फल की सूचना देनेवाला वत्सखंड बीज कहलाता है जो पहली अथप्रवृत्ति है। फल और बीज में विशेष अंतर नहीं—फल के गूढ़ रूप को बीज कहते हैं। शाकुन्तल में प्रथम अंक का वह प्रथम वत्सखंड बीज है जिसमें अन्त में ऋषि राजा को चक्रवर्ती पुन की प्राप्ति का आशीर्वाद देते हैं। उस आशीर्वाद में दशक को यह पता चल जाता है कि नाटक का फल पुन प्राप्ति है जो नाटक के तीन फला—धर्म अथ, और काम—में से धर्म के अन्तर्गत आता है। इसके बाद राजा का शाकुन्तला के प्रति आकर्षण देखकर वह समझ जाता है कि पुनरूप फलप्राप्ति के लिए आवश्यक पहली आरम्भ नामक अवस्था आई है।

इससे दो बातें स्पष्ट हो जाती हैं। एक तो यह कि बीज नामक वत्सखंड आधिकारिक न होकर प्रासंगिक रूप में ही होता है और दूसरे यह कि बीज तथा आरम्भ नामक कार्यावस्था नाटक के पहले हिस्से में आने चाहिए। बीजरूप प्रासंगिक वत्सखंड तथा आरम्भ नामक कार्यावस्था लानेवाला आधिकारिक वत्सखंड मिलकर मुखसंविदा नाटक का प्रथम खंड बन जाता है। पर बीज का संबंध सारे कथानक में किसी न किसी सिलसिले से होता रहता है। उदाहरण के लिए, शाकुन्तल में पुन प्राप्ति रूप बीज का उल्लेख तृतीय अंक के अंत में पुत्रपिंड पालन व्रत वाले वत्सखंड द्वारा, चौथे में कण्व के आशीर्वाद द्वारा पाचवें में पुरोहित के चक्रवर्ती पुन की प्राप्ति विषयक उल्लेख द्वारा, और छठे में किसी सठ के निष्पुत्र मर जाने के वत्स द्वारा किया गया है।

अगला आधिकारिक वत्सखंड प्रयत्न नामक अवस्था में पहुँचाता है। पहला आधिकारिक वत्सखंड से दूसरे आधिकारिक वत्सखंड का जाड़ा के लिए छोटे छोटे प्रासंगिक वत्सखंड लाना आवश्यक हो जाता है। ये छोटे-छोटे प्रासंगिक वत्सखंड बिंदु कहलाते हैं। शाकुन्तल में दूसरे अंक के आरम्भ में विदूषक का कथन बिंदु है—यह राजा के प्रेम की बात का उल्लेख करके अतीत कथाओं से सम्बंध जोड़ देता है।

बिंदु नामक वत्सखंड आधिकारिक घटनाओं को जोड़ने के लिए सार नाटक में

एक या अधिक बार वही भी रखा जा सकता है। दशरूपककार का विचार यह प्रतीत होता है कि बिन्दु केवल प्रतिमुखसंधि में होता है। पर नाट्यशास्त्र, अभिनवभारती और नाट्यदण एकमत से यह कहते हैं कि बिन्दु सारे नाटक में होता है और जहाँ आवश्यकता हो वहाँ इसका प्रयोग कर लेना चाहिए।

बीज बिन्दु पताका च प्रकरी कायमेव च।

अथप्रवृत्तय पच पात्वा योज्या यथाविधि ॥

—नाट्यशास्त्र, १८ ११

प्रयोजनाना विच्छेदे यदविच्छेदकारणम्।

भावत् समाप्तिबन्धस्य न बिन्दु परिकीर्तित ॥

—नाट्यशास्त्र, १९ २३

बीज पताका प्रकरी बिन्दु काय यथारवि।

—नाट्यदण १ २८ क

हस्तोदयेऽनुधानजहना बिन्दुगफलात्।

—नाट्यदण १ ३२ १

पताका और प्रकरी तो प्रासंगिक वस्तु हैं ही पर ये ऐसे प्रासंगिक वस्तु हैं जिनके नायक आधिकारिक वस्तु के नायक से भिन्न होते हैं। दशरूपककार का यह कथन कि पाँच अथप्रवृत्तियाँ प्रमत्त पाँच कार्यावस्थाओं से मिलकर प्रमत्त पाँच सत्रियाँ बन जाती हैं, नाट्यशास्त्र के इस कथन से मेल नहीं खाता आगर्भान्विमग्नाद्वा पताका विनिवर्तत, अर्थात् पताका वृत्तलङ्घनसंधि में या विमग्नसंधि में समाप्त हो जाता है।

इसी प्रकार, दशरूपककार के मत में प्रकरी विमग्नसंधि में ही हानी चाहिए, पर रामायण का सवरी-वृत्तात् जा प्रकरी है सुग्रीव वृत्तान्त से जो पताका है पहले आता है। हमारे विचार में, प्रमत्त जयल दा घाना का निश्चित है। एक तो अवस्थाओं का, और दूसरे यह कि प्रत्येक अवस्था में प्रमत्त एक एक संधि में पूरी हो जाती है। अथप्रवृत्तियाँ वृत्तान्त में या कोई प्रमत्त तो नाट्यशास्त्र में माना गया है और न ही हो सकता है।

पाँचवीं अथप्रवृत्ति काय है। अभिनवभारती और नाट्यदण ने इसका अर्थ यह किया है कि जनपद, वीर, दुष्ट आदि पञ्चप्राप्त करानवासी वस्तुएँ जो साम आदि उपानम काय कहलाते हैं। हमारे विचार में, काय उस प्रासंगिक वस्तुपद को कहते हैं जो केवल फलप्राप्ति करान के प्रयाजन से नाटक में रखा जाता है। उदाहरण के लिए, शाकुन्तल में दुराज दूत को सहायता करने के लिए दुष्यन्त के पास की घटना के बाद इसलिए रणी गई है जिससे राजा का फलप्राप्ति के लिए पञ्च के निरिष्ट पट्टाया जाय। इस मतलब में काय नाम का प्रासंगिक वृत्त या पाँचवीं अथप्रवृत्ति मानना चाहिए। नाट्य शास्त्र काय का यह स्वरूप बनाना है

यथाधिकारिक वस्तु गम्यक प्राण प्रयुज्यते।

तथैव य ममारम्भमन्त्याय पञ्चिनिजान ॥

—११ २६

अर्थात् जो आधिकारिक वस्तु सम्पाद्य होता है उमर में लिए किया गया समारम्भ

‘काय’ कहलाता है। (यहा वस्तु का जय फल, गौर ‘प्रयुज्यते’ का अर्थ ‘सम्पाद्यते’ अभिनवभारती के अनुसार है)।

इस प्रकार, आधिकारिक या प्रधान वस्तु की रचना कार्यावस्थाओं के अनुसार की जाती है और अथप्रवृत्तियाँ उनके सहायक प्रासंगिक वस्तुएँ हैं। बीज विदु और काय नायक से सम्बन्धित होते हुए भी केवल प्रयोजनवशात् रखे जाते हैं, और वे फलप्राप्ति के लिए किए गए व्यापार नहीं होते। कार्यावस्थाएँ पाँच मधियाँ में प्रवेश आती हैं पर अथ प्रवृत्तियाँ का गम निश्चित नहीं है। फिर भी इतना निश्चित है कि बीज (पहली बार) मुख्यमधि में और काय निवहणमधि में आएगा।

पताका-स्थानक

पताका नामक अथप्रवृत्ति के साथ साथ पताका स्थानक नामक वस्तुएँ और उक्ति कौशल भी जान लेने चाहिए।

नाट्यशास्त्रकार ने पताका स्थानक की परिभाषा करते हुए लिखा है कि जहाँ चिन्तित अथ (प्रयोजन या उपाय) दूसरा हो पर उसके स्थान पर कोई और उपाय या प्रयोजन रखा जाए जो चिन्तित अथ का बाध कराए, वहाँ पताका-स्थानक होता है।

यत्रार्थे चिन्तितेऽयस्मिन्मन्तस्तिङ्गोऽयं प्रयुज्यते।

आगन्तुकेन भावेन पताकास्थानकं तु तत् ॥

—ना० शा० १६ ३०

पताका स्थानक चार प्रकार के होते हैं—

१ जहाँ एकाएक किसी चिन्तित फल की प्राप्ति हा जाए वहाँ प्रथम पताका स्थानक होता है (ना० शा० १६ ३१)। यह पताका स्थानक साध्यफल की प्राप्ति के कारण प्रधान पताका-स्थानक है। इसका उदाहरण रत्नावली में वह प्रसंग है जिसमें राजा वामदेवता समझकर सागरिका को बन्धन से छड़ाता है पर सागरिका का पहचानकर कहता है ‘अरे यह तो मेरी प्रिया सागरिका है’

२ जहाँ प्रवृत्त का वर्णन करते हुए किसी अन्य प्रयोजन से अतिशयोक्ति जादि द्वारा कोई ऐसा श्लेषयुक्त वचन कहा जाता है, जो प्रवृत्त के लिए उपयोगी सिद्ध होता है वहाँ दूसरा पताका-स्थानक होता है (ना० शा० १६ ३२)। इसका उदाहरण रामाभ्युपनयन तीसरे अंक में सुग्रीव का सीता के प्रति यह संदेशवचन है

बहुनात्र त्रिमुक्तेन पारेऽपि जलये स्थिताम्।

अचिरादेव देवि त्वामाहरिष्यति राघव ॥

यहाँ समुद्र पार से भी केवल अतिशयोक्ति के लिए कहा गया था पर अन्ततः सीता समुद्र पार ही मीनी और उसे वही से लाना पड़ा।

३ जहाँ एक अभिप्राय में लिया गया उत्तर गान्धर्व सांख्य के कारण दूसरे अस्फुट अर्थ का निश्चय करा दे।

इसका उदाहरण मुद्राराक्षस में

‘अपि नाम दुरात्मा राक्षसो गच्छेन।’ इस प्रकार अस्पष्ट अर्थ उपस्थित होने पर

‘(प्रविश्य) सिद्धायक —अत्र गण्डिहो’ (आय, गहीत) इस उत्तर में, जो दूसरे ही अभिप्राय से दिया गया था, शायद मादृश्य के कारण रासम-ग्रहण रूप अर्थ का निश्चय होता है। यह निश्चय प्रवृत्त अर्थ का उपयोगी होने में पताका-स्थानक है।

४ जन्म प्रवृत्त काययोजना में दा ज्यों वाला इनेषयुक्त वचन किसी अन्य वस्तु का उपयोग कर देता है, वहाँ चतुर्थ पताका-स्थानक होता है। इसका उदाहरण रत्नावली (११३) का वह प्रसंग है जिसमें,

‘प्रीत्युत्पन्नो दृग्भाषुदयनम्ये द्रोविबोद्धीक्षते —यहाँ बाव्य के आशय से प्रयुक्त दलप मागरिना का प्रवृत्तायोपयोगी इस उक्ति को जन्म देता है

“अथ मा राजा उदयनो जन्म अहं तादृशेण दिग्भा (अथ मा राजा उदयनो मस्याहं तादृशेण)।

नेता या नायक

नेता या नायक नाटकीय इतिवक्त के उभय प्रधान पात्र को कहते हैं जिस नाटकीय पत्र प्राप्त कराया जाता है। कथप्राप्ति का पात्र होने के कारण ही उसे प्रधान पात्र कहते हैं।

दम या वारह प्रकार के रूपों में प्रयोज्य नाटक नामक भेद में धीरोदात्त, धीरोद्भूत धीरवर्तिन और धीरप्रगल्भ नायक होते हैं, जो मध्यम या उत्तम वाटि कहा सकते हैं।

धीरोद्भूत नायक स्व जन्मि अमानव होते हैं। धीरोदात्त मागपति या मन्त्रा, और धीरप्रगल्भ वणिज या मित्र होते हैं। राजा नामक चार प्रकार के होते हैं।

धीरोद्भूत का अर्थ है चरित्र प्रवृत्त दृष्टवान् रूपों, और अग्रिमप्रसंग करने वाला। ‘धीरोदात्त’ अतिशयोक्ति, ‘धीरोद्भूत’, मागपतिवात् क्षमाशील और दृढ़ होता है। ‘धीरवर्तिन’ शूराग्रिम वक्राग्रमनो मुग्धा और कामल स्वभाव का होता है। ‘धीरप्रगल्भ’ अन्तर्गत रूप वृत्तानु विनयगान और नीतिज्ञ होता है।

अथ नाटक प्रकार के नायकता का विष्णु विवरण यहाँ दन की आवश्यकता नहीं। जो कुछ विवरण यहाँ दिया गया है और रंग के शिष्य में आय दिया जाएगा, उसका लक्ष्य यह है कि रंग नाटक का ध्येय है दूसरे नाटक के ध्येयवस्तु में पूरक करावाने का काम करने का। शायद हम जान चकरें यह निगम करने का एक दोम आधार प्राप्त हो जाएगा कि बाद अनुवाद नाटक सूत्र नाटक में पूरी तरह न मिलने का कारण इसका स्थानक है या पता नाटक है।

रस और नाटक-प्रकार

नाटक नामक प्रयोग रस के म गृह्य और धीर प्रधान या अग्रे रस होते हैं और रस जहाँ प्रवृत्त रस अग्रिम में रस हैं।

नाटक के अर्थ प्रसार में विभिन्न रसों की ध्येयता है विभिन्न विष्णु विवरण में प्राप्त रस।

गीत

नाटक में गीत या गान पांच प्रकार के होते हैं—प्रवेशगान, आशेषगान, निष्क्रम-गान, प्रासादिकगान, और आंतरगान। इनमें संगीतशास्त्रीय ध्रुवागान होता है।

प्रवेशाक्षेप निष्क्रमप्रासादिकमयांतरम्।

गान पंचविध नैव ध्रुवायोगसमन्वितम्॥

—नाट्यशास्त्र ६ २६-३०

नाट्य और अनुवाद

कहा जा चुका है कि 'मूलभाषा में व्यक्त वाक्याय को अनुवादभाषा में व्यक्त करना अनुवाद या भाषांतर कहलाता है।' इस प्रधान वाक्याय काव्य और अभिनय काव्य नाटक कहलाता है। जहां तक काव्य और नाटक की सामान्य विनोदनाभा का संबंध है उनके अनुवाद और उसकी समीक्षा में वही दृष्टि रहनी चाहिए जो उद्योग में काव्य के अनुवाद के प्रसंग में बताई गई है। किन्तु नाटक की कुछ अपनी विधान सम्बन्धी विशेषताएँ हैं जिनमें विशिष्ट पद-योजना या शब्द प्रयोग किया जाता है। यह विशिष्ट शब्द प्रयोग नाटक में बड़ा महत्त्वपूर्ण होता है जसा कि ऊपर दूसरे तीसरे और चौथे प्रकार के पताका स्थानका में दिखाया गया है। उसका अनुवाद करते हुए अनुवादक को कवि के विशिष्ट शब्द प्रयोग का लक्ष्य सिद्ध करनेवासी विशेषनाएँ अनुवाद में भी रखनी चाहिए। हम जागे नाटकाय रचना विधान की उन विनोदनाभा का निरूपण करेंगे जिनमें प्रयोजनवशात् विशेष शब्द प्रयोग किया जाता है।

नाटक में विशिष्ट शब्द प्रयोग

नाटक के जिन अंगों में पद योजना या वाक्य योजना विशिष्ट रखी जाती है वे ये हैं

- १ नादी,
- २ स्थापना—(i) मुखसूचन (ii) पात्रसूचन,
- ३ आमुख—
 - (i) कथोदघात—वाक्यायमूलक
 - (ii) प्रवक्तव्य
 - (iii) प्रयोगातिशय
- ४ आमुख (तथा बोधी) के अंग—
 - (i) गूढायपद उदघात्यक
 - (ii) वाक्य केली
 - (iii) गण्ड
 - (iv) नालिका
- ५ प्रवृत्ति—पात्रभाषा और आमन्त्रण शब्द

६ पाताका स्थानक

१ नान्दी

रचना विधान की दृष्टि से नाटक में पहले नान्दी, फिर पूरवग विधान, और फिर वाक्यस्थापना होती है। भरतनाट्यशास्त्र के अनुसार,

आशीवचनसयुक्ता नित्य यस्मात्प्रयुज्यते ।
देवद्विजनृपादीनां तस्मान्नान्दीति संहिता ॥

—ना० शा० ५ २४

सूत्रधार पठेत्तत्र मध्यम स्वरमाश्रित ।
नान्दी पदद्वयभिरष्टाभिवाच्यलङ्कृताम् ॥

—ना० शा० ५ १०४

अर्थात् देवताओं, ब्राह्मणों, राजाओं आदि की मंगलकामना से प्रतिदिन की जाने के कारण इसे नान्दी कहते हैं। बारह या आठ पदा वाली इस अलंकार युक्त नान्दी का पाठ सूत्रधार मध्यमस्वर में करे।

यहाँ नान्दी में आठ या बारह पद रखने का विधान है। 'ए' छन्द यहाँ सुबन्त, निडल्ल व अथ में भी है और वाक्य तथा अन्तर वाक्य में अथ में भी। जैसा कि १५७ की 'अभिनवभारती' में स्पष्ट किया गया है, नान्दी तीन छह, बारह, छह आठ, सोलह, आदि पदा या वाक्यों की होती है। आठ और बारह मध्याह्न का उल्लेख सम्वत् चतुरस्र तथा अथ रमच के अनुसार किया गया है।

अनुवाद की समीक्षा में यह देखना होगा कि अनुवादक ने नान्दी के अर्थ का अनुवाद करते हुए निर्दिष्ट पदसंख्या रखने पर ध्यान दिया है या नहीं। दूसरे, नान्दी में वाक्यांश की व्यवस्था भी होती है अतः अनुवाद से भी यह वाक्यांश व्यवस्था होनी चाहिए।

२ स्थापना—(१) मुखमूचन, (२) पात्रमूचन

नान्दी के बाद स्थापना रूप में स्थापना करता है। उसमें भी मुखमूचन और पात्रमूचन में विशेष पदयोजना की जाती है। दण्डपङ्क्ति और अवतारपङ्क्ति ने उनका इस प्रकार निर्णय किया है

त्रिचमत्वे ग तत्पौ मिश्रमयनरस्तपौ ।

मुखयद् वस्तु बीजं वा मुग पात्रमवापि वा ॥

—ना० शा० ३ ३

ग स्थापना त्रिच वस्तु त्रिच मूला मय च मयस्या भूवा मिश्र च द्विचमत्वे पारंपरा भूवा मुखयद् वस्तु बीजं मुग पात्र वा।

मुखमूचन का उदाहरण यह है

आगान्निद्रकटनिमग्नपङ्कजम् ।

प्राप्त परममय एव विन्दुमयम् ॥

उत्साह गाढतमस धनवातमुग्र ।

रामो दशास्यमिव सम्भूतवधुजीव ॥

साहित्यदमनकार विश्वनाथ के मतानुसार मुखसूचन का अर्थ है श्लेष द्वारा वस्तु की सूचना देना (मुख श्लेषादिना प्रस्तुतवत्तातप्रतिपादको वाग्विरोध) ।

—मा० द० ६ २७ के नीचे

ऊपर के श्लोक का अर्थ यह है

“विशुद्ध तथा सुन्दर यह शरत्काल जिसमें चन्द्रमा का निमल प्रकाश प्रकट हो गया है और जिसने दुपहरिया (वधुजीव) के फूलों को धारण कर लिया है, सघन अन्धकार वाले प्रचण्ड वर्षाकाल को उखाड़कर ठीक उसी तरह प्राप्त हुआ है जैसे चन्द्रमा के निमल हास से युक्त (अथवा जिन्होंने रावण के निमल चन्द्रहास (छद्म) को ध्वस्त कर दिया है), विशुद्ध तथा सुन्दर रामचन्द्र बाघवों के जीवाका फिर से सौदाते हुए अत्यधिक अनान वाले उग्र तथा सघन वाल राक्षस रावण का मारकर प्राप्त हुए हैं ।

पात्रसूचना—जस गान्धुन्तल की प्रस्तावना म—

तवास्मि गीतरागेण हारिणा प्रसन्न हृत ।

एष राजव दुप्यन्त सारगेणातिरहसा ॥

—१ ५

(हे नटी) तेरे गीत के (सारग) राग में मैं उसी तरह बलात खिंचा चला गया हूँ जैसे तज वेग वाले हरिण से यह राजा दुप्यन्त खिंचा चला आ रहा है ।

आमुख और बीधी—नट का वाद्यमूचक श्लोका संरगप्रसादन और फिर भारती वृत्ति का आश्रय लेकर प्रराचना (कायादि की प्रशंसा) करता है और आमुख (प्रस्तावना) प्रस्तुत करता है । कायायमूचन के लिए विशिष्ट पदयोजना की आवश्यकता होती है ।

आमुख के तान भेदा हैं और बीधी के तेरह जग हैं जिनमें से निम्नलिखित में विशिष्ट पदयोजना की जाती है

(१) आमुख के तीनों भेदा—कथादघात, प्रवृत्तक और प्रयोगातिशय—म, और (११) बीधी के तेरह अंग—उच्चात्यक, अवलम्बित, प्रपञ्च त्रिगत, छल, वाककेली, अधिबल, गण्ड अवस्मदित, नालिका असत्प्रलाप, व्याहार और मृदव—म से उदघात्यक, वाककेली, गण्ड और नालिका म ।

३ आमुख—(१) कथोदघात (११) प्रवृत्तक, (११) प्रयोगातिशय (१) कथोदघात

स्वेतिवत्तसम वाक्यमथ वा यत्र सूत्रिण ।

गहीत्वा प्रविशेत्पात्र कथोदघातो द्विधस ॥

—द० रु० ३ ६-२०

वाक्य यथा रत्नावल्याम्—योग वरायण—द्वीपादयस्मादपि— इति ।

वाक्याय यथा वेणीसंहारे—मूत्रधार —

निवाणवरिन्हना प्रसमादरीणा ।
नन्दतु पाहुतनया सह केशवेन ॥
रक्तप्रसाधितमुव क्षतविग्रहादव ।
स्वम्या नवतु कुरुरोजसुता समत्या ॥

— १ ७

ततो येनाह भीम —

साभागदानलविपानसमाप्रवक्ष्य ।
प्राणेषु वित्तनिधयषु च न प्रहृत्य ॥
आवृष्टपाण्डववधूपरिधाननेना ।
स्वम्या भवतु मयि जीवति धानराष्ट्रा ॥

— १ ८

(1) कथोद्घात—

अर्थात्, जिसमें पात्र सूत्रधार के ऐसे वाक्य या वाक्यांश को लेकर तदनुकूल उक्ति या प्रयोग करता हुआ रंग में प्रवेश करता है जो नाटक की कथाविस्तु की घटना के सदा घटना या घणन करती है उस प्रस्तावना का कथोद्घात कहते हैं। इस प्रकार हमके दो भेद हुए वाक्यमूलक कथाउद्घात और वाक्यांशमूलक कथोद्घात।

वाक्यमूलक कथाउद्घात—जैसे रत्नावली में—यौगंधरायण—‘अयं द्वीप म भी इत्यादि सूत्रधार के वाक्य का प्रयोग करता हुआ ही रंग प्रवेश करता है।

वाक्यांशमूलक कथोद्घात—जैसे वेणीसहार में—सूत्रधार—

जिन पाण्डवा की गन्तुपी आग बुझ चुकी है वसन्तुआ के नाग के कारण केशव सहित जान-इ करें। परिजना म मुक्त बौरव जिहानि सारी पृथ्वी को अनुरक्त और सम्पन्न कर दिया है तथा जगडे का समाप्त कर दिया है, स्वस्थ रह (विद्यन वाक्य का दूसरा अर्थ—परिजना सहित बौरव जिनका तून से पृथ्वी रंग गई है और जिनका शरीर शन विगत हो गए हैं स्वर्ग में निवास करें)।

रंग के बाद इसका (प्रथम) अर्थ का ग्रहण करके भीम यह कहता हुआ रंग में प्रवेश करता है

साभागद म आग समाकर विपद्युता अन्न कर तथा समा में हम (सूत्रधन त) जीवनर तथा तमार प्राणा और सम्पत्ति पर प्रहार करके क्या वधाराष्ट्र-मुक्त मर जौन जा स्मय रह नवन है जिहानि पाटवा की वषू द्वीपणी के वधना तथा बगा का मोचा है।’

(ii) प्रवृत्त

वाचनमाप्यममातिप्रवण स्यात्प्रवृत्तवचन ।

— ० ५ १ १०

प्रवृत्त वाचनमानुषवाचनया मूर्जितवाचनवचन स्यात्प्रवृत्तवचन
यथा—

आगतप्रवचनमिदमत्राहा ॥

प्राप्त वारम्भमय रूप विन्दुहानि ॥

उत्साह गान्तमम धनकात्मसु ।

रामा दशास्यमिव मन्मतवधुजीव ॥

अर्थात् "जिसमें ऋतु वणन की समानता के आधार पर श्लेष से किसी पात्र के प्रवेश की सूचना दी जाए यह प्रस्तावना प्रवृत्तक नहीं जाती है। जैसे—निम्नलिखित पद्य में गरुड ऋतु के वणन के साथ ही श्लिष्ट शब्दों के द्वारा राम का प्रवेश सूचित किया गया है—

विशुद्ध तथा सुन्दर यह गरुडाल, जिसमें चन्द्रमा का निमल प्रकाश प्रकट हो गया है तथा जिसमें बाधुजीव (दुपहरिया) के फूल खिल गए हैं, सघन अंधकार से पूर्ण वर्षाकाल को उखाड़कर ठीक उसी तरह आया है जैसे चन्द्रमा के निमल हास से मुक्त (अथवा जिन्होंने रावण के निमल चन्द्रहास—उद्ग—का ध्वस्त कर दिया है) विशुद्ध तथा सुन्दर रामचन्द्र बाधवा के जीवा को फिर से लौटाते हुए अत्यधिक अज्ञान (तम) वाले उग्र तथा सघन काल राक्षस रावण को मारकर आए हैं ।

(iii) प्रयोगातिशय

एषोऽयमित्युपसृष्टेपात्सूनधारप्रयोगतः ।

पात्रप्रवेशो यत्रापि प्रयोगातिशया मतः ॥

—२० सू० ३११

अर्थात् 'यह वचन आ रहा है इस प्रकार के सूत्रधार के वचन प्रयोग करने के बाद जहाँ पात्र प्रवेश करता है, वहाँ प्रयोगातिशय नामक आमुख होता है ।

जैसे शाकुन्तल में जैसे यह राजा दुष्यन्त इस सूचना के कारण प्रयोगातिशय है ।

४ आमुखाग (या वीथ्यग) (i) गूढार्थपद उद्घात्यक,

(ii) वाक्केली, (iii) गण्ड, (iv) नालिका

(i) गूढार्थपद उद्घात्यक

गूढार्थपदपर्यायमाला प्रश्नोत्तरस्य वा ।

—२० सू० ३१३

यनायोन्म समासापी द्वेधोदघात्य तदुच्यते ।

—२० सू० ३१४ (घ)

गूढार्थपद तत्पर्यायश्चेत्यत्र माला प्रश्नोत्तर चेत्यत्र वा भासा द्वयोश्चित्प्रत्युक्ती तद द्विविधमुदघात्यकम् ।

अर्थात्, 'जहाँ दो पात्रों में परस्पर इस प्रकार की बातचीत हो कि वहाँ या तो उनमें गूढार्थ पदा या उनके पर्याय (अर्थ) की माला बन जाए या फिर प्रश्न तथा उत्तरों की माला हो वहाँ त्रयस्त गूढार्थपद उद्घात्यक या प्रश्नोत्तर उद्घात्यक होता है ।

जैसे विनमोवशी नोटक में,

'विदूषक' भा वञ्जस को ऐसे कामों जेण तुम पि दूस्तिज्जस, सो किं पुरीसा आहु इत्थिज्जति । राजा—सखे,

मनाजातिरनाधीना सुखेणैव प्रवर्तत ।

स्नेहस्यललितो माय काम इत्यभिधायते ॥

नाटक का स्वरूप और अनुवाद की समस्याएँ

विदूषक एव पि पा जाणे ।

राजा वयस्य, इच्छाप्रभव स इति ।

विदूषक कि जो व इच्छादि मो त कामेदिति ।

राजा अथ किम् ।

विदूषक ता जाणिद जह अह मूत्रप्रारमात्ताए मोत्रण इच्छामि ।

अर्थात् विदूषक—हे वयस्य, वह काम कीन ह जिममे तुम भा दुखी हो रहे
ह पुरुष है या स्त्री ?

राजा मित्र,

वयस्य मन वाले लोगा के मन में पदा होने वाला वह भाव जा सुग में ही प्रवत

ता ह और वयस्य का मनोहर भाव है काम कहना है ।

विदूषक मैं अत्र नी नहीं समझा ।

राजा मित्र, वह इच्छा में पदा होना ह ।

विदूषक तो क्या जा जिमकी इच्छा करना है वह उसकी कामना करता ह ।

राजा और क्या ?

विदूषक ता ममक गवा—जम में रमोईयर म भोजन का इच्छा करता हू ।

(ii) गार्कनी

विनिवर्त्तास्य वाक्त्रेनी द्विमित्र प्रत्युक्तिनापि वा ॥

—२० म०, ३ १७

अर्थात् वाचस्पत्य प्रता वयस्य माहात्म्य विनिवर्त्तन वाक्त्रेनी द्विमित्रवा उक्ति
प्रत्युत्तरम् ।

अर्थात् जहा वाक्य का बीच में ही रोक दिया जाए, अर्थात् माहात्म्य वाक्य का
पूरा न किया जाए तथा उसके अन्तर का प्रत्युत्तर छाड़ दिया जाए तथा जहा दा या हीन
वार उक्ति प्रत्युक्ति का प्रयोग मात्रा द्वारा किया जाए वहा वाक्यकी वीर्यग होता है ।

इनमें म विनिवर्त्तवाचन वाक्त्रेनी का ही यन्त्र उपाय दिया जाएगा । 'उत्तर-

रामचरित म वागनी—

स्व जीविन स्वमनि म हृदय द्वितीय ।

स्व कौमुदा नयनयोगमृत स्वमद्व ॥

रूप्यादिनि प्रियताउत्तुष्ट्य मुग्धा ।

ताम्रन गानमपवा किमन परल ॥

—१०३

अर्थात्, 'जिम नाती माना का तू मरा जान है तू मरा दूराग हृदय है, तू मरा
माया की पान्ती है तू मरे अगा का जीवन इनसान अनृत है' इस प्रकार व गहरा
प्रिय वाक्य न प्रान किया था उस ही नुसार म हावहार या छाहा, दमन प्राप्त क्या
कहता है । यहा हावहार व बात इनसाम दे दिया यह वचन छाड़ दिया गया है ।

(iii) गण्ट—

गण्ड प्रस्तुतसम्बन्धि मिनाय सहस्रोदितम् ॥

—८० सू० ३ १८

जहाँ प्रस्तुत विषय से सम्बद्ध, पर भिन्न अर्थ वाली बात सहमा कह दी जाए, वहाँ गण्ड नामक वीध्यग होता है।

जैसे 'उत्तररामचरित' में राम—

इयं मेहे सक्षमीरियममतवतिनयनयो—

रसावस्था स्पर्शो वपुषि बहुसञ्चन्दनरस ।

अयं बाहु कण्ठे शिशिरमसणो मौक्तिकमर

किमस्मा न प्रेया यदि परमसहस्तु विरह ॥

—१ १८

(प्रविश्य) प्रतीहारी—देव उअत्थिदा । राम—अयि व ? प्रतीहारी—देवस्य आसण्णपरिचारओ दुम्मुहा ।

अर्थात् यह सीता मेरे घर की सदमी है मेरी थाछो को शीतल बन वाली अमल की बत्ती है। इसका स्पर्श अग्रा हो ऐसा शीतल लगता है उस सघन चन्दन का लेप। सीता का यह बाहु कण्ठ में शीतल चिकनी मोतियों की माला जसा लगता है। सीता की कान सी चीज प्यारी नहीं लगती। बस जसह है तो इसका निरह ही।

(प्रवेश करके) प्रतीहारी—महाराज आप पहुँचा। राम—अरी कौन ? प्रतीहारी—महाराज का निजी सेवक दुमुत्त ।

(iv) नालिका—

सोपहासा निगूढार्था नासिकव प्रहसिका ।

—८० सू० ० १९

अर्थात् 'हास्य से युक्त छिप अर्थ वाली गहली भरी उक्ति को नालिका वीध्यग कहते हैं। जैसे मुद्राराक्षस में—

"चर—हहा वह्मण मा कुप्प । किं पि तुह उवज्झमाओ जाणादि किं पि अहमा रिता जणा जाणति । शिष्य—किमस्मदुपाध्यायस्य सवणस्वमपहणु मिच्छसि । चर—यदि ॥ उवज्झमाओ सव्य जाणादि ता जाणादु दाव वस्स चन्दो अणभिपेदा ति । शिष्य—किमनो नानेन भवति । 'इत्युपक्रमे चाणक्य—चन्द्रगुप्तादपरक्तान् पुरुषाञ्जानामीत्युक्तं भवति ।'

—अंक १

अर्थात् 'चर—अब ब्राह्मण, गुस्सा मत कर। कुछ बातें तोर आचार्य (चाणक्य) जानते हैं और कुछ हमारे जैसे लोग ही जानते हैं।

शिष्य—क्या तू हमारे गुरुजी की सवणता का निषेध करना चाहता है ?

चर—यदि तारे गुरु सवण हैं तो बताए कि चंद्र (चंद्रमा, चंद्रगुप्त) किस अच्छा नहीं लगता ?

शिष्य—इसे जानने से क्या लाभ ?

चाणक्य—दूसरी बात का अर्थ तो यह हुआ कि यह चन्द्रागुप्त में अप्रसन्न लोग को जानता है।"

५ प्रवृत्ति—(i) पात्रभाषा और (ii) आभरणशिल्प

(i) पात्रभाषा—

महान नाटक में पात्र की प्रवृत्ति के अनुसार भाषा का परिवर्तन किया जाता है। दशरूपककार के अनुसार

पाठ्य तु महान नणामनीचाना वृत्तात्मनाम् ।

लिङ्गिनीना महाद्व्या मन्त्रिजावेक्ष्यो बवचिन ॥

—२० स०, ७ ६४

बवचिदिनि द्वेवीप्रभतीना सम्बन्ध

स्त्रीणा तु प्राहुः प्रायः शौरमेवधमपु च ।

प्रज्जेरागन् प्राहुः प्रवृत्तिः महान् लभ्यते तन्म, दण्डितकप्रकारकम् ।

गौरसभी मागधी च स्वभास्त्रनियते ।

पिपाचायतनीचादी पगाच मागध तथा ।

यद्देव नीचपात्र यत्तद्देव तस्य भाषितम् ।

वायतन्वात्तमादीना कार्यो भाषान्यनिवृत्तम् ॥"

—२० स०, ७ ६५-६६

अर्थात् 'नाटक में मुनीन वृत्तात्मा पुरुषों के वर्णना की भाषा सम्बन्ध ही हानी चाहिए। मयापिनिपा, पटरानी, मन्त्रिपुत्री, तथा वेदरात्रों की भाषा भी वर्णन ही महान् रची जा सकती है।

स्त्री पार्श्वों के वर्णना की भाषा प्रायः गौरसभी प्राकृत हानी है और अकुलीन अधम जातिवा के पात्र भी प्राकृत ही बोलते हैं।

प्राकृत का अर्थ है प्रवृत्ति अर्थात् स्वभाव से आया हुआ, अथवा प्रवृत्ति अर्थात् महान् म उद्भव। ये प्राकृत प्रायः लभ्यते तन्म, ऐनी—तमे अनेक प्रकार के होते हैं। गौरसभी तथा मागधी अपने दण्ड-वाच के अनुसार नाटक में प्रयुक्त हानी है।

पिपात्र तथा अयतन अधम चाण्डाल आदि पात्रों की भाषा पगाची या मागधी होती है। जो नीच पात्र जिस भाषा में रहनेवाला है उसी भाषा की भाषा के अनुसार उसकी पाठ्य भाषा नाटक में रानी चाहिए। बभी-बभी किसी प्रयाजन विषय में इस नियम का अपवाद दिया जा सकता है जब उत्तम पात्र प्राकृत तथा नीच पात्र महान् वाचें।

(ii) आभरण शिल्प—

आभरण शिल्प का महान् नाटकों में प्रयोग करने के बारे में नाटक के अनुसार यह परम्परा थी

"मन्त्रिणाः वरवासा विद्वद्देवपिनिङ्गन ।

विशामायापजाचाया नटीमूत्रवती विद ॥

—२० स०, ७ ६७

आर्या इति सम्बन्धः ।

रथी मूतन चायुष्मान् पूज्य शिष्यात्मजानुजा ।

वत्सेति तात पूज्योऽपि मुगुहीताभिषस्तु स ॥

—२० स० २६=

अपिशब्दात्पूज्येन शिष्यात्मजानुजास्तातेति वाच्या, सा पि तस्तातति मुगुहीत-
नामा चेति ।

भावोनुगम सूत्री च भार्पेत्यतेन सोऽपि च ।

सूत्रधार पारिपास्विकेन भाव इति यक्तव्यः । स च सूत्रिणा माप इति ।

दय स्वामीति नपतिमृत्युमटति चाधमः ।

आमन्त्रणीया पतिवज्ज्यष्ठमध्याधय स्त्रियः ॥

विद्वद्देवादिसिन्धयो भन् वदेव देवगदिभिवाच्या ।

तत्र स्त्रिय प्रति विधेय —

ममा ह्येति प्रेय्या र हज्जे, वेश्याज्जुहा तथा ।

कुट्टियम्बत्त्यनुगत पूज्या वा जरती जनः ।

विदूषकेण भवती रानी चेटीति शब्दयते ॥

—२० स० २६६-७१

पूज्या जरती अम्बति ।

अर्थात्, 'उत्तम पात्र विद्वाना देवपिता और सत्यासित्ता को 'भगवन्' कहकर सम्बोधित करें। विप्र, जभार्य तथा गुरुजनो या बड़े भाई को व 'आय' शब्द से सम्बोधित करें।

मारथी अपने रथी घोर का 'आयुष्मान्' कह, तथा पूज्य साग शिष्य, पुत्र, या छाटे भाई आदि को भी आयुष्मान् ही कह अथवा 'वत्स' या 'तात' कह। शिष्य, पुत्र, छोटे भाई आदि पूज्या को 'तात' या 'मुगुहीतनामा' आदि कह सकते हैं।

पारिपास्विक सूत्रधार का भाव वह तथा सूत्रधार पारिपास्विक को 'माप' (मारिप) कह।

उत्तम नौकर राजा को दय या 'स्वामी' कह और अधम नौकर उसे (मट्टा) (मस्तुत बना) कह। ज्येष्ठ मध्यम या अधम पात्र स्त्रिया को दीव उसी तरह सम्बोधित करें जैसे उनके पतिया को।

विद्वाना, देवताजा आदि की स्त्रियों को दवर आदि उनके पति के अनुरूप सम्बोधित करें। अर्थात् 'भगवन्' आय के स्त्रीलिङ्ग वाचक 'भगवति' आर्य आदि प्रयुक्त करें।

स्त्रियों के सम्बोधना में यह विधेयता है। सतिया एक-दूसरे का 'हना' बहे। दामी या नौकरानी हज्जे बहे वेश्या को 'अज्जुका' कहा जाए। कुट्टिनी को तथा पूज्य वद्वे स्त्री का भी 'अम्ब' कहा जाए। विदूषक रानी व सेविका दाना को 'भवती' बहे।

६ पताकास्थानक

नाटक में पताकास्थानक का भी समावेश करना चाहिए।

‘पताकास्थानकायत्र विदुरन्त च बीजवत्।’

—द० ह०, ३ ३७

अर्थात्, “इस नाटक में भावी भावा के सूचक पताकास्थानक का भी सम्मिलन होना चाहिए।”

पताकास्थानक चार होते हैं। जिनका निम्पण इसी खंड में पहले किया गया है। इन चार में से प्रथम को छोड़कर शेष तीन में विविष्ट पदयोजना की जाती है, जसा कि महा स्पष्ट किया गया है।

अनुवाद की शैलिया, समीक्षा और गुण-दोष

शैलिया

व्यवहार में हम अनुवाद, भाषांतर भावानुवाद छाया अनुवाद, टीकानुवाद, मारानुवाद, दाम्पानुवाद रूपांतर आदि अनेक शब्द सुनते हैं। इन शब्दों का प्रयोग बहुधा एक अनिश्चित से अर्थ में कर लिया जाता है। अनुवाद शब्द का सस्कृत भाषा में जो अर्थ प्रचलित था उसे छोड़ लिया जाए तो भाषांतर शब्द ही वास्तविक अनुवाद का अर्थ सूचित करता है। गैर शाब्दिक रचना की किसी अर्थ विशेषता की ओर ध्यान खींचते हैं।

भाषांतर जसा कि ऊपर बताया जा चुका है एक व्याकरण शब्दसमूह आदि वाली भाषा में कथित अर्थ को दूसरे व्याकरण, शब्दसमूह आदि वाली भाषा में कहना भाषांतर कहलाता है। यहाँ अर्थ का मतलब है पूरा अर्थ। जैसे मुद्राराक्षस का भारते दुष्ट हिन्दी अनुवाद भाषांतर अनुवाद है।

भावानुवाद कभी कभी भाषांतर करते हुए जब मूल का यथावत् परिवर्तन न करके, वाक्यार्थ का कुछ मध्येप से और अभिधावाचक शब्दों में कहा जाता है तब उसे 'भावानुवाद' का नाम दिया जाता है। यहाँ भाव शब्द, रति आदि मनोविकारों का वाचक न होकर, अभिप्राय आशय, या लक्षक के मनोमत अभिप्रेय अर्थ का वाचक है। ठीक ठीक देखा जाए तो किसी साहित्यिक रचना का भावानुवाद मूल लेखक के कौशल का बहुत बड़ा रूप प्रस्तुत करता है। नाटक के भावानुवाद का तो बहुत ही कम महत्त्व रह जाता है, क्योंकि उससे मूल नाटक का रसास्वादन नहीं किया जा सकता।

छाया अनुवाद यह शब्द पहले पालि सस्कृत या प्राकृत सस्कृत जसी भाषाओं के परिवर्तन के लिए प्रयोग में आता था। इस तरह की भाषाओं में एक ही शब्दात्मा ध्वनि भेद से दोनो जगह होता है और प्रायः सब शब्द ऐसे होने हैं। वह ध्वनिभेद दूर करते हुए एक भाषा की रचना को दूसरी भाषा में करना छाया अनुवाद कहलाता था। उदाहरण के लिए,

‘अहो देवताओ म वेति । अवरिअ अवरिअम को ससृज छाया यह होगी
अहो देवता म त्रयते । आश्चयमाश्चयम् ।

पर हिन्दी में छाया अनुवाद शब्द भावानुवाद के अर्थ में चला है। मूल का भाव

लेकर अनुवाद करना' वही बात है, जो 'मूल की छाया लेकर अनुवाद करना'। अभिप्राय मूलाय को पूरा न लेने में है।

हमारे विचार से भावानुवाद गलत हो इस अर्थ के लिए रखना उचित है। वह अधिक प्रचलित भी है और छाया अनुवाद गलत की आवश्यकता ऊपर बताया गए प्रकार का प्रकट करने के लिए भी है। छाया का अर्थ हुआ प्रतिबिम्ब। जबल ध्वनि में भिन्न गाना आता एक-दूसरे के बिम्ब प्रतिबिम्ब या छाया कह जा सकते हैं।

टीकानुवाद मूल मसूत का गलत समझाने के लक्ष्य से किए गए भाषांतरण को 'टीकानुवाद' कहते हैं। भाषांतर वाला प्रवाह इसमें नहीं आ पाता क्योंकि इसमें समझाने के लिए बहुधा बाष्ठा में ध्यास्या भी दी जाती है। यह अनुवाद मूल रचना के भाव ही दिया जाता है, कभी उसमें नीचे, कभी सामन।

सारानुवाद किसी मूल कथन का सार या महोप दूसरी भाषा में करना सारानुवाद कहलाता है। वस्तुतः यह अनुवाद न होकर सार-लेखन मात्र है और इसमें अनुवाद गलत का प्रमाण भ्रामक है। अथवा 'अनुवाद गलत' यहाँ मसूत में प्रचलित अर्थ में है। इस प्रकार की रचना मूल का संप्रति आभ्यास मात्र होती है।

शब्दानुवाद मूल रचना के गलत स्थान पर अनुवाद भाषा के शब्द रगन हुए अनुवादभाषा के ध्याकरण महावर और प्रहृति की उपगा करके जो अनुवाद किया जाता है वह गलतानुवाद कहलाता है। हम सारा बावपाय अनुवाद के मन में पूरी तरह नहीं उतरता। यह अवस्था अभ्यास की कभी के कारण होती है।

पर उन धार्मिक ग्रन्थों के वचना का गलतानुवाद ही उनमें गिना जाता है जिनके गलत और गलत का नम प्रमाण मान जाते हैं जैसे वेद बाइबिल आदि। वेदमन्त्रा का प्राय गलत ही किया जाता है क्योंकि मूल गन्ध का कोई नवधा निभान्न, निभिरन, एकमात्र अर्थ होने का दावा नहीं किया जा सकता। प्रत्येक अभ्यन्ता एव वचना का जगता ही मतलब लगा सकता है। इसलिए अनुवाद में यह अपना का जाती है कि वह पाठक को अपने मन की धारणा के स्थान पर केवल गलत का अर्थ बताए, जिसमें पाठक अपनी बुद्धि और दृष्टि के अनुसार मूल का मतलब लगा सके।

यूरोपीय अनुवादकों में मध्यकाल में गलतानुवाद पद्धति बड़ी प्रचलित थी। इनके अनुवादों में मूल के शब्दों के ऊपर उनके भाषांतर गलतियें आती थी जिनमें मूल के अर्थ अपनी कितनी ही मिला लिया करता है। इस पद्धति का विषय प्रमाण दूना रचनाओं में होता था जिनका पत्रम् भी इस्वर प्रणीत माना जाता था। यह सभी ही गलती थी जहाँ वेदों के भाषांतर में प्रयुक्त होती है। इसका आधार यह धारणा थी कि पत्रा के स्वर प्रणीत नम में भी पाठक कोई अर्थ हाँका अनुवाद का स्वर नहीं पर पाठक दान में किसी और का स्वर हाँका जाए। इस प्रकार का अनुवाद सभी मूल में आने पादक का सकता है जब दाओं भाषाओं की बावप रचना पद्धति एक-सी है।

रुपांतर भाषांतर का गलत है रूप बनता, पर निम्न में गलत प्रमाण

सामान्य अनुवाद या भाषांतर के अर्थ में भी चलता है। इस अर्थ में रूपान्तर शब्द का प्रयोग वस्तुतः गलत है। अनुवाद करते हुए मूल भाषा बदली जाती है, न कि रचना का बाह्य रूप।

रूपांतर शब्द का दूसरा प्रयोग अंग्रेजी 'एडप्टेशन' के अर्थ के लिए होता है। एडप्टेशन का यथाार्थ पर्याय अनुकूलन है। किसी नाटक आदि रचना को रंगमंच, दशक वग आदि के अनुकूल बनाने के लिए उसमें जो मामूली ऊपरी हेर फेर किए जाते हैं, वे ही 'रूपांतर' होते हैं। अनुवाद करते हुए भी ऐसे हेर फेर किए जाते हैं। इस प्रकार भारत-दु का 'मर्चेंट आफ़ वनिस' का अनुवाद भी रूपान्तर कहा जाएगा—इसमें उहोने पाना, स्पानो आदि के नामों को भारतीय रंग में रंग दिया है।

रूपांतर शब्द का एक सीसरा और विचित्र प्रयोग डा० सोमनाथ गुप्त ने किया है। अपने हिंदी नाटक का इतिहास में आपने भारत-दु का 'सत्य हरिश्चन्द्र' को इस आधार पर रूपांतर कहा है कि उसमें कुछ अंग मौलिक और कुछ अंग 'षडकौशिक' से अनूदित हैं।^१ रूपांतर का यह अर्थ विचारणीय है।

किसी वस्तु का विचार करते हुए हम उसकी आत्मा और शरीर, या सारस्त्व और बाह्यरूप को अलग अलग करके सोचते हैं। नाटक आदि साहित्यिक कृति के प्रसंग में भी हम आत्मा और शरीर का अलग अलग विचार करना चाहिए और शरीर के अन्तर की ही रूपांतर समझना चाहिए। यदि दो कृतियों की आत्मा या अन्तस्त्व एक है, केवल उनके रूप में मामूली अंतर है तब वह रूपांतर हुआ। पर, दूसरी ओर, यदि दो कृतियों की आत्मा भिन्न है तो केवल इस आधार पर उनमें से बाद वाली को पहली का रूपांतर नहीं कहा जा सकता कि पहली रचना का आश्रय लेकर दूसरी कृति लिखी गई है या पहली कृति से दूसरी कृति थोड़ी-बहुत प्रभावित है। वस्तुतः किसी दूसरी निष्पन्न रचना का आश्रय लेकर लिखी गई रचना को पराश्रयी रचना कहना अधिक सगत है। इसी प्रकार किसी रचना के अनुकरण पर लिखी गई कृति को 'अनुकारी' रचना, और अंग अनुकरण वाली रचना का अंगानुकारी कह सकते हैं।

हिन्दी नाटक साहित्य में उपलब्ध अनुवाद-शक्तियाँ

हिन्दी नाटक साहित्य में 'अनुवाद' कही जानेवाली कृतियाँ चार शक्तियों में हैं

१ सारवचन या आश्रयान शैली

हिन्दी का प्रथम मल्लिकविकृत अनुवाद 'प्रबोधचन्द्रोदय' का सक्षिप्त अनुवाद है। हमने बाद में कई मध्यकालीन अनुवाद जिनमें असवन्तसिंह कृत 'प्रबोधचन्द्रोदय' का अनुवाद भी है मूल रचना का मक्षेप प्रस्तुत करते हैं। असा कि पहले कहा जा चुका है, ये सच्चे अर्थों में अनुवाद नहीं हैं। नेवाज ने 'अग्निमान्गानु' तन का आश्रयान मात्र दिया है।

२ भाषान्तर

मध्यकाल के बाद के अधिकतर अनुवाद पूर्ण भाषान्तर हैं। मध्यकाल में गुलाब सिंह का अनुवाद पूर्ण 'भाषान्तर' की कोटि में आया, चाहे उन्होंने कुछ कुछ रूपान्तर भी किया है।

३ रूपान्तर शैली

कुछ अनुवादों में मूल रचना का रूपान्तर भी किया गया है। कवि गुलाब सिंह वृत्त प्रवाचक-द्राव्य के अनुवाद की अभी चर्चा की जा चुकी है। भारतेन्दु ने भी 'बपू र मजरी' में मामूली रूपान्तर किया है।

४ पराश्रयी रचनाएँ

पराश्रयी रचनाएँ अनुवाद नहीं कहला सकती। वस्तुतः ये ऐसी मौलिक रचनाएँ हैं जिनकी सामग्री मूल नाटका से उगत जैसी की तभी उठा ली गई है। हिन्दा में भारतेन्दु हरिश्चन्द्र का 'सत्य हरिश्चन्द्र', बदरीनाथ भट्ट का 'कुदवन-रहन', तथा कलानाथ भटनागर के 'बाणवध प्रतिष्ठा', भीम प्रतिष्ठा, आदि नाटक पराश्रयी रचनाएँ हैं।

निष्कर्ष संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि पूर्ण भाषान्तर शैली की रचनाएँ ही वस्तुतः अनुवाद हैं। और, उस तरह के अनुवादों पर ही हम प्रथम में मुख्य रूप से विचार किया गया है। कुछ रचनाएँ नाटकों के अनुवाद नाम से प्रसिद्ध हैं, जिनमें हृदय रामरत हनुमानाटक और जगवर्तिसिंह-वृत्त प्रवाचकनाटक, पर वे वस्तुतः अनुवाद नहीं हैं। उनकी चर्चा यहां यह दिगाने के लिए ही की गई है कि वे वास्तव में अनुवाद नहीं हैं।

अनुवाद की समीक्षा

अच्छे अनुवाद की पसंदी

अच्छा अनुवाद कौन-सा होता है ?

इस प्रश्न का उत्तर सब अनुवादों के लिए एक नहीं हो सकता। किसी अनुवाद विधेय की श्रेष्ठता का निर्णय हम मान पर निर्भर होगा कि उस अनुवाद विधि का मूल्य क्या है ? यदि अनुवाद का मुख्य सधन साहित्य के अभिप्रेत अर्थों में परिवर्तन करना है, जग कि टीकानुवाद का होता है तो अनुवाद में यथासंभव प्रत्येक शब्द का अर्थ या ज्ञान पर ही यह श्रेष्ठ अनुवाद कहलाएगा। ये अनुवाद 'शब्दार्थ' प्रधान होते हैं। यदि अनुवादक कोई जासूसी पाठ्य को दल का घन कर रहा है, तो प्रत्येक शब्द के अर्थ का कार्य महत्वपूर्ण। यह जानकारी जिस अनुवाद में पूरा तरह से जाए वही अनुवाद श्रेष्ठ होगा। ये अनुवाद वाक्यांश प्रधान होते हैं। वैज्ञानिक और गाम्भीर्य अनुवाद इस श्रेष्ठ में आते हैं। यदि किसी अभिप्रेत अर्थव्यवहार (अर्थानुवाद) का परिवर्तन होता है, तो यह भी इसी आधार पर अच्छा-बुरा कहा जाएगा। तीसरे प्रकार के अनुवाद ये हैं जिनका

प्रधान तथ्य भाव और रस की व्यञ्जना करना है। ये अनुवाद व्यंग्याय प्रधान होते हैं। काव्य-नाटकादि रसप्रधान रचनाओं के अनुवाद इस धरा में आते हैं। इनमें वस्तु या तथ्य का विधान भाव या रस की व्यञ्जना के लिए किया जाता है—वस्तु कथन प्रधान या साध्य नहीं होता, वह गौण और साधन होता है। इन अनुवादों की श्रेष्ठता का निर्णय इनकी भाव और रस की व्यञ्जना करने की क्षमता की कसौटी पर ही करना चाहिए।

दूसरी बात यह है कि भाषा में स्वतन्त्र अस्तित्व वाक्य का होना है, पदा का नहीं। प्रबन्ध रचना में पृथक् पृथक् वाक्यों की स्वतन्त्र सत्ता होते हुए भी वे वाक्य प्रबन्ध रूप वाक्य-मण्डित के अवयव होते हैं। इसलिए अनूदित वाक्यों की व्यञ्जना सारे प्रबन्ध की दृष्टि से विवेचनीय है, किसी एक वाक्य की दृष्टि से नहीं।

पहली बात को स्पष्ट करने के लिए छाकुत्तल का नाटो श्लोक और उसने में दान अनुवाद प्रस्तुत है

मूल

या सृष्टि स्रष्टुराद्या, वहति विधिहुत या हविर्या च होत्री
ये द्वे काल विधस्त, श्रुतिविषयगुणा या स्थिता याप्य विश्वम्।
यामाहु सवबीजप्रकृतिरिति यया प्राणिन प्राणवत्,
प्रत्यन्ताभि प्रपन्नस्तनुभिरवतु वस्ताभिरष्टाभिरीश ॥

अनुवाद १

आदि सृष्टि इक नाम, नाम इक विधिहुत बाहुन।
बहुरि नाम यजमान, जाति द्वे काल बतावन।
एक सब-यापीक ध्वनयुन जात पुकारा।
भूत प्रकृति फिर एक जनति अग जग समारा।
गनिय जु जीव आधार पुनि, अष्टमूर्ति इनतें कहत।
शकर सहाय तुम्हारी करें नितप्रति तिनही में रहत ॥

—१८८६, लक्ष्मणमिश्र

अनुवाद २

सलिल, अग्नि, समीर वसुधा गगन, भास्कर चन्द्रमा।
और हाता आठ जिनकी है प्रकट ये मूर्तिया
वे स्वयंभू शिव तुम्हारी सबदा रक्षा करें,
दृष्टि वरुणा की रखें, दुख आपदा सारी हरे।

—१९६० विराज

प्रथम अनुवाद में 'या सृष्टि स्रष्टुराद्या' का 'आदि सृष्टि इक नाम' कहा गया है, और दूसरे अनुवाद में इसे 'सलिल' कहा गया है। अभिषेय अथ की दृष्टि से सलिल अनुवाद ठीक है क्योंकि आद्य सृष्टि जल को ही माना गया है (अथ एव मसजादी तामु वीर्यमवासजन)। परन्तु यदि अभिषेय अथ जल का उल्लेख करना मात्र कवि का लक्ष्य होता, तो वह स्वयं इस या इसके दूसरे किसी पर्याय शब्द का प्रयोग कर सकता था। जब वह उस अथ को 'या सृष्टि स्रष्टुराद्या' शब्दों से कह रहा है, तो किसी प्रयाजन से ही।

और, वह प्रयोजन है भाव-व्यञ्जना तथा वस्तुसूचन। यहा 'आदि सृष्टि' कहकर उसके अपूर्वत्व से विस्मय और हृय की व्यञ्जना की गई है—ये दोनों भाव-विविगत भक्तिभाव के महयोगी हैं। इसी प्रकार मूल वाक्य में 'पर्यायात् अलकार' भी है। ये दोनों बातें प्रथम अनुवाद में हैं, पर द्वितीय अनुवादक की पकड़ में नहीं आई। स्पष्टतः प्रथम प्रकार का अनुवाद ही काव्य का मच्चा और अच्छा अनुवाद है।

दूसरी बात भी ऊपर दिए गए उदाहरण से स्पष्ट हो सकती है। मूल श्लोक में मूल आठ वाक्य हैं जिनमें से यह एक मुख्य वाक्य है

तामि अष्टामि प्रत्यगामि तनुमि प्रपन्न ईग व अवतु।

'तामि' की व्याख्या पहले सात विनोपण वाक्यान्वये की गई है। अब या सृष्टि 'सृष्टुराद्या' और प्रथम अनुवाद के 'आदि सृष्टि' इव नाम की तुलना करें तो अनुवाद में 'या' और 'सृष्टु' पदा के वाचक शब्द नहीं हैं और 'इव नाम' य दो शब्द अनुवादक ने अपनी ओर से जोड़े हैं। यह होने हुए भी प्रधान वाक्य में अविलम्ब करके इस वाक्य को पढ़ें, तो मूल और अनुवाद एक से समर्थ हैं। कबल इस कारण अनुवाद को हीन नहीं कहा जा सकता कि उसमें मूल के किसी एक शब्द का वाच्यत्व नहीं आया या कोई शब्द ऐसा आ गया है, जो मूल में नहीं था। सम्पूर्ण प्रबन्ध की दृष्टि से या सृष्टि 'सृष्टुराद्या' में आदि सृष्टि जल के साथ अपूर्व सृष्टि 'गुन्तला' का आ सूचन था, वह 'आदि सृष्टि' इव नाम' से हो रहा है। इसलिए इस अनुवाद को प्रथम कोटि में गिना जाएगा।

अभिप्राय यह कि काव्य और नाटक के अनुवाद में केवल अभिधेय अथवा महत्त्व नहीं है महत्त्व तो रस भाव, वस्तु आदि की व्यञ्जना का है।

अलकार को भी इसी दृष्टि से देखना चाहिए। जहाँ तक 'ग' शब्दों का सम्बन्ध है, वे साधारणतया अनुवाद योग्य नहीं होते क्योंकि अनुवाद और 'ग' शब्दों के बीच में विरोध है। अनुवाद मूल के शब्दों के स्थान पर दूसरे शब्दों को लाता है किन्तु 'ग' शब्दों का प्रयोग मूल में ही होता है—जहाँ प्रयोग मूल के 'ग' शब्दों के स्थान पर आया है वह फिर अनुवाद में रह ही कैसे सकता है? पर, जहाँ अनुवाद भाषा में मूलभाषा के पदा का प्रयोग मूल रूप में होता हो, वहाँ कभी-कभी यह सम्भव हो सकता है।

अपानकार जहाँ वाक्य होता है वहाँ यदि वह प्रधान वाक्यान्वय है, तो वह अनुवाद में आना ही चाहिए। उनी रचना का काव्यत्व ही वह अनुवाद-विविधता है। पर, जहाँ अपानकार प्रधान वाक्यान्वय का अग्रगण्य है वहाँ इस अनुवाद में न भी लाया जा सके, तो अथि महत्त्व नहीं आ चाहिए। उदाहरण के लिए,

आपतिनागा विष्णु न गाधु मय प्रदागतिनाम्।

अनन्तरि निगतिनामात्मयप्रत्यय च ॥

—अभिप्राय शब्दार्थ, पं. १०, पृ. १०८

इस श्लोक का प्रधान वाक्यान्वय अपानकार-नाग अलकार है। इसमें प्रथम वाक्य विष्णुवाक्य है और उसका समर्थन दूसरे वाक्यान्वय वाक्य में किया गया है। शब्दों का अर्थ मूल में इसका यह अनुवाद किया है

नाटक बरतत तब भलौ रीझै सजन समाज,
नातर सीखेहू धने दुचित रहत इहि काज ।

यहा प्रथम वाक्य विशेषायक न रहकर सामायायक हो गया है। दूसरा भी सामायायक है। इस प्रकार, सामायाय से सामायाय का समर्थन है। यहा अलंकार अर्थान्तर न्यास ही रहा, यद्यपि विधान मूल से थोड़ा भिन्न है।

परतु निम्नलिखित उदाहरण में अलंकार अग मात्र है
अघर किसलयराराग कोमलविटपानुकारिणी बाहू ।
कुसुममिव लोभनीय यौवनमगेपु सनदम ॥

—राकुन्न ११२

इस श्लोक में दुप्यंत सत्ता से शत्रुन्तता की समानता देख रहा है। प्रधान वाक्यांश यहा यह वस्तु है कि शत्रुन्तला सचमुच लता लगती है। इसका अघर किसलय जैसा लाल है, बाहें कोमल छात्तावा जसी हैं और अग म उभरा हुआ यौवन कुसुम के समान आकर्षक है। मूल में अग का साम्यकथन अनेक भगियों से हुआ है—‘अघर किसलयराग’ में बहुव्रीहि समासगत श्रुती उपमा है ‘कोमलविटपानुकारिणी’ में आर्योपमा है और कुसुममिव लोभनीय यौवनमगेपु सनदम में इव का प्रयोग होने से श्रुती उपमा है।

राजा लक्ष्मणसिंह ने इसका यह अनुवाद किया है
‘अघर कचिर फल्लव नये, भुज कोमल जिमि डार ।
अगन में यौवन सुभग लसत कुसुम उनहार ॥

यहां ‘अघर कचिर फल्लव नये’ में रूपक, ‘भुजकोमल जिमि डार’ में श्रुती उपमा और ‘अगन में यौवन सुभग लसत कुसुम उनहार’ में आर्योपमा है।

इस प्रकार क्रमशः मूल की श्रुती उपमा के स्थान पर रूपक, आर्योपमा के स्थान पर श्रुती उपमा और श्रुती उपमा के स्थान पर आर्योपमा होने से ही कोई सहृदय अनुवाद को मूल से हीन नहीं कह सकता—यहा अलंकार गौण थे, प्रधान नहीं। प्रधान वाक्यांश तो नायिका का रूप था।

वस्तुरूप अर्थ का अनुवाद

वस्तुरूप अर्थ के अनेक भेद हैं। वह सत्कारण, घटना या क्रियारूप समुच्चयरूप, भाव या मत्तारूप उपदेश या प्रेरणारूप आदि हो सकता है।

भाव और रस की तथा वस्तु की व्यञ्जना वस्तु से हारी है। इसलिए जहा भाव और रस आदि की व्यञ्जना करनी है, वहा वस्तु के अनुवाद की बसौटी, वस्तु न होकर व्यंग्य भाव या रस ही होगा। ‘दुरात्मन क्षत्रियापसद’ (महावीर चरित) के अनुवाद में लाला नीताराम ने ‘अरे पाजी की पक्ष’ शब्द रचे हैं। यहा मूल और अनुवाद की वस्तु मन्थना भिन्न है, पर यह कहना उचित न होगा कि ‘दुष्ट नीच क्षत्रिय’ अनुवाद अधिक शुद्ध या अच्छा होता। रसज्ञ शब्दा की तुलना नहीं करता, वह मूल और अनुवाद के शब्दा की व्यञ्जना या प्रभावों की तुलना करता है। परन्तु इस प्रकार अनुवाद करते हुए यह

जाए। उदाहरण के लिए 'सर्वसत्ता की विदित हो,' 'ब्राह्मणि'।

भाषा की सरलता की दृष्टि से देखें, तो राजा लक्ष्मणसिंह, भारतम्, लाला सीताराम, प० वागीश्वर विद्यानकार, आदि के अनुवाद प्रथम श्रेणी में रगने योग्य हैं।

रचनासौष्ठव का प्रश्न छंद रचना के प्रसंग में आता है। यदि मूल पद्य का अनुवाद गद्य में किया जाए तो भाव-संसार की गति अवरोध सी हो जाती है, और रचना गिथिल लगती है। विशेषतः संस्कृत नाटक में काव्यत्व और भाव-योजना की प्रधानता होने से उसके छंदों व गद्य अनुवादों में वह चुस्ती और गति नहीं आ पाती, जो मूल छंद का पढ़ने-सुनने में अनुभव होती है।

उचित छंद का निर्वाचन न करने से भी रचना का सौष्ठव भारा जाता है। इस दृष्टि से भारतेन्दु की रचनाएं बहुत सुंदर हैं। उनके बाद रचना करने पर भी राजा लक्ष्मणसिंह छंद के विधान में बहुत सफल नहीं हो सके।

गद्य रचना में चूणक गद्य अर्थात् छोटे वाक्य और प्रायः समासरहित पदों वाली रचना सबसे अधिक प्रशंसनीय है।

अनुवादों के आलोचक

अनुवादों की आलोचना करनेवाले लोगों को हम तीन श्रेणियों में बांट सकते हैं

(क) मूल भाषा और अनुवाद भाषा दोनों के विद्वान्।

(ख) केवल अनुवादभाषा के विद्वान्।

(ग) विद्वत्ता का दावा न करनेवाले साधारण पाठक।

स्पष्टतः, जो भी अनुवाद किए जाते हैं वे ख तथा ग वर्ग के पढ़ने के लिए किए जाते हैं पर अनुवादक व वर्ग के होते हैं। इस व वर्ग के अधिकतर लोग मूलभाषा के ओज से अभिभूत होते हैं। उन्होंने रचना का आनंद पहले मूलभाषा में लिया होता है और उसके शब्दों तथा अर्थों की व्यंजनाएं पहले वही अनुभव की जाती हैं। अनुवाद पढ़ने पर यह वर्ग कभी संतुष्ट नहीं होता। इस सदा अनुवाद की नुटियां और 'यूनताएं' अनुभव होती रहती हैं। ऐसे आलोचकों को दो बातें सदा स्मरण रखनी चाहिए—एक तो यह कि अनुवाद मूलभाषा में जाननेवाला के लिए किया जाता है जाननेवाला व लिए नहीं और दूसरी यह कि कोई भी अनुवाद मूल की बराबरी नहीं कर सकता। मूलभाषा व सांस्कृतिक परिवेश और साहित्यिक परम्परा पर अनुवादक की पकड़ लेखक के बराबर नहीं हो सकती। मूल लेखक और अनुवादक की वारिसित्री प्रतिभाओं में भी बहुधा बड़ा अंतर होता है। इसलिए आलोचक अनुवाद और अनुवादक से तभी 'याय कर सकता है, जब वह अनुवाद रचता व स्वतंत्र रचना मानकर और सामयिक साहित्य के साथ रखकर देखे।

अनुवाद की आलोचना में लेखक के निचारों या मूल रचना के रचनाविधान आदि की आलोचना का काइ प्रसंग नहीं होता। वस्तुतः आलोचना का एक मुख्य आधार रचना-सौष्ठव और भाषाशैली को मानना चाहिए। या समझिए कि मूल रचना के लखने ने अपने समय के सांस्कृतिक परिवेश में एक विशेष पाठकवर्ग के लिए जो रचना की थी वह अनुवादक ने अपन सांस्कृतिक परिवेश और साहित्यिक-परम्परा में अपन पाठक-वर्ग

न लिए प्रस्तुत करने में मकरना प्राप्त की या नहीं। यदि अनुवाद अपने पाठ्यक्रम का वह आद अतिरिक्त — न कि पूरी तरह बराबर पूरी तरह बानी बान आवस है — मवा, तो उस सपन और अच्छा अनुशासक समझना चाहिए। अनुवाद रचना में गुण दाप मौलिक साहित्य रचना की तरह ही विवच्य हान है।

मैन अनुवाभापा क विद्वान यद्यपि अनुवाद रचना की तुलना मून म नहा कर मरन, पर व इसकी आवाचना मौलिक रचना की तरह सा कर ही मरन है। मव पुष्टि सा इन नटि म य लाय जो आवाचना करे यह बहुधा उस रचना का अधिक अच्छा मपावन हाता। मून रचना म मीठन म मागान् परिचय न हान क कारण म मीठी 'प्रथम प्रणय' की उत्तजना म अभिभूत रही हान। अनुवादों की ऐसी आलोचना का हमार विचार म मून भापा क पण्डिता की आलोचना म अधिक महत्व मितना चाहिए। ऐसा कहने का यह अर्थ न समझना चाहिए कि अनुवाद का मूलभापा म मितारर की गई आवा चना का काई म्पाय नही। अभिप्राय इतना ही है कि अनुवाद मूलभापा म मितारर पढ़ने के लिए नही हान क अपने आपम स्वतन्त्र साहित्यिक रचना हान है। उनकी शुद्धता अशुद्धता जावन क माध्याय म्मारमवता और प्रौढ़ता की विवचना अधिक हानी चाहिए।

निर्णय मक्षेप म रचनाए दा प्रकार की होती है — सास्त्रीय और साहित्यिक। सास्त्रीय रचनाए व्याख्या प्रधान जाती हैं और उनका अनुवाद की श्रेष्ठता की बमोजू मून का यथायन अनुसरण है। साहित्यिक अनुवाद व्याख्या प्रधान हान है और उनकी श्रेष्ठता मुख्यतः भाव की व्यञ्जना पर निर्भर जाती है। साहित्यिक अनुवाद की टीका आलोचना यह है जा उस हर काम पर मून से नहीं मितानी, अनुवाद रचना का स्वतन्त्र रचना क रूप म मूल्यावन करता है।

अनुवाद और पाश्चात्य समीक्षक

पाश्चात्य साहित्य म अनुवाद समीक्षा की परम्परा सत्रहवीं शती से तो अवि च्छिन चली आती है, पर उमने पहल भी सिमरो और हारेस (लगभग २००० वर्ष पहल) क, सया सालहवा गती म लूसर और मीटिन क कुछ विचार मिलते हैं। इनम म हम सिध पाव-छद्म प्रमुख उनका क विचार म्पा बहुत सनेप म देगे।

सिमरो का यह कथन कि 'मैंने उनका अनुवाद व्याख्याना बनकर नहीं किया बल्कि बनकर किया है' (I have made it, not translated it) (Verbum pro verbo) रखकर नहीं, मैंने सा उनकी भाषा की साधारण गली और बल का यथायन् कायम रखा है, साहित्यिक रचनाया की व्याख्या प्रधानता का अशुण्य रखने की आग ही सचेत कर रहा है।

प्रसिद्ध इपिलि कवि जोन ड्राइडन ने गना की दृष्टि से अनुवाद के तीन भेद किए हैं — मेताफ्रेज पराफ्रेज और इमिटेसन अथवा गानुवाद, सावानुवाद (यहा भाव गान का प्रयोग अभिप्राय क म्रय म है) और अनुकरण। पहले का उदाहरण है हारेस की रचना आट स पाण्डिका का येन जानमन कृत अनुवाद और दूसरे का उदाहरण है

१ Libellus de optimis genere oratorum IV, 14

२ Epistles (लेखक — ओविड) का युमिका।

वर्जित की रचना एनीड का वानर कृत अनुवाद। तीसरे प्रकार को वह ठीक अनुवाद की कोटि से बाहर समझता है।

गटे ने भी अनुवाद तीन प्रकार के माने हैं, पर उनकी श्रेणियाँ कुछ भिन्न हैं। पहला प्रकार है परिभाषात्मक (जैसे 'पूथर कृत बाइबल'), दूसरा रूपांतर या एडप्टेशन और तीसरा पुनः सृजन। वस्तुतः इनमें से तीसरा प्रकार ही सच्चा अर्थों में अनुवाद है। गटे का यह कथन भी उल्लेखनीय है कि अनुवादात्मक श्रुतियाँ चाहे जिनकी रह जाँती हों, फिर भी संसार के कुल व्यवहार में इनका बड़ा ही महत्वपूर्ण स्थान है।

प्रसिद्ध कला समीक्षक बेंजमिन् जॉन्स ने एस्थेटिक्स (पृष्ठ ६८ ७३) में अच्छे अनुवाद की मौलिक कला रचना के समान महत्वपूर्ण माना है। पर आपका यह धारणा है कि किसी कलात्मक रूप वाली रचना का दूसरी कलात्मक रूप वाली रचना में नही बदला जा सकता। फिर भी ये अनुवादों में सापेक्ष श्रेष्ठता मानते हैं। इनका कहना है कि अनुवाद मूल का पुनः सृजन तो नहीं हो सकता पर मूल की अभिव्यक्ति के सदा अभिव्यक्ति का सृजन हो सकता है। वह प्रसिद्ध कथन भी जोषे का ही है कि कहीं के समान अनुवाद भी सुन्दर है ता सच्चा (पूर्णतः मूलानुसारी) नहीं हो सकता और सच्चा है ता सुन्दर नहीं हो सकता।

हिलेअर बेलाफ ने अनुवादकों के लिए यह मार्ग बताया है—१ मूल रचना को धारीकी से पढ़ो, २ अपने मन पर पड़े प्रभाव को अपनी भाषा में लिखो, ३ फिर मूल रचना के साथ मिलाकर पढ़ो और अनुवाद को मूल के अधिक से अधिक निकट लानो पर, 'अपनी भाषा का स्वाभाविक प्रवाह कम न होने दो।

बेलाफ ने अनुवादों को दो भागों में बाँटा है—१ वे अनुवाद जो ज्ञान कराने के उद्देश्य से किए जाते हैं—इनमें यथायथा रहनी चाहिए। २ साहित्यिक अनुवाद—ये मूल की भावना से रचित होने चाहिए। आपने यह भी बताया है कि अनुवाद के लिए तीन बातों का होना आवश्यक है—(क) अपनी मातृभाषा में अनुवाद किया जाए, (ख) विद्वानों की भाषा पर अधिकार होना चाहिए (ग) अनुवाद पर परिमाण और रूप का कोई बंधन नहीं होना चाहिए।

इस प्रकार इन विचारों को देखने से पता चलता है कि पादचार्य चिन्तन के क्षेत्र कुछ भिन्न अवश्य है, अब प्रायः यही है जिसका हमने ऊपर निरूपण किया है।

अनुवादों के दोष

अनुवादों में साधारणतया ये छह दोष होते हैं

- १ भिन्नायता
- २ भिन्नान्वयता
- ३ पदाग्रह
- ४ काष्ठत्व
- ५ गूनायता
- ६ अधिकायता

१ मिन्नायता

अनुक्ति रचना का अर्थ मूल अर्थ में भिन्न होना पर मिन्नायता दोष होता है।

इसके दो रूप होते हैं ईपमिन्नायता और अतिमिन्नायता। यदना पद्मन

और वाक्यगत हानि से वृत्त चार बन जाते हैं। इनके उदाहरण क्रमशः य हैं

पद्मगत ईपमिन्नायता

‘अधर मरिच पल्लव नय (सहस्रामिन् धातुन्ता १० १८), यहा नय यह

बहुवचन प्रयोग मूल में भिन्न है जहा अधर एकवचन में है, ‘अधर विगन्धराग

(गान्धर्व १ १८)।

पद्मगत अतिमिन्नायता

कृष्णमारे ददन्वगुम्बवि चापिज्यवामुक्।

मृगानुमारिण मागत पदपामीव विनाविनम॥

—शकुन्तल, १ ६

इसका अनुवाद करने हुए राजा सम्मनसिंह ने अपने १८६३ वाक्य भस्करण में

लिखा था—‘माना विनाक मधान किए ‘गूबर’ के पीछे जाते हैं। यहा मृग का अर्थ दान

मग या हरिण था, ‘गूबर’ नहीं। इसलिए यहा पद्मगत अतिमिन्नायता दाप आ गया है।

वाक्यगत ईपमिन्नायता

यह दाप बड़ा व्यापक है। इसका उदाहरण यह है

‘राजा प्रियमपि तथ्यमा गान्धर्वता प्रियवदा।

—शकुन्तल १ १८ म पद

इसका निम्नलिखित अनुवाद में वाक्यगत ईपमिन्नायता दोष है

‘राजा प्रियवदा ने गान्धर्वता से सच्ची पर बहुत प्रिय बात कही है।

—अनु० अनुातर, १० ८

यहा मूल के अनुसार प्रिय पर सच्ची होना चाहिए।

वाक्यगत अतिमिन्नायता

इसका उदाहरण

‘सेनापति (जनान्तिकम) मन्त्रे ! स्थिरप्रतिवधी भव ! अहं तावन् स्वामिन्-

दिषत्तवत्तिमनुवतिष्य।

—शकुन्तल १ ५ से पद

अनुवाद में इसका यह रूप हो गया है

‘सेनापति (चुपके से) मित्र तुम भी खूब लगाओ खार। मैं भी स्वामी के मन

को बदलकर हो रहा हूँ।”

—अनु०, विराट, १० ६२

इसका ठीक अनुवाद यह होता

‘सेनापति (चुपके से) मित्र बट रहना। मैं तो याज्ञिक की मुह-दखी हो

कहूँगा।”

यहाँ 'राजा' के स्थान पर 'यह राजा' रखने का विधान है। इस तरह न रखने से यहाँ विधान ग़ोप है।

२ पात्र-दोष

पात्र-दोष वहाँ होता है जहाँ मूल नाटक के पात्र का रूप अनुवाद में बदल जाता है।

इसके उदाहरण लाला मोताराम के 'महावीर चरित' के अनुवाद तथा सत्य-नागयण के उत्तररामचरित के अनुवाद में हैं जिनमें राम की, जो मूल में अद्विप या मानव पात्र है अनुवाद में दिव्याद्विप पात्र बना लिया गया है।

३ सवाद दाप

यह दोष वहाँ होता है, जहाँ मूल के नाटकीय सवाद अनुवाद में बोलचाल की शैली के मवाद नहीं रहते अनुवादमात्र रह जाते हैं।

इसका उदाहरण है प्रबोधचन्द्रादय का कवि गुनावसिंह कृत अनुवाद।

शास्त्रीय अनुवादों के दोष

शास्त्रीय अनुवादों का सबसे बड़ा दोष दुरवधारण दोष है। दुरवधारण दोष वहाँ होता है जहाँ मूल का अवधारण या विचार अनुवाद में भिन्न या सदिग्ध या अस्पष्ट हो।

दुरवधारण के तीन भेद—भिन्नावधारण, सदिग्धावधारण और अस्पष्टावधारण—में से प्रथम का उदाहरण नीचे दिया जाता है।

भिन्नावधारण

जब अनुवादक मूल रचना के अवधारण या संकल्पना का किसी अन्य अवधारण या संकल्पना में बदल देता है तो रचना में भिन्नावधारण दोष आ जाता है। इसका उदाहरण पाण्डे विम्बन के इस पद्य में है

छन छन में विगलित वनत जगत्ता भावहि मानि ।

छाडि वासना सबल भे मुक्त तत्व हृष जानि ॥

—भारतेन्दु नाटिकावली, भाग २, पृ० ७०

यहाँ वाक्यगत भिन्नावधारण दाप है। मूल रचना में बौद्ध धर्म का दार्शनिक सिद्धांत बताया गया है। इसका अनसार, सब पदार्थ वस्तुतः असत् और क्षणिक हैं पर धीमति में वे सत् की तरह प्रतीत होते हैं। एही प्रतीति धीमति में धामना के कारण होती है। वासना नष्ट हो जाने पर धीमति विषय के उपराग में शून्य हो जाती है। मूल श्लोक यह है

भवे क्षणमयिण एव निरात्मवाश्च ।

यथापिता बहिरिव प्रतिभाति भावा ।

संवाधुना विगतिना विलवामनत्वा
दोषोत्तति स्फुरति निविपयापराया ।

—प्रशोधनोदयम्, ३ =

अनुवाद पढ़ने से बौद्ध धर्म के उपयुक्त दार्शनिक सिद्धांत का पता नहीं चलता ।

अनुवादों के गुण

अनुवादों में मुख्य गुण तीन हान चाहिए १ द्रवत्व या प्रवाह, २ उद्देश्य-संगति, और ३ निर्दोषत्व ।

१ द्रवत्व या प्रवाह

मूल भाषा के पदों और मुद्रावर्गों को पूरी तरह भूल कर उसका अर्थ का अनुवाद भाषा के मुहावरों में ऐसा प्रस्तुत करना कि मूलभाषा की गंध न रहे द्रवत्व कहना है । इस ही प्रवाह भी कहते हैं ।

लक्ष्मणसिंह, भारतेन्दु सीताराम बागी वर विद्यालङ्कार, आदि के अनुवादों के अधिकतर अंग में यह गुण है ।

२ उद्देश्य-संगति

मूल रचना के बिना जिस उद्देश्य से प्रस्तुत की थी उस उद्देश्य से संगत अनुवाद में उद्देश्य-संगति गुण होता है ।

भारतेन्दु के अधिकतर अनुवादों में यह गुण है ।

३ निर्दोषत्व

सबसे दोषहीन अनुवाद नहीं हुआ करता । किसी अनुवाद में जितने कम दोष हों वह उतना ही निर्दोषत्व गुण में सुख होता है ।

शोध-प्रवन्ध

संस्कृत नाटको के हिन्दी अनुवाद

विषय-प्रवेश

संस्कृत नाटका व हिन्दी अनुवादा का आरम्भ हिन्दी साहित्य व इतिहास व आदिवाला में मिला है। सबसे पहली अनुवाद रचना १५४४ ई० में की गई थी। यह रचना संस्कृत प्रबोधचंद्रोदय का संक्षिप्त हिन्दी अनुवाद है, जो महर्षि कवि का किया हुआ है। १८४३ में प्रथम मौलिक नाटक 'आनन्दरत्न' की रचना हुई। बीच में ३०० वर्षों में, संस्कृत व नाटका व अनेक हिन्दी (वज्र) अनुवाद तथा कुछ अन्य रचनाएँ भी नाटक नाम में प्रसिद्ध हुई। यहाँ में भारत-दुर्ग व पिता गोपालचंद (उपनाम गिरधरदास) तथा भारत-दुर्ग और उनके समकालीन की मौलिक नाटक रचनाएँ मिलती हैं, और कुछ संस्कृत नाटका व हिन्दी अनुवाद हुए। मौलिक हिन्दी नाटका का आधुनिक रूप में प्रणयन आरम्भ हो जाना व यहाँ भी संस्कृत नाटका व हिन्दी अनुवाद हाथ रहे हैं, और आज भी हिन्दी कायरमिका का जाना-प्रदान करते हैं।

संस्कृत में अनुक्ति नाटका की इस दीर्घ परम्परा का उल्लेख तो हिन्दी नाटक साहित्य व इतिहास में मिलता है, पर इन इतिहासकारों या अन्य किसी अध्ययता ने इन अनुवादों का मूल्यांकन करने का प्रयत्न नहीं किया। इस प्रबंध में इन अनुवादों की समस्या, इनकी सामाजिक प्रवृत्तियाँ, इनकी उत्कृष्टता और इनके योगदान का निरूपण करने का प्रयास किया गया है।

अध्ययन की सीमाएँ

उपलब्ध अनुवादों में कुछ तो मूल नाटक की क्यामात्र प्रस्तुत करने के लिए लिखे गए हैं, और कुछ में मूल का बहुत संक्षिप्त रूप लिया गया है। ये दोनों प्रकार की रचनाएँ ऐतिहासिक दृष्टि से महत्वपूर्ण होने पर भी वस्तुतः मूल नाटक की अनुवाद नहीं कहें जा सकती। इन रचनाओं में अनुवाद-चौकाल का कुछ भी पता नहीं चलता। ये रचनाएँ हमारे प्रबंध का विषय नहीं हैं, यद्यपि १८५० तक के इस प्रकार के अनुवादों का संक्षिप्त अध्ययन इनके ऐतिहासिक महत्व के कारण और परम्परामूर्त अविच्छिन्न रचन की दृष्टि से किया अवश्य गया है।

साधारणतया इन अनुवादों का ही विनोद अध्ययन किया गया है जो मूल नाटक का अविकल या प्रायः अविकल अनुवाद हैं, और साहित्यिक रसास्वादन के लिए अनूदित

विए गए हैं। जो अनुवाद, विशेषतः बीसवीं शती में, संस्कृत के छात्रों की सुविधा की दृष्टि से टीका प्रस्तुत करने के लिए संस्कृत नाटकों के साथ दिए गए हैं। उन्हें साहित्यिक अनुवाद नहीं कहा जा सकता। ये टीकानुवाद हैं, और इनके अनुवादों का लक्ष्य साहित्यिक रसास्वादन के लिए कोई रचना प्रस्तुत करना नहीं रहा। इसलिए ये टीकानुवाद भी हमारे अध्ययन क्षेत्र से बाहर हैं।

संस्कृत नाटकों में हमने प्राकृत सट्टक कपूरमजरी का भी माना है। इसका अनुवाद भारतेंदु ने किया है। और हमारी धारणा है कि वह अनुवाद मूल प्राकृत से न करके उसकी संस्कृत छाया से ही किया गया है। भारतेंदु के अपने साहित्यिक महत्त्व के कारण भी इस अनुवाद का यहाँ अध्ययन करना उचित होता। संस्कृत परम्परा तो प्राकृत रचनाओं को अपने में समाविष्ट करती ही है।

संक्षेप में इस प्रबंध का अध्ययन प्रधानतः उन अनुवादों तक सीमित है, जो मूल नाटक का अविकृत रूप साहित्यिक रसास्वादन के लिए प्रस्तुत करते हैं, यद्यपि १८५० से पहले के संक्षिप्त अनुवादों का भी अध्ययन ऐतिहासिक महत्त्व की दृष्टि से और परम्परा सूत्र दिखाने के लिए किया गया है।

अध्ययन का विभाजन

यह अध्ययन यों तो सात अध्यायों में विभाजित है पर पिछले तीन अध्याय ऐतिहासिक निरूपण के अंग नहीं हैं। प्रथम अध्याय में संस्कृत से अनूदित नाटकों की सूची दी गई है और उनकी सामान्य प्रवृत्तियाँ दिखाई गई हैं। अगले तीन अध्यायों में क्रमशः मध्य काल आधुनिक काल और वर्तमान काल के अनुवादों की समीक्षा की गई है। पाँचवें अध्याय में शाक्युत्तल के पाँच अनुवादों की तुलना की गई है। छठे अध्याय में रंगमंच की दृष्टि से अनूदित नाटकों पर विवेचन है। अन्तिम अध्याय में अनुवादों का योगदान दिखाने और मूल्यांकन करने का प्रयत्न किया गया है।

पहला अध्याय

अनुवाद और उनकी सामान्य प्रवृत्तिया

१५४४ में मल्ह कवि ने प्रबोधचन्द्रोदय का मणिष्य हिन्दी अनुबाद किया था। तब से आज तक किए गए अनुवादों की संख्या भी उस ऊपर पहुँचती है। इनमें से धारह रचनाएँ आधुनिक काल आरम्भ होने में पहले की हैं। आधुनिक काल के पहले पंचम वर्षों में सत्सईस अनुवाद हुए। वर्तमान काल में अर्थात् १९०० ईस्वी के बाद में आज तक ७४ नये अनुवाद हुए।

इन अनुवादों का विवरण तीन सारणियों में नीचे दिया गया है। पहली सारणी में रचनाकाल के क्रम से रचनाकाल, मूल नाटक का नाम और अनुवादक का नाम दिया गया है। जो रचनाएँ दाहर कोष्ठका में हैं वे प्रायः अनुवाद माना जाता रही हैं पर अनुवाद नहीं हैं, और मममसार नाटक गाल्त्रीय रचना है। दूसरी सारणी में आधुनिक काल से पहले की, आधुनिक काल की और वर्तमान काल की अनुबाद रचनाओं का अलग अलग परिगणन किया गया है। तीसरी सारणी में संस्कृत नाटका को वर्णानुक्रम से रख कर विभिन्न कालों में उनका अनुवादों की आवृत्ति दिखाई गई है।

सारणी १

कालक्रम से अनुवाद और उनके अनुवादक

(काष्ठ में विक्रम संवत्, बाहर ईस्वी सं०)

मध्यकाल, १५४४-१८५०

१५४४	(१५०१)	प्रबोधचन्द्रोदय	मल्ह कवि
१६२३	(१६८०)	((हनुमन्नाटक))	हृदयराम
		(रामगीत)	(हिरदराम)
१६३६	(१६९३)	((समयसार नाटक))	मनारसोपास
१६४३	(१७००)	प्रबोधचन्द्रोदय	जसजतसिंह
१६६६	(१७२६)	प्रबोधचन्द्रोदय	अनायनास
१६७०	(१७२७)	((गुप्तलोपाख्यान))	नवाज
?		प्रबोधचन्द्रोदय	जन अनन्य
१७३८	(१७९५)	मालतीमाधव	सोमनाथ चतुर्वेदी
		(माधवविनाद)	

१७४३	(१८००)	प्रबोधचन्द्रोदय	सुरति मिश्र
१७६०	(१८१७)	प्रबोधचन्द्रोदय	सुरति मिश्र
१७८३	(१८४०)	प्रबोधचन्द्रोदय (नाटकानन्द)	आनन्द
१७८६	(१८४६) (प्रकाशन १९०१ ईस्वी)	प्रबोधचन्द्रोदय	गुलाबसिंह
१७८६		प्रबोधचन्द्रोदय	नानकदास
१७९६		प्रबोधचन्द्रोदय	धीराल मिश्र
१७९६		शकुन्तला नाटक	धीराल मिश्र

प्राधुनिक काल, १८५१-१९००

१८६३	शकुन्तला नाटक	राजा लक्ष्मणसिंह
१८६८	रत्नावली	भारतदु हरिश्चन्द्र
१८७१	उत्तररामचरित	दत्त तिवारी
१८७२	पाण्डव विद्वम्बन (प्रबोधचन्द्रोदय अंक ३)	भारतदु हरिश्चन्द्र
१८७२	रत्नावली	दत्त तिवारी
१८७३	धनजय विजय	भारतदु
१८७४	मुद्राराक्षस	भारतदु
१८७५	((सत्य हरिश्चन्द्र))	भारतदु
१८७६	कपूर मजरी	भारतदु
१८७६	प्रबोधचन्द्रोदय	शीतलाप्रसाद
१८८०	मच्छकटिक	गदाधर भट्ट
१८८१	मालतीमाधव	शालिग्राम
१८८४	प्रबोधचन्द्रोदय	अयाध्याप्रसाद चौधरी
१८८६	उत्तररामचरित	न दत्त विश्वनाथ दत्त
१८८८	अभिमान शकुन्तला	न० वि० दत्त
१८८९	शकुन्तला नाटक (गद्य पद्य वाला संस्करण)	राजा लक्ष्मणसिंह
१८९०	((संगीत शकुन्तला))	प्रतापनारायण मिश्र
१८९४	प्रबोधचन्द्रोदय	भुवदत्त दुब
१८९५	रत्नावली	रामेश्वर भट्ट
?	वेणीसंहार	जम्बिकादत्त व्यास
१८९७	वेणीसंहार	ज्वालाप्रसाद मिश्र
१८९७	नागानन्द	सीताराम 'भूप'
१८९७	उत्तररामचरित	सीताराम 'भूप'

१८६७	महावीरचरित
१८६८	रत्नावली
१८६८	मालतीमाधव
१८६८	मच्छकटिक

सीताराम 'भूप'
बालमुकुन्द गुप्त
सीताराम 'भूप'
सीताराम 'भूप'

वर्तमान काल, १९०१-१९६४

१९०२	अभिमान साकुन्तल
?	मच्छकटिक
?	मच्छकटिक
?	मच्छकटिक

ज्वालाप्रसाद मिश्र

१९०६	नागानन्द
१९०८	प्रबोधचन्द्रोदय
१९१०	पावतीपरिणय
१९१२	उत्तररामचरित
१९१२	((कुरुन दहन))
१९१२	भृगु हरिविन्द

दयालमिह ठाकुर

दामोदर शास्त्री

बालकृष्ण भट्ट

सन्तान जवर्षी

वर्णि गोपालशास्त्र

रामदत्त नर्म

हरिमल मिश्र

बदरीनाथ भट्ट

वचनेश मिश्र

सत्यनारायण 'कविरत्न'

बाबूलाल मायाशंकर दुब

विजयानन्द त्रिपाठी

सत्यनारायण कविरत्न

विजयानन्द त्रिपाठी

विजयानन्द त्रिपाठी

प्रकाशन—गंगा प्रकाशन

गौरीशंकर नर्म

प्रकाशन—गंगा

रामनाथगव

प्रकाशन—

१९१३	उत्तररामचरित
१९१३	स्वप्नवासवदत्ता
१९१४	रत्नावली
१९१७	मालतीमाधव
१९२५	मालविकाग्निमित्र
१९२५	प्रबोधचन्द्रोदय
१९२५	मध्यम-यायोग
१९२८	मध्यम-यायोग
१९२८	मध्यम-यायोग
१९२८	दूतवाक्य
१९२८	पञ्चरात्र
१९२८	प्रतिमा
१९२८	पञ्चरात्र
१९२९	स्वप्नवासवदत्ता
१९२९	मालतीमाधव
१९३०	स्वप्नवासवदत्ता
१९३१	पञ्चरात्र
१९३१	कुन्दमाला
१९३२	कुन्दमाला
१९३२	वेणीसहार

?	प्रतिमा	सूयकांत शास्त्री
१६३४	प्रतिमा	बलदेव गाम्त्री
१६३५	उत्तररामचरित	रामनाथराय
१६३५	प्रबोधचन्द्रोदय	महेशचन्द्रप्रसाद
१६३७	अभिषेक	प्रेमनिधि गाम्त्री
१६३७	शकुन्तला नाटक	बलदेव शास्त्री
१६३८	प्रतिनाथयोगधरायण	बलदेव गाम्त्री
१६३८	वर्णसंहार	हरदयालु मिह
१६३८	प्रतिमा	परमेश्वरानन्द गाम्त्री
१८४२	मालविकाग्निमित्र	गोरीशंकर यास
१८४४	मालविकाग्निमित्र	गोविन्द गाम्त्री दुग्गवेकर
१८४६	मध्यम	बलदेव गाम्त्री
१८४६	?	बलदेव गाम्त्री
१८४६	दूतवाक्य	बलदेव शास्त्री
१८४६	ऊरुभग	बलदेव गाम्त्री
१८४६	मुद्राराक्षस	बलदेव गाम्त्री
?	चारदत्त	बलदेव गाम्त्री
१८४६	पञ्चरत्न (अप्रकाशित)	बलदेव गाम्त्री
१८४६	वर्णभार	हरदयालु मिह
१८४६	दूतवाक्य	हरदयालु मिह
१८४६	मध्यम	हरदयालु मिह
१८४६	नागानन्द	गंगाधर इन्दूरकर
१८४६	प्रियदर्शिका	गंगाधर इन्दूरकर
१८४६	रत्नावली	गंगाधर इन्दूरकर
१८४६	मध्यम यामोग	सीताराम सहगल
१८४६	दूतवाक्य	सीताराम सहगल
१८४६	ऊरुभग	सीताराम सहगल
१८५०	((कुन्दमाला)) (मञ्च रूपांतर)	सत्येन्द्र शर्मा
१८५०	दूतागद	केदारनाथ शर्मा
१८५४	अभिनानशाकुन्तल	विराज
१८५४	स्वप्नवासवदत्ता	भगवतशरण उपाध्याय
१८५४	प्रतिनाथयोगधरायण	
१८५५	दूतघटोत्कच	मधिलीशरण गुप्त
१८५५	मध्यमव्यायोग	सियारामशरण गुप्त
१८५७	विक्रमोवर्णी	विराज
१८५७	मालविकाग्निमित्र	विराज
१८५७	उत्तररामचरित	इन्द्र

१६५७	मृच्छकटिक	रागय राघव
१६५७	मुनाराक्षस	रागय राघव
७	विजयमाधवी	द्वन्द्वेश्वर
१६५८	अभिमानगाकुन्तल	इन्दुगम्बर
१६५८	स्वप्नवासवदत्ता	गोपालकृष्ण बोन
१६६१	अभिमानगाकुन्तल	बागीश्वर विद्यालकार
१६६७	((मृच्छकटिक-मंच रूपांतर))	मत्स्यव्रत सिन्हा
	((मिट्टी की गाड़ी))	
१६६२	मृच्छकटिक	माहन रावण

सारणी २
अनूदित नाटक (तीन कालों में)
रचना-काल के क्रम में

क्रमांक	नाटक	१८५० से पहले	१८५१-१९००	१९०० के बाद	कुल योग
मध्यकाल में प्रथम बार अनूदित					
१	१ प्रबोधचन्द्रादय	१०	४	३	१७
२	२ भावनीमाधव	१	२	०	५
३	३ अभिमानगाकुन्तल	१	४	५	१०
आधुनिककाल में प्रथम बार अनूदित					
४	१ रत्नावली	—	४	२	६
५	२ उत्तररामचरित	—	३	४	७
६	३ घनजय विजय	—	१	—	१
७	४ मुद्राराक्षस	—	१	३	४
८	५ कपरमजरी	—	१	—	१
९	६ मृच्छकटिक	—	०	५	७
१०	७ वणीमहार	—	२	२	४
११	८ नागानन्द	—	१	२	३
१२	९ महावीरचरित	—	१	—	१
१३	१० मालविकाग्निमित्र	—	१	४	५
वर्तमानकाल में प्रथम बार अनूदित					
१४	१ पायसीपरिणय	—	—	१	१
१५	२ भक्त हरि निवेद	—	—	१	१
१६	३ स्वप्नवासवदत्ता	—	—	५	५
१७	४ मध्यम-यायोग	—	—	७	७
१८	५ दूतवाक्य	—	—	७	७

क्रमांक	नाटक	१८५० से पहले	१८५१-१९००	१९०० के बाद	कुल योग
१९	६ पञ्चरात्र	—	—	८	८
२०	७ प्रतिमा	—	—	४	८
२१	८ कुन्दमाला	—	—	३	३
२२	९ अभिषेक	—	—	१	१
२३	१० प्रतिमा०	—	—	३	३
२४	११ ऊरुभग	—	—	२	२
२५	१२ वणभार	—	—	१	१
२६	१३ प्रियदर्शिका	—	—	१	१
२७	१४ दूतघटोत्कच	—	—	१	१
२८	१५ दूतागम	—	—	१	१
२९	१६ विक्रमावशी	—	—	२	२
३०	१७ चारुदत्त	—	—	१	१
कुल योग		१२	०७	७४	११३

सारणी ३

अनुदित संस्कृत नाटक (वर्णक्रम से) और
उनके अनुवादों की संख्या

क्रमांक	नाटक	कुल अनुवाद	१८५० से पहले	१८५१-१९००	१९०० के बाद
१	अभिषेकनाटक	१०	१	४	५
२	अभिषेकनाटक	१	—	—	१
३	उत्तररामचरितम्	७	—	३	४
४	ऊरुभगम्	२	—	—	२
५	वर्णभारम्	१	—	—	१
६	कपूरमञ्जरी	१	—	१	—
७	कुन्दमाला	३	—	—	३
८	चारुदत्तम्	१	—	—	१
९	दूतघटोत्कचम्	१	—	—	१
१०	दूतवाक्यम्	८	—	—	४
११	दूतागमम्	१	—	—	१
१२	घनश्यामविजय	१	—	१	—
१३	नागानन्दम्	३	—	१	२
१४	पञ्चरात्रम्	४	—	—	४
१५	पावती परिणयम्	१	—	—	१

अनुवाद और उनकी सामान्य प्रवृत्तिया

१०३

क्रमांक नाटक

कुल अनुवाद

१८१० म

१८११-१९००

१९०० के बाद

क्रमांक	नाटक	कुल अनुवाद	१८१० म	१८११-१९००	१९०० के बाद
१६	प्रतिमा	४	—	—	—
१७	प्रतिपा०	३	—	—	४
१८	प्रबोधचन्द्रोदयम्	१७	१०	४	३
१९	प्रियङ्गुविवा	१	—	—	३
२०	भन हरिनिर्वन्ध	१	—	—	१
२१	मध्यम-यायाग	७	—	—	१
२२	महावीरचरितम्	१	—	—	७
२३	मालती माधवम्	५	१	३	—
२४	मालविकाग्निमित्रम्	१	—	१	३
२५	मुद्राराक्षसम्	४	—	१	४
२६	मृच्छकटिकम्	७	—	१	३
२७	रत्नावली	६	—	३	३
२८	विश्वामित्र-गीयम्	७	—	४	३
२९	वेणीसहारम्	६	—	—	३
३०	स्वप्नवाग्वदत्तम्	५	—	३	२
कुल योग		११३	१२	२७	७४

अनुवादों की सामान्य प्रवृत्तिया

- १ मूल नाटक का चुनाव
- २ अनुवाद का उद्देश्य
- ३ प्रतिपादन गली
- ४ अनुवाद गली
- ५ रचना गली
- ६ भाषा
- ७ छान्द चुनाव, निर्देश, छाप

१ नाटक का चुनाव

मध्यकाल या पूर्व भारतेन्दुकाल में अनुवाद के लिए नाटक का चुनाव करने में बड़ा सीमित दृष्टि रही। मोमनाथ चतुर्वेदी और धौकल मिश्र को छोड़कर और मन्व अनुवादका ने प्रबोधचन्द्रोदय का ही अनुवाद किया। सामनाथ ने मालती माधव का अनुवाद किया था और धौकल मिश्र ने गान्धुतन का। नेवाज ने शकुन्तलोपाख्यान में अभिमानसाकुन्तल नाटक की कथामात्र दी है और इसे मूल सस्रज नाटक का अनुवाद नहीं कह सकते।

आधुनिक काल या भारतेन्दुकाल (१८५०-१८०० ई० म) चुनाव का दृष्टि का

अनुवादका ने इसे जाग बढ़ाया। राजा लक्ष्मणसिंह भारत-दु से प्रभावित ता हुए, पर उनमें नाटकीय प्रतिभा और नाटक धाध का अभाव था। अपने शत्रु-तला नाटक का दूसरा संस्करण प्रकाशित करने समय उन्होंने संस्कृत पद्या के स्थान पर राजभाषा के पद्य तो रचे, पर उनके छन्दों के चुनाव से प्रकट होता है कि नाटकीय अपभाषा पर उनका ध्यान न था। चौपाई छंद का, जो क्या कहने के लिए अधिक उपयुक्त छंद है बहुत अधिक प्रयोग उनकी इस प्रवृत्ति का अच्छा सूचक है।

यह स्पष्ट है कि इस काल में मध्यकाल की तरह के धार्मिक लक्ष्य से अनुवाद करनेवाले अनुवादक नहीं दिखाई देते। जिन लोगों ने उस काल की सम्मानित रचना प्रवाधचन्द्रोदय को हाथ भी लगाया, जस स्वयं भारत-दु या अयो-याप्रसाद चौधरी ने, उनका ध्यान धार्मिक लक्ष्य पर न होकर, सामाजिक सुधार या काव्य रचना पर रहा। अजबालीदास के अनुवाद के पद्य रूप को गद्य करते हुए भुवनेश्वर दुवेन 'नाट्यरसिक-पुरुषों के चित्त विनादाय' (मुखपृष्ठ) राजभाषा में अनिलसित बनाने का उल्लेख किया है। भारत-दु ने केवल तृतीय अंक का अनुवाद किया है जो पाण्डव का उपहास करता है। अयो-याप्रसाद चौधरी ने भी नाट्यरूप का महत्त्व दिया है।

इस प्रकार इस काल में अनुवादका के दो उद्देश्य रहे—१ पाठ्य नाटक रचना प्रस्तुत करना ॥ अभिनय रचना प्रस्तुत करना। मध्यकाल के दो उद्देश्य—धार्मिक तथा काव्य रचना—में से पहला तो लुप्त हो गया और दूसरा कुछ परिवर्तित होकर इन दो रूपों में आ गया। इस काल में मूल का परिचयमान दत्त के उद्देश्य से रचनाएं नहीं हुई।

वर्तमान काल (उत्तर भारत-दु काल) सन् १९०० ईस्वी के बाद के अनुवादा में पूर्वकाल की प्रथम प्रवृत्ति अर्थात् पाठ्य रचना प्रस्तुत करना मुख्य रही। १९१२ में बचनेन मिश्र ने भद्र हरि निर्वेद का एक अनुवाद कालाकाकर की जाज पियट्रिकल कंपनी के लिए किया था। उसकी रचनागली में तत्कालीन थियेटरों की ऊँच स्तर दिखाई देने लगी है। इस प्रकार का दूसरा अनुवाद कुन्दमाला का बागीश्वर विद्यालंकार द्वारा अनुवाद कहा जा सकता है। इस पद्या का अनुवादक न नाट्योचित संग्रह और प्रचलित तर्जों में रखने का यत्न किया है। कुछ मंच रूपान्तर या रडियो रूपान्तर हाल में वपों में हुए हैं, जम मृच्छकटिक का मंच रूपान्तर जो सत्यव्रत सिंहा ने किया है पर इन रूपांतरों को मूल का अनुवाद नहीं कहा जा सकता। इनमें क्यावस्तु संस्कृत नाटक का आधार रखते हुए मूल से बहुत भिन्न हो गई है जिसके कारण इनकी गणना पराधीन रचनाओं में करनी चाहिए।

निष्पत्ति यह हुआ कि संस्कृत नाटका के हिन्दी अनुवादा का लक्ष्य पहले तो धार्मिक वैयाकरण के लिए काव्य रचना प्रस्तुत करना रहा। बाद में आधुनिक काल के पूर्वभाग में पाठ्यनाटक प्रस्तुत करने का उद्देश्य लेकर अनुवाद किए गए। एक भारत-दु का ही उद्देश्य अभिनय रचना प्रस्तुत करना था। इस काल के पिछले हिस्से में पाठ्यनाटक प्रस्तुत करने का उद्देश्य ही प्रमुख रहा और अभिनय रचना प्रस्तुत करने का उद्देश्य रखकर अनुवाद करनेवाले एक वर्ग नहीं मिला। या फिर कुछ रूपान्तर किए गए जो मंच या रडियो के लिए थे पर वे मूल से इतने भिन्न हैं कि अनुवाद नहीं कहा जा सकता।

३ प्रतिपादन-शैली

प्रतिपादन की दृष्टि से पूरे भारत-दुर्वास की रचनाओं में दो शैलियाँ दिखाई देती हैं

(क) वृत्तात्मक

(ख) सवादात्मक नाटकीय

अधिकतर रचनाएँ वृत्तात्मक व्याख्यात्मक शैली में हैं। अभिनय-सहित कहा भी नहीं है। जहाँ उदात्त से परत वृत्ता का उल्लेख है वहाँ वृत्त-जनन 'मन्त्र' है कि वृत्ता का उल्लेख औपचारिक दिखाई देता है। यह रचना का नाटकीय रूप में 'मन्त्र' है। जबल जमबन्तसिंह ने सवादात्मक रूप रखा है पर यह रचना इसकी अभिव्यक्ति है कि उत्तम नाटकीय प्रभाव का पुष्ट होना अमम्भव है।

दूसरे प्रकार इस काल में प्रतिपादन-शैली में प्रधान प्रवृत्ति वृत्तात्मक है।

भारत-दुर्वास में वृत्तात्मक शैली का बिलकुल सापेक्ष जाना है और सवादात्मक शैली ही सर्वत्र दिखाई देती है। इस काल में जो अनुशासन अपने अनुवाद का अभिनय रचना का रूप देने में प्रवृत्त नहीं थे, उन्होंने भी अभिनय-सकृता और वृत्तात्मक का मूल का अनुसार उल्लेख किया है और प्रयत्न करने पर इसमें से अनेक अनुवाद मामूली हरे हरे में सवादात्मक नाटकीय सवादात्मक अभिनय नाटक बन सकते हैं। बहुत से अनुवादकों में अका में वृत्ता के स्थान का प्रवृत्त करने अभिनयना में अपनी रुचि दिखाई है।

यही प्रवृत्ति उत्तर भारत-दुर्वास में भी चलती रही और आज तक चलती आ रहा है। पर इस काल में ध्यान-मग्न मन का प्रवृत्ति का हास दिखाई देता है। उत्तर भारत-दुर्वास का इस प्रकार के तीन सम्पूर्ण गद्य अनुवाद—अभिनय-शायर, मालविकाग्निमित्र और विष्णुभोगी ने विराज-वृत्त अनुवाद इन्होंने १९६१ और १९६२ में सफलता के साथ सब पर प्रस्तुत किए गए थे।

निष्कर्ष यह हुआ कि पूर्वभारत-दुर्वास की वृत्तात्मक शैली भारत-दुर्वास में आकर बिलकुल समाप्त हो गई और सवादात्मक शैली भारत-दुर्वास में पूर्ण पुष्ट हुई, पर बाद में भी चलती रही। यह कहा जा सकता है कि पूर्वभारत-दुर्वास की काव्य प्रवृत्ति का भारत-दुर्वास नाटक की ओर भाव दिया और वह आज भी अधिकतर उसी दिशा में चल रही है।

४ अनुवाद-शैली

पूर्वभारत-दुर्वास में दो शैलियाँ दिखाई देती हैं

१ भाषांतर

२ सहाय

रजवामोदास, गुलाबसिंह नानकदास और धौलस मिश्र की रचनाएँ सादे तौर से भाषांतर शैली के अनुवाद हैं। मन्त्र और जमबन्तसिंह ने सहाय प्रस्तुत किए हैं।

भारत-दुर्वास से केवल भाषांतर शैली चल पड़ी। किसी किसी ने थोड़ा बहुत

हेर पर करक रूपा तर किया अवश्य, जस प्रवाचक-द्रादय मे महेशचन्द्रप्रसाद ने, पर यह प्रवृत्ति नगण्य रही। मूल से बहुत थोड़ा अंतर तो भारतेन्दु और सीताराम ने भी किया पर वह नाटकीय दृष्टि या सामाजिक भावना के कारण किया गया था। भारतेन्दु ने नाटक के अभिनय के समय गान के लिए गीत भी लिखे—जैसे मुद्राराक्षस में। मूल नाटक को पूर्ण रूप में प्रस्तुत करने का ही अनुवादका न यत्न किया।

इस काल में संस्कृत नाटकों के आधार पर उनकी सामग्री से आधुनिक मंच पर अभिनय योग्य नाटक प्रस्तुत करने की प्रवृत्ति का भी उल्लेख यहां होना चाहिए। यद्यपि यह रचनाएं मूल नाटकों की अनुवाद नहीं बल्कि जा सकती, पर इनकी रचना मूल नाटकों की सामग्री से ही हुई। नए तरह की पराधीन रचनाओं का आरम्भ भारतेन्दु के सत्य हरिश्चन्द्र से समझना चाहिए जिसका बहुत सा हिस्सा चण्ड कौशिक की सामग्री से संस्कार किया गया—पर तु इन दोनों रचनाओं में बीज फल तथा नेता की दृष्टि से भारी अंतर है। बाद में वेंकटेश्वर का आधार बनकर बदरीनाथ भट्ट ने 'कुरवनदहन' की रचना की। इस प्रकार का नए जनक पराधीन रचनाएं इन्होंने सामग्री की दृष्टि से ऋणी होती हुई भी फल और इतिवत् विधान की दृष्टि से सबंध मौलिक हैं।

उत्तर भारतकाल या वर्तमानकाल में साधारणतया भाषान्तर अनुवाद हुए, कुछ पराधीन रचनाएं इन्होंने मंच और रेडियो के लिए कुछ रूपान्तर भी हुए। पर भारतेन्दु ने अनुवाद रचनाओं का अभिनेय नाटक बनाने का जसा यत्न किया था, वसा यत्न करने की ओर बाद के अधिकतर अनुवादकों ने विशेष ध्यान नहीं दिया।

५ रचना शली

रचना शली की जो परम्परा महक कवि से आरम्भ हुई थी, वह पद्य रचना की परम्परा थी। इसमें न केवल मूल के गद्य और पद्य को पद्यरूप दिया गया था कही कही तो वक्ता का उल्लेख और अभिनय-संज्ञत भी पद्य में ही रखे गए थे। यह परम्परा सारे पूर्व भारतकाल में चलती रही—बस जसवन्तसिंह हमने अपना दायें। इन्होंने अपनी मशहूर रचना में प्रथम बार गद्य का स्थान दिया बल्कि यह कहना अधिक उपयुक्त होगा कि इन्होंने पद्य का नाममात्र का रखा गेप सारी रचना गद्य में ही की।

गद्य रचना की यह शली जसवन्तसिंह के साथ ही समाप्त हो गई। बाद में आधुनिक काल के आरम्भ में सड़ी वाली हिन्दी के गद्य का चलन होने पर अनुवादकों ने गद्य में रचना की। इस काल के प्रथम अनुवादक राजा लक्ष्मणसिंह ने शाकुन्तल का सारा अनुवाद सड़ी वाली गद्य में किया। पर तु यह शली भी जड़ न जमा सकी।

भारतेन्दु ने अपनी रचनाओं में मूल के गद्य का गद्य में और पद्य का पद्य में रूपान्तर किया। इस प्रकार जो नाटकीय रचना गनी चली वह इतनी पसंद की गई कि राजा लक्ष्मणसिंह ने भी अपनी पहली रचना के छद्म नाम वप बाद उसका दूसरा संस्करण करते हुए यह गद्य पद्य गला अपना ली।

यह गनी आज तक लोकप्रिय है। पर गद्य शली में भी पिछले कुछ वर्षों में अनेक अनुवाद हुए हैं। विराज राधक राधक जादि ने गद्य शली में ही अनुवाद किए हैं।

गद्य शैली का ही एक प्रकार था कि भिन्न रूप में माहित राखना 'मृच्छकटिक' में अनुवाद में अपनाया है। इसमें मूल पद्य की वस्तु अनन्त छाती-बड़ी पत्रिका में रखा गद्य है—यह छन्द रचना तो नहीं है पर 'गामद' लय व सम्बन्ध में बिना व्यक्तिनिष्ठ धारणा व आधार पर उसे तयकरचित नया कविता व वाह्य रूप में रचने का यत्न किया गया है। सम्भव है अभिनेता का ये पत्रिका वाचन में कुछ सुविधा हो।

इस प्रकार रचना 'गला' की दृष्टि में अनुवादों में पद्य पद्य की प्रवृत्ति प्रधान मिलती है उससे बाद गद्य और पद्य दोनों रचने की प्रवृत्ति है यद्यपि सम्पूर्ण गद्य की रचनाओं की भी कमी नहीं।

६ भाषा

१८५० से पहले की सब रचनाएँ ब्रजभाषा में हैं। मगरी कम समय मध्ययुग की साहित्यिक भाषा थी। इसलिए पञ्जाब व गलाजगिरि हाँ था राजस्थान व 'मनमन्मि' शब्दों में रचना की।

१८५० व बाद के अनुवादों में ब्रज भाषा की शैली का प्रयोग आरम्भ हो गया जो आज तक चला आता है। पर १९०० तक व काल में पद्य रचना ब्रजभाषा में ही चलती रही। भारत-दुर्गम गद्य-पद्य में रचना की तब गद्य नामक भाषा हिंदी में मिली, पर पद्य ब्रजभाषा में ही रहे। किन्तु इनकी ब्रजभाषा मही वाली शैली के बहुत निकट जा गए।

१९०० के बाद भी पद्य रचना ब्रजभाषा में चलती रही पर लड़ा बोला में भी आरम्भ हो गई। १९२६ व बाद गरीबों वाली पद्य का प्रचलन अधिक हो गया पर बिना किसी अनुवादक न पद्य में अब भी ब्रजभाषा रखा जस हरदयापुरी व वृषभानन्द (१९३६) और कणभार (१९८६) व अनुवादक। पर ये अनुवाद ही समझने योग्य।

१९०० व बाद की पद्य रचनाओं में ब्रज और गरीब दोनों शैली का मिश्रण भी मिलता है। जहाँ अनुवादक समय रचना न कर सका, उसमें आवश्यकतानुसार ब्रजभाषा व सगुण या त्रिषुषुण का भी प्रयोग कर लिया। इस प्रकार का एक अनुवाद मध्य जीवन वमा का स्वप्नवासवता है।

७ छन्द

मध्ययुग में ब्रजभाषा-साहित्य में प्रचलित कविता, छप्प सवैया दात्रा, चौपाई ही अधिक प्रचलित रूप में गुणार्वाहृत जा मशहूर के अध्ये विद्वान् व सम्भूत व गान्धर्व विभाजित, भूजगप्रयात अनन्त, नाराज विषयों जाति द्रव्य का भी प्रयोग किया। अधिकतर अनुवादक न छन्द का विविधता का आर ध्यान न कर चौपाई जादि प्रचलन वाच्य व छन्दों का ही प्रयोग किया।

दूसरी बात यह है कि छन्द का चुनाव करने में किसी रसापवागिता की आज नहीं की गई। गुणार्वाहृत की छन्द की विविधता भी इस दृष्टि में अधिक महत्त्व का नहीं रहती। जापन कथा का आग वृत्त व लिंग भी भूजगप्रयात का प्रयोग किया।

इस काल में दो बातें और दर्ज में आती हैं—एक तो यह कि अनुवादों में पद्य

व ऊपर छंद का नाम दिया है और दूसरी यह कि कुछ अनुवादकों ने पद्यों में उस प्रकार अपने नाम या उपनाम का निर्देश दिया है जैसे कवि लोग मुक्तर पद्यों में किया करते हैं। इस प्रकार अपने नाम की छाप लगानेवाला में मल्ल कवि या मयुरादास, सोमनाथ या ममिताय और गंगाधरसिंह के नाम उल्लेखनीय हैं।

भारतेन्दुकाल में छंदों की विविधता का विस्तार हुआ और अनुवादकों ने लय के आधार पर अपने मन से भी छंद चलाए। इस काल में पद्य रचना सबसे पहले भारतेंदु ने की थी—लक्ष्मणसिंह ने तो (अपने प्रथम संस्करण में) केवल दो तीन पद्य या गीत रखे थे जो निम्न नाटकीय औचित्य को लक्ष्य में रखकर लिखे गए थे। पर भारतेंदु ने पद्या का बहुत प्रयोग किया यहाँ तक कि कहीं कहीं दूसरे कवियों के कुछ पद्य बद्ध बगन भी अपनी अनुवादा रचना में जोड़ दिए।

भारतेन्दु ने छंद का चुनाव भी रसोचित्य का ध्यान रखा है। बाद में पद्य रचना करनेवाले लक्ष्मणसिंह और सीताराम इस दृष्टि को न अपना सके। फिर भी कुछ मिला कर यह कहना ठीक होगा कि इस काल में छंदों की विविधता के साथ साथ उनके रसोचित्य पर भी कुछ ध्यान दिया गया।

इस काल में छंद का निर्देश भी कुछ रचनाकारों ने किया। भारतेंदु अधिकतर इसमें दूर रहें हैं पर लक्ष्मणसिंह ने यह निर्देश किया है। इस काल में बाद यह प्रवृत्ति प्रायः समाप्त हो गई। अपने नाम की छाप लगाना भी प्रायः किसी अनुवादक ने उचित नहीं समझा। लाला सीताराम ने कहीं-कहीं अपना उपनाम भूष पद्यों में रखा है।

वर्तमानकाल की रचनाओं में छंदों की परिपाटी बर्लब गई। पुराने छंदों का प्रयोग बहुत कम हो गया। अपने बनाए छंद भी चलाए गए। कुछ अनुवादकों ने प्रासंगिक औचित्य का ध्यान रखा जैसे कचराश मिश्र और बागीश्वर विद्यालंकार। दूसरी ओर गायनारायण कविरत्न जैसे रसिक न अनुवादों में गीत रचना भी की जो कहीं कहीं कथन कथावस्तु का वाग बढ़ाती है। छंदों का नाम निर्देश और अपनी छाप लगाने की प्रवृत्ति इस काल में भी दिखाई नहीं देती।

सारांश

अनुवाद के लिए नाटकों का चुनाव समयकाल में बहुत सीमित रहा। प्रबोध चरित्रात्मक पर ही अधिकतर अनुवादकों की दृष्टि गयी। दूसरा नाटक भालनीमाधव या जिनका एक अनुवाद हुआ। चौहल मिश्र ने शाकुन्तल का अनुवाद भी किया। राजा न मर्णाह और उनके बाद के अनुवादकों की दृष्टि बहुत व्यापक रही और १८५०-१९०० तक कम से कम लगभग सत्तर नाटकों का अनुवाद हुए। दृष्टि का यह विस्तार वर्तमान काल में और बढ़ गया इसमें सन्देह नये नाटकों का अनुवाद हुआ। इस प्रकार कुछ अनुचित संस्कृत नाटकों की संख्या नास्त हो जाती है।

समयकाल में अधिकतर अनुवादकों का अनुवाद करने का उद्देश्य धार्मिक या जन कल्याण का था, पर शैक्षणिक जैसे कोई भी इतना नहीं था। धार्मिक उद्देश्य वाले प्रावामां दाम और नानकदास ने तो पारसी अनुवादों से ब्रजभाषा में अनुवाद किए। राजा लक्ष्मण

सिंह के समय से अनुवादका का उद्देश्य काव्यरस का आस्वादन और हिन्दा नाटक साहित्य की समृद्धि हो गया। यही उद्देश्य आज तक चलता आता है। अनुवाद का अभिनय बनाने की ओर ध्यान देनेवाला भी मर्यादा पहल भी कम रही और आज भी कम है।

मध्यकाल में प्रतिपादन गौरी वणनात्मक अधिक रहा। मर्यादात्मक कम, पर राजा लक्ष्मणसिंह से आज तक मर्यादात्मक नाटकीय गीता की ही परम्परा चलती आती है।

अनुवाद गौरी भाषांतर की रहा। बाड़े-बहुत रूपांतर भी किए गए, पर मुख्य प्रवृत्ति भाषांतर ही था।

रचना गीता मध्यकाल में पद्यात्मक थी। बाद के दो कालों में यह गद्यात्मक और गद्य-पद्यात्मक हो गई।

मध्यकाल में केवल राजभाषा का प्रयोग हुआ। १८५० के बाद पहल गद्य में लड़ी बोली हिन्दी और फिर १८२८ के बाद पद्य में भी अधिनतर इसी का प्रयोग होने लगा।

छन्दों के चुनाव में विविधता निरन्तर बढ़ता गई। मध्यकाल में रसोचित्य का ध्यान कम था छन्दों का सक्त करने और छाप लगाने की प्रवृत्तियाँ भी थी। आधुनिक काल में रसोचित्य की ओर ध्यान गया और छन्दों सक्त की प्रवृत्ति धीरे धीरे लुप्त हो गई और स्वनाम सक्त करने का साधारणतया किसी भी अनुवादक ने उचित नहीं समझा।

दूसरा अध्याय मध्यकाल के अनुवाद

हिन्दी नाटक साहित्य के इतिहास में पहले अनुवाद-नाटकों की सूची हृदयराम के हनुम नाटक से आरम्भ होती थी। १९६२ में डा० (श्रीमती) सराज अग्रवाल ने प्रबोध चन्द्रादय की हिन्दी परम्परा पर शोध करते हुए इसमें एक अनुवाद की खोज की जिसका रचयिता मरहू कवि है और रचनाकाल १५४४ ई० (वि० १६०१)। इस रचना को प्रथम स्थान दिया जाए तो मध्यकालीन अनुवादों में गिनाइ गइ रचनाओं की संख्या पंद्रह हो जाती है। रचनाओं तथा रचयिताओं के नाम कालक्रम से इस प्रकार हैं

१	१५४४ ई०	(१६०१ वि०)	प्रबोधचन्द्रोदय	मरहू कवि
२	१६२३ ई०	(१६८० वि०)	हनुम नाटक	हृदयराम
३	१६३६ ई०	(१६६३ वि०)	समयसार नाटक	बनारसीदास
४	१६४३ ई०	(१७०० वि०)	प्रबोधचन्द्रोदय	जसवंतसिंह
५	१६६६ ई०	(१७२६ वि०)	प्रबोधचन्द्रोदय	अनाथदास
६	१६७० ई०	(१७२७ वि०)	शकुन्तलापाख्यान	नवाब
७	?		प्रबोधचन्द्रोदय	जन अनन्ध
८	१७३८ ई०	(१७६५ वि०)	माधवविनोद (मालती माधव)	सामनाथ चतुर्वेदी
९	१७४३ ई०	(१८०० वि०)	प्रबोधचन्द्रोदय	सुरति मिश्र
१०	१७५८ या १७६० ई०	(१८१६ या १८१७ वि०)	प्रबोधचन्द्रोदय	ब्रजवासीदास
११	१७८१ ई०	(१८४० वि०)	प्रबोधचन्द्रोदय (नाटकानन्द)	आनन्द
१२	१७८८ ई० प्रकाशन १९०२ ई०	(१८४६ वि०) (१९६२ वि०)	प्रबोधचन्द्रोदय	मुलाबसिंह
१३	१७८९ ई०		प्रबोधचन्द्रोदय	नानकदास
१४	१७९८ ई०		प्रबोधचन्द्रोदय	धौल मिश्र
१५	१७९९ ई०		शकुन्तला नाटक	धौल मिश्र

इनमें से संख्या ५, ७, ९, और ११ अनुपलब्ध हैं और संख्या ८ के छोटे से पंखे

हा मिले है। गेय जो रचनाओं में म सम्मिलित है उन सामान्य का प्रयोग है, मग्य २ तथा ६ अनुवाद नहीं है। मग्य २, अर्थात् हुदयराय का 'अनुमानाटक', पर इसी अध्याय में विचार किया गया है। मग्य ६ अर्थात् 'शकुन्तलोपाख्यान' अनुवाद नहीं है। नेवाज ने अभिनय शकुन्तलम की कथा दोहों की भाँति म आख्यान रूप में लिखी है। कवी हुई गात रचनाएँ हैं।

मल्ल कवि	प्रवादचन्द्रोदय
असवन्तसिंह	"
ब्रजवासीनाथ	"
गुलाबसिंह	"
नानकनाथ	"
पीरलाल मिश्र	, और 'शकुन्तला नाटक'

इन सात रचनाओं का आधार पर मध्यकालीन अनुवादों की प्रवृत्तियाँ यहाँ दिखाई

देनी हैं।

- १ (क) प्रवादचन्द्रोदय की जनता का सामन करना। (ख) इसका लिए फारसी से भी अनुवाद।
- २ उद्देश्य—पाठकों को दूर करके विष्णुभक्ति का प्रसार करना।
- ३ वचनात्मक शैली का प्रयोग।
- ४ पद्य में रचना।
- ५ ब्रजभाषा का प्रयोग।
- ६ पूर्ण भाषान्तर तथा सन्तुष्टि दोनों की प्रवृत्ति है। वही कथा जोड़कर बिस्तार भी किया गया है। अभिनय सबत की उपेक्षा या पद्य में ही समावेश।
- ७ समुदाय और हिन्दी के छाँदा का प्रयोग और उनका नाम निर्देश।
- ८ नाम की छाप लगाना।

सामान्य प्रवृत्तियाँ

१ प्रधानतः 'प्रवादचन्द्रोदय' ही एक ऐसी रचना रही, जिसका अनुवाद का प्रयत्न किया गया। प्रवादचन्द्रोदय का अनुवादों की इतनी बड़ी सरप्रास के सामने आने की माधव और शकुन्तल का एक एक अनुवाद नगण्य सा ही है।

२ इतने अनुवादों ने इस एक ही रचना को अनुवाद के लिए क्यों चुना?

एक मल्ल कवि के अनुवाद का छाँदकर गेय सब अनुवाद उत्तर मध्यकाल (द्वितीय १६४३ से १८५० तक) में किए गए हैं। समुदाय प्रवादचन्द्रोदय में जिस विष्णुभक्ति की प्रतिष्ठा की गई है उसका स्वर्णयुग पहले ही आत चुका था। यह काल कविता में तो मुख्यतः रानिविजय शृंगारी रचना का था। पर सुधारक प्रवृत्ति का लाला में सामाजिक पाठ्य के प्रति जा रोप करना हुआ था। उसी अभिव्यक्ति का एक उपाय उठाने सम्भवतः 'प्रवादचन्द्रोदय' के प्रचार का समझा।

ब्रजवासीनाथ गुलाबसिंह और नानकनाथ ने तो अपनी धार्मिक कविता को स्पष्ट

घोषणा का है। इह नागा के दुःख का देखकर आध्यात्मिक ज्ञान का सरल भाषा में प्रस्तुत करने की प्रवृत्ति हुई। ब्रजवासीदास ने लिखा है

मिन एक ऐसी कही जो यह भाखा हाय ।
सरल होय तो सबन को सुनि मुख पाव लोय ॥

—५० अ० १ १६

गुलाबसिंह लिखते हैं

सुनै पढ सु जे जना निवार मोह बधना ।
लहै अपार मोक्ष को, टुट समस्त फधना ॥

—५ प्रथम अंक

मल्ल कवि की रचना राजपुत्र की शिक्षा के लिए हुई दीव्यती है। संभवतः ऐसा ही कुछ उद्देश्य जसवंतसिंह की सभिन्न रचना का भी रहा होगा।

इनके अतिरिक्त माधवविनोद और नवाब का शकुंतलोपाख्यान कायसरसिका के लिए लिखे गए हैं।

उपयुक्त लेखकों में से डा. जयान ब्रजवासीदास और नानकदास ने ता 'प्रबाध चंद्रान्त' के संस्कृत मूल के बजाय फारसी अनुवाद से हिन्दी अनुवाद किए। ये अनुवाद बलीराम साधु या बलीराम भगत के यमन भाषा फारसी के अनुवाद से करने की सूचना इन दोनों अनुवादकों ने स्वयं अपनी रचनाओं में दी है।

ब्रजवासीदास ने लिखा है

बलीराम साकी करी भाषा यमन किनाव ।
माऊ बिद्या अति कठिन समुक्ति न पर शिताव ।
मिन एक ऐसी कही ओ यह भाखा होय ।
सरल होय ता सबन को सुनि मुख पावै लोय ।
ताने यह भाषा करी ॥

—१८-१०

नानकदास ने भी इतना ही स्पष्ट लिखा है

इह पाथी पुरण करी बलीराम हरि मत ।
ताका भाखा यो रच्यो नानकदास विनवट ॥ १८१

—प्र० अ० अनुवाद पृ० ११९

इस दृष्टि से ये दोनों अनुवाद विशेष उल्लेखनीय हैं। संस्कृत से फारसी के रास्ते से रचनाएँ हिन्दी में आईं। यह प्रक्रिया सन १८६३ में एक कदम और आगे बढ़ी जब भुवदेव दुबे ने ब्रजवासीदास के ब्रजभाषा पद्य को कायसरसिका के विनोदाय खड़ी बोली गद्य में परिवर्तित कर दिया। जबले प्रबोधचंद्रोदय नाटक को ही इस प्रकार चार पीढ़ियाँ पाने का सौभाग्य मिला है।

२ रचना शैली रचना गली पर दा दृष्टिया से विचार करना उचित होगा (क) यह नाटकीय है या सवादात्मक, रासशली है या वर्णनात्मक काय गली है ?

(ग) गद्य है पद्य है या गद्य तथा पद्य मिला है।

गुड नाटकाय गता इसमें से किसी भी रचना की नहीं है। ब्रजवामीनाम और गुलाबसिंह की रचनाएँ वर्णनात्मक काव्यशैली की हैं। नानकदास और चौखल मिश्र की रचनाओं तथा मल्ह और जमवन्तसिंह की रचनाओं में नाटकीय भक्त का इतना उन्नत है कि वे पूर्णतया नाटकीय न होकर हुए भी सबादात्मक रचनाएँ लगती हैं और गनक राम अभिनय के लिए उपयुगी हो सकती हैं।

एक जमवन्तसिंह की रचना का छात्रर और मय रचनाएँ पूर्णतया पद्य रचनाएँ हैं। जमवन्तसिंह की रचना में ब्रजभाषा गद्य का प्रयोग एक अनोखी घटना है। ब्रज भाषा के साहित्य में गद्य रचना नष्ट हो करार हो गई है। हम देखते हैं जमवन्तसिंह की मौखिकता और मातृभाषा के रूप में उत्पन्न होना जात है।

६ भाषा मध्यकाल में १८७० तक साहित्य की भाषा ब्रज ही रहा। हम जानें कि यह रचनाएँ गंगा भाषा में मिलती हैं। इस प्रसंग में पत्राक्ष के निवासियों और सिद्ध तन्त्राक्ष के अनुयायियों में गुलाबसिंह की रचना विशेष रूप से ध्यान आकर्षित की जा सकती है। गुलाबसिंह की रचना में विचित्र गद्य भी पर भाषा उभरी ब्रज ही है।

७ अनुवाद शैली इस बात में महत्त्व है और जमवन्तसिंह की रचनाओं का छात्रर, जो बहुत अधिक है, गद्य रचनाएँ भाषा तर गता में अनुवाद हैं। कहीं कहीं मूल में थोड़ा बहुत अंतर होने पर भी वे प्रायः अविकल अनुवाद हैं। कथानक, पात्र, वर्णन आदि सब उसी के रूप में मिलते हैं। अंतर इस प्रकार का है जैसे मति नामक पात्र का अनुवाद यह देना जगा कि ब्रजवामीनाम ने दिया है। पर यह अंतर कुल मिलाकर बहुत छोटा है।

८ छंद ब्रजवामीनाम, गुलाबसिंह नानकदास और चौखल मिश्र की रचनाओं में सम्पूर्ण और हिन्दी के विविध छंदों का प्रयोग हुआ है। इनमें पद्य के अनुवादन में यह विविधता नहीं दिखाई देती।

ब्रजवामीनाम ने दाहा, चौपाई, कवित्त तामर मामराजी, मुचरी आदि अनेक छंदों का प्रयोग करत हुए अपने पूर्ववर्ती कवियों का ही अनुसरण किया है। मध्यकालीन काव्य की यह विविध संपन्नता गुलाबसिंह के अनुवाद में भी बड़े अनादर रूप में विद्यमान है। दाहान तराच, अलग, भुजगप्रदान, विप्रपदा, आदि प्रसिद्ध संस्कृत छंदों में भी अपना योगदान दिया है, कवित्त मध्या छाप आदि छंदों में प्रचलित छंदों में भी दिया है।

एक विचार जान यह है कि छंद का निर्देश पद्य से पहले करने की शक्ती हम अनुवादन में अपनाई है।

■ मध्यकाल में विशेषतः मुत्तह पद्य पर कवि अपना नाम की छाप लगा दिया करत थे जिससे उनका पद्य अलग पहचाने जा सकें। कवि गुलाबसिंह ने अपने अनुवाद में भी यह पद्धति अपनाई है और अनेक बड़े पद्यों में कवि गुलाब या गुलाबसिंह की छाप लगाई है।

पाच अशत पराश्रयी रचनाएँ

डा० सरोज अग्रवाल ने निम्नलिखित पाच रचनाओं को 'प्रबोधचन्द्रोदय' के हिन्दी रूपान्तरों में गिनाया है

मोह विवक युद्ध	— लख लालदास
”	— , गीपालदास
”	— कवि बनारसीदास
विधानगीता	— , महाकवि बेशचन्दास (सन १६१०)
प्रबोधसुमण्युदय	— उमादयाल मिश्र (सन १८६२)

हमारे विचार में इन रचनाओं को रूपांतर नहीं कहा जा सकता। वस्तुतः डा० अग्रवाल ने रूपांतर शब्द का प्रयोग अस्थिर रूप में कर दिया है। उन्होंने स्वयं इन रचनाओं का भीतरी स्वरूप दिखाते हुए लिखा है

४१८ आगे चलकर हिन्दी में प्रबोधचन्द्रोदय के ही आधार पर कुछ ऐसी रचनाएँ का उदभव हुआ जिन्हें तो हम स्वतन्त्र मौलिक रचनाओं की श्रेणी में रख सकते हैं और न जिन्हें अनुवाद ही माना जा सकता है। इन रचनाओं में कहीं तो मूल का अविचल अनुवाद मात्र है और कहीं रचनाकारों की मौलिकता से प्रसूत कुछ मौलिक कथानक और संवाद आदि भरे पड़े हैं। (सरोज अग्रवाल, 'प्रबोधचन्द्रोदय और उनकी हिन्दी परम्परा', पृ० २६५)।

इस उद्धरण से स्पष्ट है कि रूपांतर का उनकी दृष्टि में क्या अभिप्राय है। असल में इन रचनाओं में सस्ठुत 'प्रबोधचन्द्रोदय' की सामग्री बहुत थोड़ी है, और मौलिक सामग्री बहुत अधिक। इसलिए इन्हें मौलिक रचनाओं में ही माना जाता रहा है। ठीक ठीक कहना है तो इन्हें मौलिक के ही एक भूतपराश्रयी में रखना चाहिए और उसमें भाइयों का स्थान अगले पराश्रयी उपभेद में होगा।

मध्यकाल की कुछ रचनाओं पर टिप्पणियाँ

प्रबोधचन्द्रोदय का मल्ल कवि कृत अनुवाद

इस अनुवाद का पता हाल में ही लगा है। अनुवाद की एक प्राचीन प्रति पाँच आठ इंच, चार इंच आकार का पच्चीस पन्नाओं का है। उमपुर में दीवान बहीचंद जी के मन्दिरे में प्रयोगार में सुरक्षित है।

यह रचना ईस्वी १५४४ (विक्रमसंवत् १६०१) की है। इस अनुवाद की भूमिका में पृष्ठ २ पर ये उर्दू लिखी जाती हैं

सालह में सम्मत अज लागी। तामहिं वरय एन अधभागा।

कार्तिक कृष्ण पक्ष द्वादशी। तात्नि कथा जु मन में बसी ॥ ११ ॥

अर्थात् संवत् १६०१ में यह अनुवाद किया गया था अनुवाद करने का संकल्प किया गया।

इस अनुवाद में कवि ने जो आत्मपरिचय दिया है उसमें अनुमांश के तीन नाम

ये—राधान मधुरात्म, और मन्त्र कवि । पिता का दिया हुआ दवीनाम नाम सनवन
द्वारा उक्त किया था, और मधुरात्म नाम रच लिया था । कविता मय अपने आदरा
मन्त्र कवि का ५ । य अन्वेषण के रहने बान ५, और इनके गुण का नाम समचय था ।

अनुवाद का उद्देश्य ज्ञाने 'अव्यय' जी पत्नीय निवा है । पर अपने इस महत्व
पूर्ण पाठक का जिनके लिए अनुवाद रचना मुख्यतः प्रस्तुत की गई प्रतीत होती है और
कोई विमल परिचय अनुवाद में नहीं मिलता । अनुमानन कृष्णसर्ग की राजा या राजपुत्र
धर्म जिन भक्ति की ओर उद्युक्त करने के लिए प्रबोधचन्द्रालोक का यह मशहूर नाकानु
वाद किया गया ।

यस प्रबोध म हम भावानुवाद की समाप्ति में ता प्रवृत्ति नहीं हुए पर एतिहासिक
दृष्टि में महत्त्वपूर्ण ज्ञान के कारण मध्यकाल के कुछ अनुवादों का अध्ययन करना उपयुक्त
प्रतीत होता है ।

सम्बन्धित प्रामाण्यवाद

मध्यम प्रबोधचन्द्रालोक का रचना इसा की ११वीं शताब्दी के मध्यकाल (१०५०
ई० के आगम) प्रतीत होता है । इस प्रणता ५० वर्षों में, जो बड़े विद्वान
धार्मिक और समाज शिक्षण तत्त्वों पर व्यक्त थे । इनके जन्मस्थान के बारे में इस विद्वान
विद्वानों में एकमत नहीं है । पर राजा कीर्तिवर्मा के जातीय में इनका रहना सबका माय
है । यह राजा बुद्धलम्ब का चत्तलवशी राजा था, जिसका बाल रक्षा की ११वीं शताब्दी
है । प्रबोधचन्द्रालोक को पढ़ने से पता चलता है कि इनका पूर्वी भारत के क्षेत्रों से अज्ञात
परिचय है । नाटक में आए प्रमगा के दम्पत में इनका बिहार प्रदेश के प्रति पतापत
निवाह बता है । सम्भव है यही क्षेत्र इनकी बान्नीला भूमि रहा हो । 'प्रबोधचन्द्रालोक'
के अनिर्विण्ण इनका और किसी रचना का निश्चित पता नहीं लगता ।

यह नाटक एक दृष्टि में निराशा नाटक है । समग्र गुण प्रवृत्ति और भाव का मूल
करके प्राप्त बनाया गया है । विषय, श्रद्धा, महामाह, विष्णुभक्ति आदि इनके कुछ पात्र
हैं । कापतिक विगम्य जाति कुछ पात्र अपने बग के स्वरूप प्रकट करने के लिए 'दास्य'
पात्र हैं । नाटक की इस विषयता के कारण अग्रजी के लगभग नये एतवारिकल नाटक
बना है । हिन्दी में इस रूपक 'गली' या 'प्रताकात्मक' गली का नाटक कहा गया है ।

और ठीक दखा जाए तो प्रत्येक नाटक रूपक ही होता है । इसीलिए सम्बन्धित
नाट्यशास्त्री अमिनेय रचनाओं का सामान्य नाम रूपक के अंतर्गत रखते हैं । मध्यम
नाटक का पात्र अपने व्यक्तिगत की अपना प्रेम, वारता आदि गुणों का मूल रूप हो अविक
होता है । पर जब पात्रों का नाम 'प्रेम' आदि रखा गया जाए तो पात्रों के व्यक्तिगत
चरित्र के बारे में शिथिल भी उत्पन्न नहीं रहता । उम्मेदा अनुमान और कथन निश्चित
हो जाता है । मूल-गुण रूप पात्र जब वयविवरता में रहित होकर एक निश्चित प्रकार के
चरित्र का प्रतीक या संकेत हो जाता है । इसलिए इस 'रूपक गली' या प्रतीकात्मक
गली किसी भी प्रकार का नाटक कहा जा सकता है ।

कुछ छात्र इस गली के लिए सांकेतिक शक्ती या अवाक्ति गली रचना का प्रयास

करते हैं। प्रतीकात्मक और सांकेतिक शब्दों का प्रयोग साधारणतया एक ही अर्थ में किया जाता है। अर्थात् अर्थपूर्ण मूल रूप से प्रस्तुत अर्थ प्रस्तुत में ध्वनित होता है। प्रबोध चन्द्रादय जैसे नाटकों में अल्पप्रस्तुत अर्थ ध्वनित नहीं होता। इसलिए 'अर्थात्' शब्दों का प्रयोग यहाँ सगत नहीं।

इस प्रकार मूलश्रुति को पान बनाकर लिखा गया यह प्रथम नाटक है। पर कथा काव्या में इस रूपक शब्दों का प्रयोग पहले भी होता रहा है। इसी की दसवीं शताब्दी का रचना सिद्धांत कृत उपमितिभवप्रपञ्च कथा इसी शब्दों की कृति है। प्रवाधचन्द्रादय के बाद संस्कृत में दस शताब्दी पर अनेक नाटक लिखे गए। इनमें यशपाल कृत माहाराज पराजय (१२वीं शताब्दी ईस्वी) कवि कण्ठपुर कृत चतुर्थचन्द्रादय (१६वीं शताब्दी ईस्वी) आदि कुछ उल्लेखनीय रचनाएँ हैं। ये परवर्ती रचनाएँ स्पष्टतः प्रवाधचन्द्रादय से प्रभावित हैं पर श्रेष्ठता में उस काटि की नहीं बन पायी।

नाटक का इतिवृत्त

अङ्क १ मन की दो पत्नियाँ प्रवृत्ति और निवृत्ति सत्रमश माह और विवेक का जन्म हुआ है। विवेक का, जिसके पक्ष में शांति थोड़ा जानि हैं, काम लाभ, क्रोध आदि से भ्रमयित मोह के विरोध का सामना करना पड़ता है। काम और रति के सवाद से पता चलता है कि विद्या नाम की राक्षसी पदा हानवाली है और विवेक उसकी सहायता में काम को मारना चाहता है। विवेक अपनी पत्नी रति को बताता है कि यह पापी काम गुड़ गुड़ पुरुष का स्वयं बन्धन में डालकर हम दोष द रहा है। अब उपनिषद् के साथ मर्यादा सम्बन्ध होने पर प्रबोध का उत्पत्ति होगी। तब यह बंधन छूट सकता है।

अङ्क २ महाराज महामाह ने दम्भ को बुलाकर काशी में निश्चेयस में विघ्न डाने का आदेश दिया। दक्षिण की राठा नगरी से आए अहंकार और दम्भ में पहल कुछ कहा सुनी हुई पर जब दम्भ का पता चला कि वह उसका दादा अहंकार है तब वह विनीत हो गया। उसने अहंकार को बताया कि महाराज मोह काशी में विवेक को दूर रखने के लिए आ रहे हैं। माह के साथ चार्वाकमत आया और उमने बताया कि विष्णुभक्ति नामक यागिनी बड़ी प्रबल हो रही है। मदमान के पत्र से पता लगता है कि शांति और उसकी माता थोड़ा विवेक का उपनिषद् से मिलाने का यत्न कर रही है। माह ने मिथ्यादृष्टि का शब्दों को बश में करने का आदेश दिया।

अङ्क ३ मिथ्यादृष्टि ने शब्दों का ग्रह लिया। शांति अपनी सखी करुणा के साथ शब्दों को खोजने जाती है। उसे दिगम्बर ज्ञान साधु बौद्ध भिक्षु और सामसिद्धान्त ज्ञान दीखते हैं जिनके साथ ज्ञान तामसी, तामसी और राजसी शब्दों भी हैं। ये तीनों अपने अपने मत की श्रेष्ठता के बार में धास्त्राव करत हैं, और ज्ञान में नारी और मदिरा के मुख के प्रलोभन में कापालिक सोमसिद्धान्त के गिर्य हा जाते हैं। वह नारी राजसी शब्दों की। जन भिक्षु न गणना करत बताया कि घम और सात्त्विकी शब्दों विष्णुभक्ति के आश्रय में हैं।

अङ्क ४ मन्त्री शब्दों को खोजने आती है। शब्दों का विष्णुभक्ति न महाभैरवी के

चमल से छुड़ाया है। विवेक ने वस्तुविचार का बताया कि माहूब साथ हमारा सपना
छिड़ गया है। वस्तुविचार काम को और क्षमा प्राथ का जीवन का संकल्प करने हैं।
लाभ का जीवन के लिए मत्ताप का बताया जाता है। राजा विवेक अपनी मना से बागा
पर हमला बाल गता है।

अरु ५ माहूब का सटार हा गया और विवेक की विनय हुई। थड़ा मुनिया
के हृदय में रहने लगा। तमजोन के लिए मायान का दूत जनाकर भेजा गया।
दूत ने मोह से दम्भ्यान् छात्र का कहा। माहूब ने दूत हातर फिर मुद्र किया और
उमक पण के सब लोग मार गए। वह कनी जाकर छिप गया। माहूब और विवेक के पिता
मन का अपन पुत्र का नाग और अपनी पत्नी प्रवृत्ति के मरने से बच टुंग हुआ। सरस्वती
ने उस वराग्य का जोर माडा। निवृत्ति मन का पनी बनी।

अरु ६ गाति का थड़ा से पना चला कि पुष्प ने माया का सम्बन्ध त्याग
लिया है पर माहूब ने मधुमती के द्वारा फिर अपना जाल फैलाया है। माया मन और
मकल ने पुरष का दवा लिया। पर पायवर्ती तक न इन सबका आटे हाप लिया और
मायाजाल का पना पाग कर लिया। पुष्प ने विवेक और उपनिषद का बुलाया। इसके
बाद निदिध्यासन प्रकट हुआ और उमने उपनिषद में कहा कि आपके गम से विद्या और
प्रबोधोन्म नाम की दो सतानें हागी। उनमें से विद्या को सकपविद्या द्वारा मन में सफात
करा दें और प्रबोधचक्र को पुरष के हाथों मोपकर विवेक के साथ उपनिषद विष्णुभक्ति
के पास चली जाए। ऐसा हो हुआ। प्रबोधोन्म हान से सब अनानाथकार दूर हा गया।
विष्णुभक्ति के प्रसाद से पुरष का मुक्ति मिला।

पात्र पात्रों की सख्या तीन दर्जन से भी अधिक है। पुष्प पात्रा में विवेक
(नायक) वस्तुविचार मत्तोप पुरष प्रबोधोन्म वराग्य निदिध्यासन, सकल्प महा
माहू (प्रतिनायक) चार्वाक काम शोध लाभ दम्भ अहंकार क्षणिक, मिशु कापा
निक, आति हैं। स्त्री-पात्रा में मति (नायिका), थड़ा गाति करणा मंत्री, उपनिषद
सरस्वता, क्षमा मिध्यान्ति विभ्रमावती रति हिंसा तपणा आदि है।

रस इस नाटक का लक्षक न गान्तरस प्रधान माना है। नाटयगास्त्र में स्वीकृत
वीर और शृंगार में से कोई भी यहाँ जग्री नहीं है। पर वसे इतिवत्त का दाचा युद्ध का
बनाया गया है जो वीर रस के अनुकूल है। विविध रसा की अग रूप में भी पुष्टि हुई है
जस शृंगार (११०) हास्य (३१८) रोद्र (२३१) वीर (४१४) आदि।

उपसंहार नाटक के इतिवत्त से पता चलता है कि समाज में फले हुए धार्मिक
पागण्ड को दूर करने समाज को आगे बढ़ाना और मनुष्य को सदगुणा की ओर ले जाना
ही इस नाटक की रचना का मुख्य उद्देश्य था। हिंदी अनुवादों को देखने से पता चलता
है कि धार्मिक प्रवृत्ति के लोगों का इस रचना से विशेष लगाव रहा और जितने हिंदी
अनुवाद इस नाटक के हुए उतने और किसी सस्तर नाटक के नहीं हुए।

अनुवाद

महूब के विवेक के इस अनुवाद में मूल के कथानक से कुछ हेर फेर किया गया है। कुछ

प्रसंग सक्षिप्त कर दिए गए हैं और कुछ का क्रम बदल दिया गया है। मूल रचना की प्रस्तावना में नाटक अभिनय का जो प्रसंग बनाया गया है उसमें भिन्न प्रसंग इस अनुवाद में बताया गया है। अनुवादक प्रसंग के अनुसार गीत रस का अभिनय करने के लिए राजा कातिवर्मा का आदेश पाकर नट दक्षिण देश जाकर वहाँ से प्रबोधचन्द्रादय नाटक लाता है और इसका मनोरंजन अभिनय प्रस्तुत करता है। पट्टन थक में काम करता और विवक व सुमति के संवाद मूल रचना के सक्षिप्त भावानुवाद हैं। यही स्थिति दूसरे तथा तीसरे अंक में है। पर तीसरे अंक में मूल रचना के चौथे अंक की कुछ कथा भी ली गई है। जिस भरथी विद्या का श्रद्धा का पकड़न तथा विष्णुभक्ति द्वारा उसकी रक्षा करने और विवक का सद्गुण भोजनवाला अंग। चौथे अंक में विष्णुभक्ति की आत्मा से विवक अपनी मेना तैयार करता है। पाचवें अंक में वह काशी में युद्ध करने जाता है जहाँ महामाह से उसका युद्ध आरम्भ हो जाता है। छठे अंक में युद्ध की समाप्ति होती है और सरस्वती मन का उपदेश देती है। उपनिषद् के सहयोग से प्रबोधोदय और विद्या के जन्म का भी संकेत है। मूल नाटक में मन और सरस्वती का प्रसंग पाचवें अंक में था जो यहाँ छठे अंक में है।

पाना में मूल से थोड़ा भेद मिलता है। अनुवादक ने इनमें एक 'चपला' नामक पात्र रखा है। मूल के कुछ पानों के नामों में बाधा आकर दिया गया है जिस अहंकार के लिए 'अह', और मति के लिए 'सुमति' शब्दों के लिए 'हिम्भ' बौद्ध साधु के लिए 'भिक्षु' और कापालिक के लिए 'जमम'। नवीन पान याजना या नामा के हर फेर से किसी विशेष प्रयोजन की मिद्धि नहीं होती।

यह अनुवाद नाटक गली में न हाकर बाय गली में किया गया है। सारा अनुवाद पद्य-बद्ध है, यहाँ तक कि अभिनय संकेत भी पद्य में ही हैं, जिससे संवादों से पदा हानवाले नाटकीय प्रभाव की हानि होती है।

वस्तु विचार राह में गयो नमस्कार करि ठाढ़ो भया।

परे पाय अरु गिनो कराई कौन जान हा बाल्या रान् ॥ १८

—पृष्ठ १०

नेपथ्य वचन का संकेत भी अनुवादक ने पद्य में रखा है

माहि जमुनिका बोल्या साइ ॥ १४

—पृष्ठ १

ऊपर कहा जा चुका है कि अनुवाद भाषांतर शली में न हाकर सक्षिप्त भावानुवाद मान है। इसलिए मूल रचना में उसका वारीकी से तुलना नहीं हो सकती। एक उदाहरण नीचे दिया जाता है

मूल—वासश्चित्रकुलमल्पमतिभिर्नार्यामहो कल्पित ।

बाह्यात् परिपश्यता तु निरयो नारीतिनाम्ना कृत ॥

—४१

अर्थ— 'रग विरगे वपुः आन्ति वस्तुत्रो की अल्पबुद्धिया ने नारी में कल्पना कर ली, पर बाहर भीतर विचार करनेवाला के लिए तो नारी नरक ही है।'।

मल्लू कवि का अनुवाद

भाति अनूप पटवर आया। मासपिठ का स पहिरायो।
याको डट्क विद्या तुम जानो अंतर द्रिष्ट न करूँ आनो ॥१७॥
इस अनुवाद की भाषा ब्रज है जिसमें तोड़ मरोड़ की प्रवृत्ति विशेष नहीं है। शली
इनका सरल और मीठी है और वाक्य साफ सुथरे और हलक है।
छन्द अनुवाद में मोहा और चौपाई छन्दों का प्रयोग हुआ है परन्तु छंदा में
मात्रामत्या व वार में मन्त्र मावधानी नहीं बरती गई। कही-कही प्रवाह जटवना मालूम
होता है।

उपमहार मल्लू कवि की यह रचना ईस्वी १५४४ की है। इसी समय के आस
पास जायसी ने पद्मावत की रचना की थी गुरु नानक का देहात हुआ था तुलसीदास
और बाह्यपाल का जन्म हुआ था, और मूराराम अभी जीवित थे तथा पद रचना कर रहे
थे। मल्लू कवि की दोहा चौपाई की रचना इस प्रकार कुतूहल और मन्त्र के बाद बढी
है जो पहले मोहा चौपाई में रचना कर चुके थे। साहित्य में सत कवियों की प्रवृत्ति का
कारण मल्लू कवि को प्रबोधन-द्राव्य जसो धार्मिक रचना व अनुवाद की प्रेरणा मिली
दीसती है। आगे चलकर हम देखेंगे कि प्रबोधन-द्राव्य वाग्य में भी धार्मिक लगना मलाक
प्रिय रहा। अनुवादों में ब्रजभाषा का चलन १८५० तक तो रहा ही उसने बाद भी पद्य
भाग ब्रजभाषा में अनूदित किया जाता रहा। खड़ी बोली का पद्य में प्रयोग बहुत पीछे
‘वतमान काल में मिलता है।

इस प्रकार मल्लू नाटका के हिन्दी अनुवादों की तो परम्परा १५४४ में मल्लू
कवि व इस अनुवाद से आरम्भ हुई वह आगे जिस माग पर चलती हुई आज तक पहुँची
है उसका अनुसंधान आगे व पृष्ठों में किया जाएगा।

जसवन्तसिंह कृत प्रबोधनाटक

इस काल के अनुवादों में इस रचना का स्थान दूसरा है। पर यह मूल व जायरा
पर की गई बहुत ही सक्षिप्त रचना है। कुलस्वैय आकार के ११ पृष्ठों में सारी रचना को
टाइप किया जा सकता है।

अनुवादक जसवन्तसिंह जोधपुर के राजा थे। हिन्दी अक्षर साहित्य के इतिहास
में उनका रचना भाषाभूषण बहुत प्रसिद्ध है। इनकी अन्य रचनाओं में सिद्धांतबोध,
सिद्धांतमार, ‘जामद विलास, और ‘अपराध सिद्धांत भी हैं, जो सब आध्यात्मिक
ग्रन्थ हैं।

जसवन्तसिंह का जन्म १६२६ ई० और मृत्यु १६७९ ई० में माना जाता है।
अनुवाद की शैली पहले विद्वानों में यह भ्रम प्रचलित हो गया था कि

जसवन्तसिंह ने ब्रजभाषा में ही रचना की पर अब यह स्पष्ट हो चुका है कि यह अनुवाद इतना सक्षिप्त है कि इसे ऐतिहासिक दृष्टि
से ही महत्त्वपूर्ण माना जा सकता है अनुवाद की दृष्टि से नहीं। पहले दो अंक टाइप व
छह पृष्ठों में आ जाते हैं और शेष चार अंक केवल पाँच पृष्ठों में समा जाते हैं। इतना अवश्य

है कि इस रचना में ब्रजभाषा के गद्य का प्रयोग निःसंदेह एक निराली चीज है। इससे पहले किसी नाटक के हिंदी अनुवाद में गद्य का प्रयोग नहीं हुआ। वैसे ब्रजभाषा गद्य गोरखपदियों के कुछ ग्रंथों (१४वीं शती ईस्वी), वैष्णव ग्रंथों 'शृंगाररम मंडन' आदि में मिलता है।

नाम अनुवादक ने इसका नाम भी संक्षिप्त करके 'प्रबोधनाटक' रखा है—
“अथ प्रबोधनाटक लिख्यते।”

इतिवृत्त अति संक्षेप करने का परिणाम यह हुआ कि इतिवृत्त में अवरोधन आ गया है। मूल कथानक का बहुत सा अंश, जैसे तीसरे अंक का विभिन्न मत कलागा का विवाद और पाक्षण्ड प्रदर्शन, बिल्कुल छोड़ दिया गया है और सम्बंध मूल जाड़ दिया गया है।

पात्र द्विष्णुभक्ति के स्थान पर इहान जामतिनता (आस्तिकता) को पात्र बनाया है। अथ पात्रों में मूल से कोई अंतर नहीं है।

अभिनय संकेत प्रवेश और निष्क्रमण के संकेत मूल गद्य शरीर के बीच में ही आ जाते हैं। उह रचना संक्षेप नहीं दिवाया गया।

अनुवाद में छूटता इस रचना को अनुवाद न कहकर पराश्रयी रचना कहना चाहिए। इसमें न मूल के श्लोकों का ही ठीक-ठीक अनुवाद किया गया है और न गद्य का हा। सिर्फ एक मंगलाचरण के कवित्व का संस्कृत के मंगलाचरण का भावानुवाद कहा जा सकता है।

राजावाच उस प्रयोग, जो हिन्दुराम के रामगीत में मिलता है इस रचना में भी आता है।

शैली रचना अधिकतर गद्य में है। छंदा में कवित्व और दाह का प्रयोग हुआ है। कविता तो केवल दो हैं, एक आरम्भ में और दूसरा अंत में आगावा के रूप में। मंगलाचरण में दोहे भी एक दृष्टि में कुछ ही अधिक हैं।

भाषा ब्रजभाषा का प्रयोग है। भाषा में तत्सम शब्दों का प्रयोग अधिक है। उच्चारण ब्रजगली पर है—“गु को सगु सामय को सामय यवनिका को जम निवा। संस्कृताभास का भुकाव ऐसा पाक्या में लिखाई देता है जैसे आरम्भ में ‘अथ प्रबोधनाटक लिख्यते।’

निष्कर्ष जमवर्तमान न संस्कृत ‘प्रबोधनाटक’ के आधार पर एक संक्षिप्त रचना ब्रजभाषा में लिखी या, जिसे उन्होंने ‘प्रबोधनाटक’ नाम दिया था। यह रचना न नाटक है न अनुवाद है। अर्थात् आरम्भ अंत का इसमें कोई संबंध नहीं। उसे पराश्रयी रचना और नाटकाभास कहा जा सकता है। पर इसमें ब्रजभाषा के गद्य का प्रयोग हिन्दी गद्य के विकास के प्रसंग में इतिहासिक महत्त्व की घटना है, जिसकी ओर गद्य के विकास की परम्परा निरूपित करने वाले इतिहासकारों का ध्यान नहीं गया।

प्रबोधचन्द्रोदय का राजवामीदास कृत अनुवाद (१७६० ई०)

राजवामीदास का जन्म १६६६ ई० में माना जाता है। इनका अनुवाद का साल १७६० ई० (१८१७ वि०) है।

इनकी एक और रचना ब्रजविलास भी प्रसिद्ध है। इनका प्रबोधचन्द्रोदय की एक प्रति चिरजीव पुस्तकालय आगरा में है और एक प्रति अमरीका में है।

राजवामीदास ने अपना अनुवाद सीधे संस्कृत 'प्रबोधचन्द्रोदय' से नहीं किया। यह अनुवाद सम्भवतः फारसी से किया गया है। उन्होंने लिखा है कि संस्कृत और प्राकृत के बीच का बलीराम ने यमन भाषा में अनुवाद किया था। उन्होंने यह उसका भाषान्तर किया है।

नाम राखी बीच का परवाच चन्द्र उगान ।
सा ता बाणी संस्कृत प्राकृत करि न विचार ।
ताक समुन्नत का गही विद्या बुद्धि अपार ॥ १७ ॥
बलीराम ताकी करी भाषा यमन किताब ।
साऊ विद्या अति कठिन समुन्नत न पर शिनाब ॥ १८ ॥
मित्र एक ऐसी कहा जा यह भाषा हाय ।
मरत हाय तामयन का मुनि सुग पाव नाय ॥ १९ ॥
ताते यह भाषा करी अपनी मति अनुसार ।
सतसगत परताप त विपुल छन्द विस्तार ॥ २० ॥

—२० "२० अनुवाद" पृष्ठ २-३

इन्होंने मूल के अनुसार ही भाषान्तर किया है, परन्तु कही-कहा, जम मदानिक मना के धनन में, कुछ विस्तार भी कर दिया है। गली उन्होंने क्यावाचन की तरी है अनुवाद की नहीं। कृष्णदास भट्ट (संस्कृत 'प्रबोधचन्द्रोदय' का लेखक कृष्ण भट्ट) अपने गिण्य की क्या मुना रहा है।

कृष्णदास भट्ट गिण्य सा कहत क्या परबोधि० ॥ १२४ ॥

कृष्णदास भट्ट उवाच को०

मुनह गिण्य इव क्या मुहाई ।
परम किंचित् परम मुखरई ।
कीरति महा नाम इव भूषा ।
परम अनूप नामु को रूपा ॥

—अनुवाद पृष्ठ ३-४

नाटक के अंत में भी मुनन का माहात्म्य प्रशंसित किया गया है।

अरु समाप्ति की सूचना दन हुए अब क स्थान पर टक लिखा है—सम्भवतः अग्रह चिह्न की त्रिपिकार न ट बना दिया है।

- १ इसका वास्तविक नाम क्या है ?
- २ इसकी रचना का नाम क्या है ?
- ३ यह नाटक है या नहीं ?
- ४ इसकी रचिता कमी है ?
- ५ इसका अनुवाद कैसा है ?

नाम

प० रामचन्द्र गुप्त के अनुसार, हर्षचरित में 'संवत् १८० में मन्त्रिक हनुमन्नाटक का आधार पर भाषा हनुमन्नाटक लिखा। उसका नाम भीतर ही नाटक का रूप में कई रचनाएँ हुई, जिनमें सर्वप्रथम अधिक प्रसिद्ध हृदयराम का हनुमन्नाटक हुआ (हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृष्ठ १४६)।

अर्थात् गुप्तजी के विचार से

- १ हृदयराम ने एक नाटक लिखा,
- २ उसका नाम भाषा हनुमन्नाटक था

और ३ यह भाषा हनुमन्नाटक मरुत हनुमन्नाटक के आधार पर लिखा गया था।

डा० सामनाथ गुप्त के अनुसार, नाटक साहित्य का आरम्भ नाटकीय काव्य (Dramatic Poetry) से हुआ है। हनुमन्नाटक तथा समयसारनाटक आदि इसी काटि के हैं।"

—हिन्दी नाटक साहित्य का इतिहास पृष्ठ ४

अर्थात्, गुप्तजी के अनुसार,

- १ 'हिन्दी हनुमन्नाटक' नाम का एक नाटक है।
- २ पर वह नाटकीय काव्य की कोटि का है।

डा० दत्तारथ ओझा के अनुसार, "दूसरा नाटक कवि हृदयराम द्वारा हनुमन्नाटक है। कुछ सागा का अनुमान है कि यह सृष्टि के हनुमन्नाटक का अनुवाद है किन्तु हम इस बात से सहमत नहीं हैं।" (हिन्दी नाटक उद्भव और विकास, पृ० १४१)।

अर्थात् ओझाजी के अनुसार,

- १ हृदयराम ने एक नाटक लिखा है।
- २ उसका नाम हनुमन्नाटक है।
- ३ वह मौनिक रचना है।

इस प्रश्न के तीनों विद्वान् इस प्रश्न पर एकमत हैं कि हृदयराम की रचना का नाम हनुमन्नाटक है।

वास्तविक नाम हृदयराम की इस रचना का वास्तविक नाम 'हनुमन्नाटक' नहीं है। हिन्दी में यह नाम केवल इसलिए चल पड़ा प्रतीत होता है कि इस रचना का प्रकाशित करने के समय इसकी भूमिका में भारत-जीवन, काशा, के मर्यादक रामकृष्ण

१ इसी इतिहास के पृष्ठ १६७ पर गुप्तजी ने लिखा है "हृदयराम के भाषा हनुमन्नाटक को ना क रहा बल्कि सच है।"

वर्मा ने यह लिखा था कि 'यह संस्कृत के हनुमन् नाटक' का अनुवाद है, इसलिए इसका नाम भी हनुमन् नाटक रखा गया, और इसी नाम से यह सवन् पञ्चाव प्रान्त में प्रसिद्ध है', (भूमिका, पृ० २) ।

रचना का पढ़ने से पता चलता है कि कवि ने इसका नाम 'रामगीत' रखा था । पुष्पिकाआ में भी सवन् यही नाम दिया गया है ।

पहले खंड में क्या आरम्भ करने से पहले पाठक को अपनी रचना का कथानक बताते हुए कवि रामकथा की मुख्य घटनाओं का उल्लेख करने के बाद कहता है

ऐसा रामचंद्र गीत तुमहि सुनाइयो ॥ १ १७ ॥

इस प्रकार कुम्भकण के वध के बाद कवि कहता है

राम गीत मन लाय, सुनो सुनावत राम कवि ।

तिनक दुख रघुराय, कुम्भकरन ज्या मारिह ॥ ११ ६७ ॥

यह रचना जिन १४ खंडों में विभाजित है उनमें से पहले तीसरे और चौथे को छोड़कर गेय ग्यारह के बाद ऐसी संस्कृतभाषा पुष्पिकाआ में 'रामगीत' नाम दोहराया गया है

१ 'इति श्रीरामगीते बालीवध पंचमोऽङ्कः

२ इति श्रीरामगीते श्रीलक्ष्मण ज्वाइयो

नाम त्रयोदशाङ्क समाप्त

३ 'इति श्रीरामगीते श्रीरामचन्द्र अजुध्या

बाइयो नाम चतुर्दशोऽङ्क समाप्त

दूसरी ओर, सारी रचना में 'हनुमन् नाटक' या 'भाषा हनुमन्नाटक' शब्दों का कहीं भी प्रयोग नहीं हुआ ।

इसलिए इस रचना का 'रामगीत' के नाम से ही उल्लेख होना चाहिए और किसी नाम से नहीं । प्रतीत होता है कि हनुमान की बनाई रचना का हनुमन् नाटक नाम देखकर, कवि ने 'राम' द्वारा गाई गई रचना को 'रामगीत' कहा जो राम विषयक गीत या कविता का अर्थ भी दे सकता है ।

रामगीत का लेखक

रामगीत का लेखक, जसा कि ऊपर लिखा गया है कवि हृदयराम है । पर, उसने अपना नाम हिरदराम लिखा है

रघुवर क्या पुनीत सदाई ।

सबक हिरदराम सुनाई ॥ ११ ११० की अंतिम अर्धश्लो ॥

पर अधिकतर पद्या में राम कवि या 'कवि राम' के नाम से ही उसने अपना उल्लेख किया है ।

पहले खंड में बहुत में पद्या में 'कासीराम कवि' के नाम की छाप मिलती है । इस विषय में भूमिका-लेखक रामकृष्ण वर्मा ने एक बिबदती का उल्लेख किया है । उन्होंने लिखा है कि बादगाह जहागीर में किसी अपराध पर हृदयराम कवि को एक श्वेत गृह में

कद कर लिया था। उन घर की चमक से कवि की आँखें जाती रही। कवि कारागार में इन ग्रंथ की रचना करने लग। पहले हैं कि हनुमानजी उन्हें बंसे का एक पत्ता मिले द जाते थे और उमीपर हृदयराम अपना ग्रंथ लिखने जाते थे। ग्रंथ समाप्ति पर जहागीर को स्वप्न आया और उसने हृदयराम का मुक्त करने का प्रार्थना की। ग्रंथ की बादशाह ने अपने खजाने में रखा दिया, जो बहुत बड़े बाद बादशाह बहादुरशाह को नज़र पड़ा। उन्होंने वह गुरु गविलिमिन् जो को भेंट कर दिया। गुरु महाराज ने देखा कि इसके एक हाथों पर गण हैं तो उन्होंने कालीराम कवि को जो हनुमन् राम का मया विचारिया मया आता दी कि इसके पूर्ण करो। उन्होंने इसे उत्तम प्रकार में सभान दिया।

विवादों की अन्तिम बात में कुछ न कुछ मध्य अवश्य लगता है। पहले खंड में कुछ पद्या में कालीराम कवि की छाप मिलती है जम ६०, ६४ में परन्तु दूसरे खंड के आरम्भ के बाद कालीराम की छाप कहा नहीं मिलती। पहले खंड में राम कवि की छाप पाते पद्य भी हैं।

निष्पन्न यह हुआ कि रामकवि छापों के कवि हिरदयराम ने १६२३ ई० (संवत् १६८०) के आसपास रामगीत नामक रचना की थी, जिसके सम्भावित कुछ छंदित अंश की बाद में कालीराम कवि ने पूरा किया।

‘रामगीत’ का रूप

महा हम इन का प्रश्न का उत्तर देना है—

१ रामगीत नाटक है या काव्य ?

२ ‘रामगीत’ मौलिक है पराश्रयी है, या अनुवाद ?

ऊपर कहा जा चुका है कि ‘रामगीत’ का बहुत समय से भाषा हनुमन्नाटक कहा जाता रहा है, जिसके कारण लाभ हम नाटक ही समझने लगे हैं। वस्तुतः यह काव्य, अर्थात् ‘अध्य काव्य’, है नाटक, अर्थात् दृश्य-काव्य, नहीं। दृश्य-काव्य में सारी वस्तु सवादरूप में होती है। हम ऐसा नहीं है।

इसके लंबा के विभाजन की अक नाम देन से भी इस भ्रम में वृद्धि हुई है। नाटक के एक अंक में माघारणतया एक दिन की घटना दिखाई जाती है। इस दृष्टि से हमें महा का अंक नहीं कहा जा सकता। उदाहरण के लिए पहले ही खंड में विश्वामित्र के अयोध्या आने में लेकर सीता के साथ विवाह के बाद राम के अयोध्या लौटने तक सारे बालकांड की कथा आ गई है।

वस्तु विभास रस, आदि अंश किसी दृष्टि से भी यह रचना नाटक नहीं है।

सारांश यह कि हिरदयराम का ‘रामगीत’ एक काव्य रचना है, नाटक रचना नहीं।

२ मौलिक अनुवाद, या पराश्रयी ?

हम शुभलजा न सरस्वती हनुमन्नाटक के आधार पर लिखी रचना बताया है, और

१ नाट्य-रूप, १-१६ काटीका काव्यशेखर में का छंद छण्डनं सोऽङ्क । काव्य-रूप-रूप

डा० ओ.ना ने मौलिक रचना माना है। इस प्रसंग में पहले संस्कृत हनुमन्नाटक का संक्षिप्त परिचय अपेक्षित है।

संस्कृत हनुमन्नाटक 'महानाटक' नाम से प्रसिद्ध है जो इसके १४वें अंक के ६४ और ६५ वें श्लोकों में लिखा है

रम्य श्रीरामचन्द्रप्रबलभुजबहुताण्डव काण्डशौण्ड

व्याप्त ब्रह्माण्डभाण्डे रणशिरमिमहानाटक पाटवार्धिम।

पुण्य भक्त्याञ्जनेयप्रविरचितमिदं यः शृणोति प्रमद्वान।

मुक्तोऽसौ सर्वपापादरिभटविजयी रामवत्सगरेषु ॥ १४ ६४ ॥

दूसरी श्लोक में इसका लेखक अजनापुत्र हनुमान को बताया गया है। फिर १४ ६६ में लिखा है कि पहले यह रचना हनुमान ने लिखी थी। इसके जाग अपनी रामायण की व्यथता समझकर वाल्मीकि ने इस समुद्र में डलवा दिया। फिर राजा भाग ने वहाँ से इसका उद्धार किया और दामोदर मिश्र ने इस क्रमबद्ध किया।

इससे दो बातें पता चलती हैं एक तो इसका हनुमन्नाटक नाम कथित लेखक के नाम पर बाद में रखा गया है दूसरे, इसका वर्तमान रूप दामोदर मिश्र का दिया हुआ है।

क्या यह नाटक है? यह रचना भी नाटक नहीं प्रतीत होती। नाट्यशास्त्र के शायद ही किसी नियम का पालन इसमें हो। कथा के लंबाई को अर्ध राम दिया गया है। संभवतः इसी कारण इस नाटक नाम दे दिया गया। अथवा सागरा तीर्थीय अर्ध जिसमें राम और सीता के गारीरव सम्भोग का वर्णन है, किसी नाटक में कैसे स्थान पा सकता है? एक तो यह विषय ही नाटक में रखना वर्जित है और दूसरे गरी की दृष्टि से यह अविवृत वर्णन है अभिनेय सवाद नहीं।

इस रचना में संस्कृत साहित्य में मिलनेवाले उन श्लोकों का संग्रह लिखाई देता है, जो रामकथा के विभिन्न प्रसंगों पर संस्कृत कवियों ने लिखे हैं। इसका निरालम्ब सुन्दर है, पर कथा का नाटकीय विकास नहीं भी नहीं है। संग्रह के श्लोकों का एक उदाहरण है स्वर्णमग्न के प्रसंग में इसके चौथे अंक का तीसरा श्लोक— श्रीवाभगाभिराम०, जो चम्पुत कालिदास के अभिमानशाकुन्तल के प्रथम अंक का श्लोक है। संग्रहकर्ता यह भूल गया कि 'शाकुन्तल' का हरिण रथस्थ दुष्यंत के स्यन्दन बद्धादृष्टि है पर स्वर्णमग्न का पीछा करनेवाला राम रथ पर नहीं पदल भाग रहा है।

महानाटक में १४ अंक हैं और कुल श्लोक ५७८ हैं जो अंक क्रम से इस प्रकार हैं

प्रथम अंक	५८
द्वितीय अंक	५०
तृतीय अंक	२७
चतुर्थ अंक	१६
पंचम अंक	६४
षष्ठ अंक	४६

प्रथम अंक	२०
द्वितीय अंक	५८
तृतीय अंक	४१
चतुर्थ अंक	२४
पञ्चम अंक	४१
षष्ठ अंक	१६
सप्तम अंक	३८
अष्टम अंक	६६ (अन्तिम स्तोत्र नामान्तर मिश्र का बताया हुआ है)

५७८

द्रुमक अतिरिक्त कहीं-कहीं बहुत थोड़ा गद्य भी है।
कथा अधिकतर रामायण के अनुसार है पर उससे बहुत थोड़े प्रसंग हैं।
भाव और रस रसि उ ग्राह्य शृंगार और वीर प्रधान हैं।

रामगीत और महानाटक—समानताएँ तथा अन्तर

समानताएँ

१ दोनों में कथाएँ लगभग एक स हैं।

हिरण्यकेशिपु ने राम और सीता के गरीबों का सभाग का बणन नहीं किया और दूसरे अंक में कथी का प्रसंग दे दिया है। गेय अंको में कथाएँ दोनों में एक जस हैं।

२ दोनों पद्य-मय हैं।

'रामगीत' में गद्य के नाम पर कहीं-कहीं रावण का वचन जस सकता है, और सारी रचना पद्य में है। 'महानाटक' में बहुत थोड़ी भाषा में रचनाएँ गद्य भी हैं।

३ दोनों में कथाओं की अंश कहा गया है।

रामगीत में खंड के अंत में दी गई पुष्पिकाओं में कहा है कि अंक कहा गया है। खंड का आरम्भ में अंक का उल्लेख नहीं है। परन्तु पहले खंड के अन्त में ऐसा कोई उल्लेख नहीं है जोर ११५ के पद्य के बाद 'हनुमान नाटक' अथवा 'काव्य' गद्य लिखे हैं। तृतीय खंड के बाद 'इति नृपराज', और फिर 'चतुर्थ अंकात्' गद्य लिखे हैं। चौथे खंड के अन्त में 'इति चतुर्थोऽङ्कः' लिखा है।

महानाटक में प्रत्येक खंड के आरम्भ और अन्त में अंक का उल्लेख है।

४ दोनों में १४ कथाखंडों में मुख्य घटनाएँ एक ही हैं, जसा कि नीचे दी गई पुष्पिकाओं से प्रकट होगा।

(कोष्ठा में दाना के कथाखंडों की पद्य-संख्या दी गई है)।

पद्यमंथ्या	रामगीत	पद्यमंथ्या	महानाटक
	पुष्पिका		पुष्पिका
११४	पक्ष के पीछे कुछ नहीं लिखा	५८	इति श्रीहनुमन्नाटके जानकीस्वयंवरा नाम प्रथमाङ्क
८८	इति श्रीरामगीते रायचन्द्र वियागे द्वितीयोऽङ्क	३०	इति श्रीहनुमन्नाटक राम जानकी विलासा नाम तृतीयाङ्क
१०९	इति तृतीयोऽङ्क (सके बाद लिखा है 'चतुर्थ अध्याय')	२७	इति श्री हनुमन्नाटके मारीचा ममना नाम तृतीयाङ्क
१६	इति चतुर्थोऽङ्क इति श्रीरामगीते बालिवध पद्यांक ६४, } पंचमोऽङ्क पर वस्तुतः ८६	१६	इति श्रीमहानुमन्नाटके सीता हरण नाम चतुर्थोऽङ्क
११६	इति श्रीरामगीते लकाग्रहण पट्टमोऽङ्क	६४	इति श्री हनुमन्नाटक बालिवधो नाम पंचमोऽङ्क
३४	इति श्रीरामगीते सिंधुमेतबधने सप्तमोऽङ्क	४६	इति श्री हनुमन्नाटके हनुमद्विजया नाम पट्टमोऽङ्क
११९	इति श्री रामगीते अमदरावण सवादनामाष्टमोऽङ्क	२०	इति श्री हनुमन्नाटके सेतुबधन नाम सप्तमोऽङ्क
१२९	इति श्री रामगीते मथ्युपदेश नाम नवमोऽङ्क	५८	इति श्री हनुमन्नाटके ङ्गदावि क्षेपण नामाष्टमोऽङ्क
९२	इति श्री रामगीते रावणप्रपचनाम दशमोऽङ्क	४१	इति श्री हनुमन्नाटके मन्त्रिवाक्य नाम नवमोऽङ्क
६९	इति श्री रामगीते दुम्भकणवधे एकादशोऽङ्क	२४	इति श्री हनुमन्नाटके रावणप्रपरा नाम दशमोऽङ्क
४७	इति श्री रामगीते इन्द्रजीतवधे द्वादशोऽङ्क	४१	इति श्री हनुमन्नाटके दुम्भकण वधो नामैकादशोऽङ्क
१०९	इति श्री रामगीते श्री लक्ष्मण त्रिवाइयो नाम त्रयोदशा व समाप्त (चौपाइया पर गिनती नहीं । ७ से १७ तक चौपाइया का बटवक है)	१९	इति श्री हनुमन्नाटके मेघनादवधा नाम द्वादशाङ्क समाप्त
१३३	इति श्री रामगीते श्री रामचन्द्र अजुन्माआइवा नाम चतुदशोऽङ्क समाप्त	३८	इति श्री हनुमन्नाटके लक्ष्मण शक्तिभेदो नाम त्रयोदशाङ्क
		६६	इति श्री पवनसनयविरचितमिश्र दामोदर सगहीतहनुमन्नाटके श्री रामविजयो नाम चतुदशोऽङ्क समाप्त

५ रामगीत व कितन ही पद्य महानाटक के दलीखी व आधार पर लिगे गए हैं ।

रामगीत के १४ गद्या व ऐसे पद्या की मकत-मन्या और उमक साथ महानाटक की दवाव-सख्या भी नीचे दी जाती है ।

रामगीत का	महानाटक का	रामगीत का	महानाटक का
१-४	१-३	७-८	७-६
१-४६	१-१२, १३	७-९	७-७
१-४७	१-१४	७-१०	७-७ ८
१-४८	१-१५	७-११	७-१४
१-४७	१-९	७-१२	७-१८
१-८१	१-३६	८-११	७-११
१-१०४ १०५	१-४८	८-१२	८-१२
१-१०८	१-४९	८-१७	७-१४
३-१०२	४-२	८-२६ २७ २८	८-२
४-३	४-३	८-४१	८-४
४-१५	४-४	८-६२	८-५
४-२४	४-६	८-४३	८-६
४-२६	४-११	८-४४	८-८ ९
४-२८	४-१२	८-५४	८-१०, १६
४-३२ ३३	१-१६	८-६४	८-३२
४-६६	१-३४	८-६५	८-३३
४-४८ ६६	४-३५, ३६	८-६६	८-२३
४-६१, ६२	गद्य और ४-५१	८-७६	८-२४, २६
४-६६	४-५६	८-८१	८-१८
६-११	६-५	८-८७	८-११
६-१३	६-६	८-८८	८-१२
६-१४	६-६	८-९१	८-२६
६-४०	६-१४	८-९२	७-९
६-४४	६-१६	८-९३	८-९
६-८६	६-२०	८-९५	८-४१
६-९६	६-२८	८-९६	८-१६
६-१०३	६-३६	१०-१	१०-गुरु का गद्य
६-१०८	६-४०		१ से पहले
६-११०, १११	६-४२, ४४	१०-१२, १३, १४	६-गद्यतथापद्य २६
७-३, ४	७-२	१०-२८	१०-३

रामगीत का	महानाटक का	रामगीत का	महानाटक का
१०-४७	१०-६	१३-१४, ११	१३-१
१०-४८	१०-७	१३-१६ १७, १८,	१३-गद्य
१०-४९	१०-८	१९	
१०-६०, ६१	१०-१८, १९	१३-२१	१३-गद्य
१०-६५	१०-२१	१३-२८	१३-२
१०-७०, ७१	१०-२२	१३-३२	१३-३
११-१०	११-गद्य	१३-३४	१३-५
११-१८	११-४ के बाद का गद्य	१३-३६	१३-गद्य
११-१९	११-१, ६	१३-३७	१३-६
११-२५	११-७	१३-३८	१५-७
११-३३	११-१४ १५	१३-३९	१३-८
११-३८	११-१९	१३-४०	१३-गद्य
११-४०	११-२१	१३-४२ ४५, ४८	१३-९ १०
११-४८	११-२३	१३-५३ ५४	१३-११
११-११	११-२४	१३-११	१३-गद्य
११-५४	११-२७	१३-५६, ५७	१३-गद्य
११-५५	११-२८	१३-५९	१३-१२, १६
११-५६	११-२९	१३-६५	१३-१७
११-५७	११-३१ ३२	१३-६७, ६९	१३-१८
११-५८	११-३७	१५-७० (यहाँ ७०	१३-गद्य
११-६०	११-३९	गद्या गलती	
११-६१	११-३८	मे ला बार छप	
११-६४	११-४१	गई है। यह	
१२-१५	१२-२	दूसरी बार	
१२-१९	१२-३	वाली है)	
१२-२९	१२-४	१३-७३	१३-१९
१२-१	१२-५	१३-८५	१५-२०
१२-३०	१२-६	१३-८९	१३-२३
१२-३४	१२-७	१३-९३	१३-२५, २६
१२-४०	१२-१०	१३-९५	१३-२७
१२-४९	१२-१०	१३-९९	१३-२६
१२-५१	१२-१३, १५	१३-१०१	१३-२९
१२-५३	१२-१८	१३-१०५	१३-३७ ३८
१२-५४ ५५	१२-गद्य	१३-११०	१३-३६
१२-५६	१२-१९	१४-१, २, ३	१४-गद्य

रामगीत का	महानाटक का	रामगीत का	महानाटक का
१४-४	१४-१	१४-७८	१४-४५ से ४६ तक
१४-५	१४-२	१४-८०	१४-५८
१४-६	१४-गद्य	१४-८१	१४-गद्य
१४-७	१४-गद्य २	१४-८६	१४-८६, गद्य
१४-८ १०	१४-४	१४-८८	१४-गद्य
१४-१७	१४-२१	१४-८७	१४-४६ के बाद का गद्य
१४-१८	१४-२२	१४-१०६	१४-५४
१४-१८	१४-२३	१४-११०	१४-५४ के बाद का गद्य
१४-२१	१४-२६		
१४-२८	१४-३३		
१४-५०	१४-३६		

इस प्रकार महानाटक के कम से कम १५० पद्या और गद्य खंडों का उपयोग राम-गीत की रचना में हुआ है।

रामगीत और महानाटक में अंतर

- १ रामगीत की तुलना में महानाटक बहुत छोटी रचना है।
- २ रामगीत के १२७५ म सं ११०० से भी अधिक पद्य महानाटक से स्वतंत्र हैं।
- ३ रामगीत की क्या स्थान-स्थान पर महानाटक की क्या से भिन्न है। क्या का भेद-विलान के लिए नीचे दोनों के पहले पांच अंकों की क्या दी जाती है।

महानाटक का प्रथम अंक

१-४ मगलाचरण

५-८ क्या का उपक्रम

प्रतापी दशरथ के कुल में विष्णु

अपने चार रूप करके चार पुत्रों के रूप में

अवतरित हुए। राम बड़े थे। उन्हें कौणिक

मुनि ने माग लिया। राजा ने दुर्गा होकर

दिया। लक्ष्मण साथ गए। राम ने ताड़का

तथा अन्य राक्षसों को मारा, मारीच को

छोड़ दिया। यज्ञ पूरा होने पर मुनि राम के

साथ मिलता गए और वहाँ धनुष मंडप में

पहुंचे।

६-२७ राम ने धनुष चढ़ाया और वह

टूट गया।

१-१६

१७

१८-१९

२०

२१-२६

२७-३१

३२-३५

३६

रामगीत का प्रथम अंक

मगल और राम क्या का

माहात्म्य।

वाल्मीकीय रामायण की अनु

क्रमिका की भांति एक पद्य

में सारी रामायण की क्या।

राम रूप-वर्णन।

विश्वामित्र ने दशरथ से यज्ञ

रक्षाय राम को मांगा।

विश्वामित्र-दशरथ सवाद,

राम-लक्ष्मण का जाना।

ताड़का-वध

मुवाहु मारीच-वध

जय-शंख

२८-५५	परशुराम की पराजय ।		का म्बयवर म मिथिला आन
५६-५८	जनकपुरी म राम मीता		का निमन्त्रण ।
	विवाह । जयो-या का प्रस्थान	३७-४५	राम आदि का जाकपुरी म
			पहुचना और इह सूयवशा
			जानकर रनिवाम की उत्सु-
			कता ।
		४५	जनक क प्राहित (पुत्राहित)
			की स्वयंवर नियम घोषणा ।
		४६-४७	रावण क दूत का वचन
		४८	जनक का उत्तर
		४९-५५	धनुष का किसीसे न उठना
		५६	लछमन की गर्वाक्ति
		५७	सीता का स्वगत वचन
		५८-६८	राम का धनुष तोटना जनक
			परिवार का प्रसन्नता
		६९-७८	परशुराम क शोध-वचन
		७९-१०७	राम परशुराम विवाद परशु
			राम का पराजय मानकर
			वनगमन ।
		१०८-११८	राम मीता आदि का
			अयो-या नगर प्रवर्ग ।
	द्वितीय अंक		द्वितीय अंक
१-३०	राम और सीता का सुरत	१-१५	वसिष्ठ क कहन न दशरथ
	वर्णन		का राम का राज्य देन का
			निश्चय और इसपर नगर
			निवासिया की प्रसन्नता ।
		१६-२८	ककेयी का दो वर मागना ।
		२९	दशरथ की ऋषि क शाप का
			स्मरण आना
		३०-८८	राम का वनगमन, नगर
			निवासिया का गोक
	तृतीय अंक		तृतीय अंक
१-२	श्रवण मुनि क पिता क गाप	१-६	भरत का बुढान के लिए
	का समय आने पर महान		वसिष्ठ का दून भेजना
	उत्पात होन लगा ।	१०-४६	भरत का लौटना राम की
३-४	ककेयी न दा वर भाग, राजा		चौदान के लिए चित्रकूट

ने दुःख के साथ द दिए
भरत का दुःख प्रदान
राम सीता व पदल चलने
की बात सोचकर उमपर दुःख
प्रदान
दण्ड की मृत्यु
भरत का दुःख, लक्ष्मण और
सीता का राम व साथ जाना
भरत का नन्दिग्राम से प्रजा
पालन
राम आदि का चित्रकूट की
ओर जाना
भरत और सुमित्रा चित्रकूट
में
गोदावरी तीर पर पचवटी में
पणकुटी बनाई
पचवटी रामस्तुति
मारीच का स्वर्णमृग बनकर
आना और उसका घम लाने
के लिए सीता का कहना
चतुर्थ अंक
राम का हरिण के पीछे जाना १
राम ने मग को मारा, रावण २-५
भिक्षा मागकर सीता को उठा
ले गया ।
जटायु का रावण को रोखना
पर पराजित हो जाना और
रावण का सीता को लेकर
भाग जाना । ६-११
राम का खाली पणकुटी में
लक्ष्मण के साथ लौटना और
वहा सीता की दूढ़ना । १२-१६

जाना राम का भरत का
उपदेश और लौटना
पचवटी का जानना
पचवटी-वर्णन
गुणगता का लक्ष्मण व प्रति
प्रेम प्रदान सीता का डराना
दूषणगा का नाक काटना,
गुणगता का रावण व पास
पहुँचना ।
रावण की व्याकुलता, मन्त्रा
दरी का उपदेश कि राम से
वरन कर ।
रावण का जोगा भन म जीर
मारीच का कचनमृग रूप में
आना सीता का उस पकड़ने
के लिए कहना और राम का
उसके पीछे जाना (जब १ म
मारीच का वध लिया है) ।

५१-१०१

१०२-१०६

चतुर्थ अंक
राम ने मग को मार लिया ।
मग का मरत समय ल मण
को पुकारना, सीता व हठ पर
लक्ष्मण का जाना और राम
को खानना ।

रावण ने भिक्षा मागी, सीता
ने सोच विचारकर भीख दन
के लिए बाहर पाव रखा कि
रावण ने उसे पकड़ लिया ।
सीता का विलाप और रावण
का अपना परिचय देना तथा
सीता को लेकर भाग जाना ।

पाँचवा अंक
राम का विलाप

पाँचवा अंक
राम का सीता के लिए विलाप १-२२
जटायु से भेंट और सीता २३-२८

१-१२
१३-१६

	हरण का समाचार मिला	और पराजय
१७-३२	राम का विलाप और किष्कि का म प्रवेश	जटायु की मृत्यु और राम द्वारा दाह, हनुमान से भेंट ।
३३-६६	हनुमान से भेंट सीता के आभूषण मिलना, सुग्रीव से मित्रता और बाली का वध ।	

इस प्रकार, प्रत्येक खंड में कथा में बहुत कुछ भिन्नता है ।

४ रामगीत प्रायः एक व्यक्ति की रचना है, और उसमें कथा अधिक सगत और मूलप्रवृत्त है। दूसरी ओर, महानाटक में कथा टूटी लगती है और घटनाएँ एकाएक आ जाती हैं। कई जगह एक खंड में वाक्य में बड़े महत्त्वपूर्ण कथाश्रव को पूरा कर दिया गया है। उदाहरण के लिए, १७ और ८ में राम के विश्वामित्र के साथ जान, ताडका, सुनाहु आदि राक्षसों की मारने और जनकपुरी में स्वयंवर महोत्सव में पहुँचने तक की घटनाएँ समेट ली गई हैं।

५ रामगीत के जो पद्य महानाटक के पद्य या गद्य के आधार पर लिखे गए हैं, वे बहुधा उनका भाषान्तर अनुवाद नहीं हैं। अधिकतर पद्यांश संस्कृत की परछाई या प्रभाव मात्र हैं।

६ रामगीत का लेखक रामभक्त है, इसलिए उसने राम और सीता के शारीरिक सम्भोग का वर्णन नहीं किया। शृंगार वर्णन में भी वह अमयत्त नहीं होता। महानाटक में रामभक्ति का प्रदर्शन तो है, पर उसमें विद्यमान सम्भोग वर्णन रीतिवादी हिन्दी साहित्य का स्मरण कराता है। शृंगार वर्णन भी मानवीय कोटि का है। और, राम के दर्शनरतन का ध्यान पाठन के मन में बही भी नहीं जाता।

७ दोना की दासी में अन्तर है। रामगीत में 'सुनाहु कथा मन लाय कहकर श्राताश का जगाया गया है। महानाटक में ऐसा नहीं है।

निष्कर्ष

महानाटक और रामगीत की उपयुक्त तुलना से यह निष्कर्ष निकलता है

१ रामगीत महानाटक का अनुवाद नहीं है।

२ इसमें महानाटक का इतना आधार भी नहीं है कि इसे 'पराश्रयी' कहा जा सके।

३ यह मौलिक काव्य रचना है, जो महानाटक पर नज़र रखकर और उसका कुछ आधार लेकर लिखी गई है।

रामगीत की कविता

कविता की दृष्टि से रामगीत उत्कृष्ट कोटि की रचना है। रामायण के प्रसिद्ध कथानक में विविध प्रसंगात् कवि ने बड़ी तमयता से वर्णन किया है। कथा में रावण की मौलिक उदभावनाएँ नहीं हैं, और कवि की एक आत्मा महानाटक पर रही है। फिर भी महानाटक की कथा में उसने महत्त्वपूर्ण संशोधन किए हैं।

सबसे महत्त्वपूर्ण संगीथन है महानाटक व दूसरे अब व राम सीता-सम्भाग वणन का सबका बहिष्कार। हिरदराम ने इस स्थान पर राम के अभिषेक की तयारी और वनगमन का वतावट दिया है। रामभवा हाव के कारण कवि का हृदय बस सज्जाजनक एतन्ताचित वणन करने को तयार नहीं हुआ और उसने एक घायल मय व चतुराद से समाप्त कर दिया—

मारमुता न मर वहि अत निगार।

वह मति बोन हमारी ॥ २४ ॥

अथ नी उहनि आवस्यरानुसार क्या म जतर किया है। उग्रहरण व निग विभीषण रावण सपाद, जो महानाटक म मातर्वे अब म है हिंदी म जाटवे अब म रखा गया है वहा वह अधिक उपयुक्त लगता है। इसी प्रकार अगद व प जमान का प्रमग, जो ससृत म नहीं था, हिरदराम ने आठवे अब म रखा लिया है। क्यानर म किए गए इन परिवर्तना से का अधिक मनोरंजक और सगत हो गई है।

‘रामगीत का अंगी भाग ‘भक्ति ही मानना चाहिए। हिरदराम व राम विष्णु के अवतार हैं और उन्होंने रत्न को भी बनाया है (६६४ ६४६)। पर, फिर भी राम वनवास म साता की दुदगा की कल्पना करके (२००) और सीताहरण व बाद मनुष्य की तरह शरीर विलाप करते हैं। स्थान स्थान पर उत्साह भय और शप का भा व्यजना अच्छी की गई है।

एकथ स्थान पर कवि ने महानाटक व कैर म पड़कर कुछ अमहदयता प्रदर्शित की है। महानाटक म एक स्थान पर मन्दादरी रावण से बहती है कि मरु और सीता की मनाहारिता म भेद ही क्या है। इस पर रावण का बयन है

मन प्रिय परिमलस्तव भेदमास्या

स्वयं बिहेदुहितु सरसीपूजायाम् ॥

अर्थात् हे प्रिय, तुम्हारे शरीर म मछली की गंध है और बिहेदुपुत्री के दह म कमला की। यह दाना म भ्रम है।

इस वतावट पर कवि ने मसृत का जस का तमा अनुवाद तो नहीं किया, पर घूल से भी कुछ बढ़ाकर वणन कर डाला है।

जैसे कमलाक्षस सो लाह, जया विवेक माह, जैसे दिन दीपत व आग नम घामनी।

जनकमुता की तेह दामनी दमक आग तू तो लाग ऐसी कारे बाहर की कामनी ॥

—१०१३

हिरदराम का पञ्चाव निवासी माना गया है, पर उन्होंने मध्यमाल व प्रति भा अपना अर्द्धाभाव प्रकट किया है। महानाटक व २४ का स्वतंत्र अनुशासन करन हुए ॥ ६१ म इहान मयश्च का जय दगा म उसी प्रकार प्रसिद्ध माना है, जैसे जय मनुष्या से रामचंद्र को और जय नदिया से गंगा को माना जाता है।

आपकी प्रजभाषा मसृतनिष्ठ है और यमक अनुप्रास कवि को विनाप प्रिय है। संवडा परा म एक एक चरण मे यमक का प्रयोग किया गया है। ‘हजूर जमे विदेशी राद और ‘जगी जसा पञ्जाबी राद भी कही-बही दिखाई देने हैं।

‘रामगीत की अधिकतर रचना सवया, कवित्त, छप्पय, दोहा, और सारठा छंदा में है। इनमें भी पहले तीन का प्रयोग ही अधिक हुआ है। हिरदराम की छन्द रचना में मफाई और स्पष्टता है, और कई मामिक उक्तियाँ बड़ी चतुराई से बिठाई गई हैं।

रामगीत में अनुवाद

रामगीत में जो उस महानाटक से लिए गए हैं, उनमें से अधिकतर में संस्कृत की परछाई या काँइ एक दा भाव ही लिए गए हैं और शायद रचना उसी प्रसंग का बढ़ाकर अपनी ओर सँकरी गई है। महानाटक के किसी पद्य का जिस का तत्सा और पूरा नापांतर मुश्किल से ही मिलता। जिस कुछ कवियाँ ने बिहारी के लहो पर सबसे लगाए हैं कुछ कुछ वही ही रीति से हिरदराम ने महानाटक के पद्यों के भाव लेकर अपनी पद्य रचना की है।

एक उदाहरण दक्षिण

महानाटक में—

द्वि शर ना भिमघत्ते, द्वि स्यापयति नाश्रितान् ।

द्विददाति न चायिभ्यो रामा द्विनाऽभिमापते ॥

—१ ४८

दोहा

घरया न दूज घनुष मर सरनागति नहि दीन ।

सुरपति हूँ सा रघुपती लट मुख बान कही न ॥

—१ १०४

सवया

सकल धाप न दूर किया जिन चूक पर मुख से हम दीनी ।

जान लिया जिनकी तिन पाय न मागब का बहुरा मन कीनी ।

बोल कह्यो मु कह्यो न फिरया अरु मीय विवाहि क पाहन कीनी ।

एकहि बान हयो रिपुमंडल श्री रघुधोर सदा ब्रत लीनी ॥

—१ १०५

सारांश भाषा हनुमानाटक के नाम से प्रसिद्ध रचना न तो नाटक है, और न इसका नाम ही हनुमानाटक है। हिरदराम की लिखी इस रचना का वास्तविक नाम रामगीत है जिसे कही कही रामचंद्र गीत भी कहा गया है। यह मौलिक काव्य रचना है और यह एक भाषा संस्कृत के महानाटक या ‘हनुमन्नाटक’ पर रखकर लिखी गई है। संभाव्यता में भी महानाटक का अनुकरण है और पद्यों में भी उसके पद्यों की छाया मिलती है। पर कुछ मिलाकर यह अनुकरण इतना थोड़ा है कि ‘रामगीत’ को महा नाटक का अनुवाद नहीं कहा जा सकता। यह रचना १६२३ ईस्वी की है। रामगीत पहली पञ्चाद में शुरूमुखी अंतरा में मिलता था। इस बात में रामकृष्ण धर्मा, सम्पादक, भारत जीवन यात्रा के लक्ष्मणगरी अक्षरा में प्रकाशित कराया। इस रचना के कुछ पद्य

वागाराम कवि के बनाए हुए हैं, जा सम्भवतः हिस्सैराम क कग या रियाधिया म य ।

‘रामान’ का कथा रामायण और महानाटक क आधार पर है । इसकी कविता प्रौढ और मनाहुर है और कवि का भाषा पर अच्छा ज़ाधवार प्ररुट करती है । महानाटक म लिए गए अंग म डमती परछाड मिलता ह । पर कट भी ससहन रचना का पूरा नापात्र नहीं ।

तीसरा अध्याय

आधुनिक काल (१८५०-१९००) के अनुवाद

सन १८५० से भारतीय भाषा-जा के साहित्य में एक विशेष युग का आरम्भ माना जाता है जिसे गद्यकाल कहते हैं। हिंदी साहित्य में इसका एक और भी महत्व है। इस काल में हिंदी में गद्य की प्रतिष्ठा हुई और वह भी खड़ी बोली के मध्य की। मध्यकालीन साहित्यिक भाषा ब्रजभाषा थी और मध्यकालीन साहित्य पद्य में था। आधुनिक काल में खड़ी बोली में गद्य की प्रतिष्ठा हो जाने पर भी पद्य के लिए ब्रज का ही प्रयोग होता रहा। पद्य में खड़ी बोली की प्रतिष्ठा प्रायः पचास वर्ष बाद हो सकी।

युग की यह प्रवृत्ति इस काल के संस्कृत नाटकों के अनुवादों में भी मिलती है। जो अनुवाद हुए उनमें मूल का गद्य तो खड़ी बोली में रखा ही गया मूल पद्य के स्थान पर गद्य रचना करते हुए भी खड़ी बोली का ही प्रयोग किया गया। पर जब मूल पद्य के स्थान पर पद्य रखा गया तब अनुवादकों ने ब्रजभाषा को अपनाया। पद्य में ब्रजभाषा के प्रयोग की प्रवृत्ति मध्ययुग के आरम्भ में खुसरो की पहलिया तक में दिखाई देती है—अनुवादों में उसकी समाप्ति ईसा की बीसवीं शती की रचनाओं में ही होती है।

इस युग के बारे में यह भी उल्लेखनीय है कि हिंदी खड़ी बोली की प्रतिष्ठा के लिए वह समय का युग था। राजशासन अंग्रेजों के हाथ में था और उनके सामने यह सिद्ध करने की आवश्यकता थी कि जो हिंदी खड़ी बोली बोलचाल में अधिकतर मध्यदेश में प्रयोग में आती है, वह समय भाषा है और उसमें सुंदर साहित्य की सृष्टि हो सकती है। इस आवश्यकता की पूर्ति अनुवादों से सीधे हो सकती थी। मौलिक रचना की प्रतिभा न होने पर भी सुंदर अनुवाद किए जा सकते थे। इसी कारण, इन पचास वर्षों में किए गए अनेक अनुवादों की भूमिकाएँ अंग्रेजी तथा हिंदी दोनों में मिलती हैं। राणा लक्ष्मणसिंह के मेघदूत के (ब्रजभाषा पद्य) अनुवाद की भूमिका अंग्रेजी में लिखी गई थी। सीताराम भूष ने भी मृच्छकटिक तथा कुछ अन्य नाटकों के अनुवादों की भूमिकाएँ अंग्रेजी में लिखी हैं।

मद्यपि भारतेन्दुजी का पहला अनुवाद रत्नावली, जिसका प्रस्तावना वाला अंग ही प्राप्त है, १८६८ में किया गया था और उससे पांच वर्ष पहले शाकुंतल का राजा लक्ष्मणसिंह वृत्त अनुवाद, शकुंतला नाटक, प्रकाशित हो चुका था फिर भी इस काल को भारतेन्दुकाल कहना ही उचित होगा। कारण यह कि राजा साहब ने १८६३ में जो अनुवाद प्रकाशित किया था, वह सारा गद्य में था। उसके बाद स्पष्टतः भारतेन्दु के गद्य-

पद्यमय अनुवाद की देगकर उन्होंने अपनी अनुवाद के गद्य भाग को परिमार्जित और ठीक ठाक किया तथा मूल के पद्या के स्थान पर गद्य को हटाकर ब्रजभाषा के पद्य रचे। इस प्रकार जहाँ एक ओर उनका दिताए माग पर भारतेन्दुजी चले, वहाँ उद्दान भी भारतेन्दु के दिताए माग का अपनाया और गद्दी माग बाद में अनुवाक का अन्दा लगा।

इस काल में अनुवाद के लिए नाटकों का चुनाव का क्षेत्र बहुत विस्तृत हो गया। कुल तरह नाटकों का अनुवाद हुआ, जिनमें से कई नाटकों का एक में अधिक अनुवाद हुए। अनुवादों की कुल संख्या सत्ताईस रही और प्रयोगचन्द्राण्य, अभिमान गानुल्लन तथा रत्नावली का चार-चार अनुवाद हुए। उत्तररामचरित का तीन और मावनी माधव, मच्छकटिक तथा बगीचहार का दो-दो तथा घनजयविजय मुन्तरागम कपूरमजरी नागानन्द, महावीरचरित तथा मालविकाग्निमित्र का एक-एक अनुवाद हुआ।

अनुवादों में राजा लक्ष्मणसिंह भारत-दुर्हरिचन्द्र और राजा सीताराम भूप मुख्य रहे। राजा लक्ष्मणसिंह ने सबसे पहले १८६३ ई० में अभिमान गानुल्लन का मही वाली गद्य में अनुवाद 'गुल्लतला नाटक' नाम से प्रकाशित किया। यह सगर्वजनक रचना लिख हुई। भारतेन्दु ने रत्नावली प्रयोगचन्द्राण्य (नयीय जक), घनजयविजय, मुन्तरागम और कपूरमजरी का अनुवाद किए। आपने मसहूर नाटक चंडौरीगिरि की मावनी का आधार लेकर मत्यदुर्हरिचन्द्र नाटक की रचना भी की। राजा सीताराम भूप ने मावनी माधव मच्छकटिक नागानन्द महावीरचरित उत्तररामचरित और मालविकाग्निमित्र का अनुवाद किए।

इन अनुवादों का उद्देश्य साहित्यिक या अधिकतर पुरुषार्थी अनुवाकों का संरक्षणात्मक नहीं। 'मल्लि' इन्होंने संस्कृत का श्रेष्ठ और विविध प्रकार का नाट्य का अनुवाद प्रस्तुत किए। इनमें मसहूर का सबसे उत्तम संस्करण—महाकविकावितान और भयभूति—का रचनाएँ हैं। मुद्राराक्षस जसा राजनीतिक पद्यभूमि का नाटक है मच्छकटिक जसा जनजीवन का चित्र प्रस्तुत करनेवाला प्रकरण है और कपूरमजरी जसा प्राकृत मसहूर भी है। इन अनुवाकों का उद्देश्य भारतीय संस्कृति के गौरव-प्रथा की हिन्दी में प्रस्तुत करना, काव्य की चेतना का समर्थन करना, हिन्दी नाटक का विकास को प्रोत्साहित करना और हिन्दी गद्य का पुष्ट रूप प्रस्तुत करना था।

इन अनुवाकों ने मसहूर नाटकों के गद्य भाग का खड़ी बोली का गद्य में और पद्य भाग का ब्रजभाषा का पद्य में अनूदित किया। राजा लक्ष्मणसिंह ने भी जिन्होंने पहले भारी रचना केवल गद्य में की थी, बाद में भारतेन्दु की गद्दी का अनुसार अपनी रचना का गद्य पद्यमय रूप में प्रकाशित किया जो बहुत लोकप्रिय हुई।

अनुवाकों में भी सवर्ण भाषांतर की अपनायी। मूल नाटकों का अविकृत अनुवाद किया गया। कहीं-कहीं मामूली रूपांतर मिलता है जस भारतेन्दु ने कपूरमजरी में दस और पन्नाकर के पद्य जोड़ लिए हैं।

इस युग के अनुवाकों ने अपने अनुवादों द्वारा हिन्दी साहित्य की नाटक धारा में योग देने का भी प्रयास किया। भारतेन्दु से पहले हिन्दी में मौलिक नाटक का प्रायः अभाव ही था। इसलिए इन अनुवाकों का महत्व मौलिक नाटकों जसा ही माना गया। इन अनुवाकों

का कुछ जाभास इस तथ्य से होगा कि इन अनुवादों के नामपृष्ठ पर अनुवादक को लेखक कहा गया है अनुवादक नहीं। इसी महत्त्व के कारण भाग्य दुर्जी ने राजा लक्ष्मणसिंह के अनुवाद को हिन्दी का दूसरा नाटक लिखा है।

भारत-दुर्काल के अनुवादका ने अनुवाद का मूल नाटक के अनुसार नाटक ही रखा है। नाटक खेलने के लिए नाटक में गीत जादि कई बार अपनी ओर से रखे गए हैं। पताका स्थानक आदि नाट्यविधान की विवेचनाओं का खान का भी प्रयत्न किया गया है। दृश्य के स्थान का सूक्त किया गया है। भाषा भी सरल, तन्मय और बालघाल के भाषा से भरी है। वाक्य छोटे और सीधे हैं और संस्कृत के लम्बे लम्बे समासों का सरल वाक्या रूप दे दिया गया है। यद्यपि राजा लक्ष्मणसिंह ने पहले पद्यों का प्रयोग नहीं किया था पर उनके बाद बाल अनुवादका ने पद्या का अनुवाद अजभाषा पद्य में ही किया। इन पद्या में छान्दा का प्रयोग भी विविधतापूर्ण है, पर छन्द के चुनाव में, रसमंजना पर मरका ध्यान नहीं रहा है।

हिन्दी साहित्य के इतिहास में इन अनुवादों का सबसे बड़ा महत्त्व हिन्दी गद्य की प्रतिष्ठा करने के कारण है। राजा लक्ष्मणसिंह ने लेखक के सामने शुद्ध हिन्दी गद्य का एक नमूना प्रस्तुत कर दिया, भारत दुर्ग ने उसे व्यवस्थित और परिमार्जित रूप दिया और माताराम भूप ने उसे पुष्टता प्रदान की। इस दृष्टि से ये तीनों अनुवादक हिन्दी छोटी बाली गद्य की प्रचलित शैली के जनक कह जा सकते हैं।

इन तीन अनुवादों की कुछ रचनाओं की सगुण्य समीक्षा यहां की गई है।

राजा लक्ष्मणसिंह

अभिज्ञानशाकुन्तल (१८६३ ई०)

आधुनिक काल का प्रथम अनुवाद १८६१ ई० में राजा लक्ष्मणसिंह ने किया था जो १८६३ में छपा। उस समय लड़ी बोली हिन्दी में साहित्य रचना के नाम पर कोई उत्कृष्ट वस्तु नहीं थी नाटक का ता कहना ही क्या। राजा साहब आप लिखते हैं 'जब मैंने पहिले शकुन्तला का हिन्दी में अनुवाद किया प्रबोधचन्द्रादय को छोड़कर और कोई नाटक इस भाषा में नहीं था।'

शाकुन्तल का अनुवाद करने का कारण बताते हुए राजा साहब ने लिखा है 'शकुन्तला की विलक्षण कविता और अति मनोहर कथा देखकर विचार किया कि महा नवी कालिदास का यह उत्तम ग्रंथ साधारण हिन्दी वाली में उलथा हो जाए तो इस लाग बहुत जानने से पढ़ेंगे और इसमें हिन्दी भाषा की वृद्धि में सहायता पहुंचेगी।'

यह अनुवाद ऐतिहासिक दृष्टि से बड़ा ही महत्त्वपूर्ण है। उस जमाने में हिन्दी उर्दू का विद्यालया पर था और भाषा गला के विषय में एक ओर राजा शिवप्रसाद की विचारधारा चल रहा थी जो हिन्दी में अरबी फारसी शब्दों को मिलाकर उस शासना प्रसारिका की प्रिय बनाना चाहत से और दूसरी ओर तत्सम उद्भा प्रधान हिन्दी के

१. २ शकुन्तला नाटक (मध्याह्नक स्थानसुन्दरानाम बी० ७० इतिवृत्त प्रेम प्रयाग) के शुरू में राजा लक्ष्मणसिंह का 'जनन चरित' १९०८।

गमयक ॥ राजा लक्ष्मणमिह । राजा साहब के इस अनुवाद ने हिन्दी का एक सुन्दर नमूना प्रस्तुत कर दिया । यह ऐसी हिन्दी थी जो पढ़ने और समझने में सरल, मुहावरेदार और भाव संपन्न वस्तु की ठीक-ठीक व्यंजना करने में समर्थ थी और साथ ही, परम्परागत साहित्य के कुछ ऐसे रसिद्ध वाक्य लिए हुए थी जो चिन्तित जनता के मन में घर बन चुके थे । इस अनुवाद को अपने भाषा-सौष्ठव के कारण इंग्लैंड और फ्रांस में भी स्थापित प्राप्ति हुई जहाँ हिन्दी का कुछ अध्ययन होता था । इंग्लैंड के प्रसिद्ध हिन्दी प्रेमी पादरी फ्रेडरिक विनकाट साहब ने इस अनुवाद को इंग्लैंड में पुनः छपवाकर प्रकाशित किया ।

राजा साहब ने यह अनुवाद, पाँच श्लोक छोड़कर, सारा गद्य में किया था । इसके अनुवाद का वर्ष १८६८ में १८७६ तक भारत-दुःखिन्दु न रत्नावली प्रबोध चन्द्रान्तर्गत बंसीधर शर्मा, धनञ्जयविश्वय मुद्राराक्षस और कपूरभञ्जरी (प्राकृत सट्टक) के अनुवाद प्रकाशित किए । और भी कुछ अनुवाद प्रकाशित हुए । १८८६ ई० में राजा साहब ने अपने अनुवाद का सशोधित और परिष्कृत संस्करण प्रकाशित किया जिसमें उन्होंने मूल के अनुसार गद्य का स्थान पर गद्य और पद्य का स्थान पर पद्य किया । उनके इस संस्करण की और भी अधिक स्थापित हुई और वह आज तक पठन पाठन में चलता आता है ।

१८६१ साल अनुवाद के सम्बन्ध में राजा साहब ने दूसरे संस्करण की भूमिका में लिखा है कि 'उन दिनों इटावे में कोई पुस्तकालय न था इसलिए जो वही कुछ सदेह मूल का पाठ का अर्थ समझने में हुआ पुस्तक के अभाव में उसे दूर करना पड़ित क्या असाध्य हुआ गया । तिस पर भी दुर्भाग्यवश मूल की पुस्तक (हाथ की लिखी हुई) अति जीर्ण और अगुद मिली । वह पुस्तक उस पाठ की थी जो बगला पाठ कहलाता है और जिसे पठित लोग अगुद घतमाने हैं । ये सब दोष मैंने उत्पन्न करने समय नहीं जान, परन्तु कुछ दिन पीछे जबकि महाशय सर मानियर विलियम्स का छपवाया हुआ शकुन्तला का गुद पाठ दलन में आया । मूल के इन दोषों के कारण अनुवाद में बहुत जगह अगुद हो गया ।'

इस प्रथम अनुवाद में अनुवादक ने मूल नाटक की प्रस्तावना का अनुवाद नहीं किया था । पहले अंक में सारथी के वचन से वस्तु आरम्भ होती है । केवल पाँच श्लोकों छोड़कर और मारा अनुवाद गद्य में हुआ है । इससे पहले किसी नाटक का हिन्दी अनुवाद खोजी सोजी गद्य में नहीं हुआ था । इस प्रकार इस अनुवाद ने एक नई धारा का आरम्भ किया ।

यह अनुवाद इसाहाबाद विश्वविद्यालय की मद्रिक परीक्षा में अनेक वर्ष तक पाठ्य पुस्तक रहा ।

नाटक का नाम शकुन्तला नाटक रखा गया है, और प्रत्येक अंक के आरम्भ में अभिनय के स्थान का निर्देश 'स्थान—वन (प्रथम अंक) या 'स्थान—वन में तपस्विनी का आश्रम (तृतीय अंक) इस प्रकार किया गया है । यह निर्देश मूल नाटक में नहीं है और संस्कृत नाटक पद्धति में प्रचलित भी नहीं है ।

राजा साहब अनुवाद का जो आदेश लेकर बढ़े थे, उसकी घोषणा उन्होंने स्वयं

अपने इसी अनुवाद के गद्य पद्यमय संस्करण की भूमिका में इन दांदा में की थी

“यह नियम रखा गया है कि अनुवाद में मूल के आशय से कुछ ‘यूनायिक’ न हो जाए, अर्थात् मूल के अक्षरा के अर्थ न तो कुछ छूटने पाव और न बाहर से नया आशय लाया जाए।”

इसमें कुछ भी सन्देह नहीं कि राजा साहब ने अपने अनुवाद में इस प्रतिज्ञा को निभाने का यत्न किया है। एक दो उदाहरण देखिए—

मूल—

सरसिजमनुविद्ध गवलेनापि रम्य,
मलिनमपि हिमागोतदम लम्बी तनाति ।
इयमधिकमनोना बल्केनापि तवी,
किमिव हि मधुराणा मण्डन नावृत्तीनाम ॥

—श्रक ११७

अनुवाद—

कमल के फूल पर काई भी अच्छी लगती है और पूषणचंद्र में काली देवा भी खुलता है। ऐसे ही इस पद्मिनी का जग बबल पहरे से भी मनोहर दिखाई देता है। सरय है रूपवती का सभी सोहता है।

मूल के प्रत्येक वाक्य का जय पूरा तरह मुहावरण और सरस हिन्दी वाक्यों में रखा गया है और अपनी ओर से कोई नया अर्थ नहीं मिलाया गया। ‘तवी’ के लिए ‘पद्मिनी’ शब्द का प्रयोग आक्षेप रूपवती के लक्ष्य अर्थ में किया गया है, न कि ‘पद्मिनी’ के लक्षणा वाली नायिका के अर्थ में, यद्यपि वह दूसरा अर्थ भी यहाँ मूल से सगत है क्योंकि जबि न ‘सरसिज’ को ही नायिका का उपमान बनाया है।

मूल—

तव न जाने हृदय मम पुन कामो दिवापि रात्रिमपि ।
निधेन तपति बलीयस्त्वयि वत्तमनोरथायगाणि ॥

—श्रक ११३

इसका पद्य में ही अनुवाद हुआ है

तो मन की जानति नहीं, जहो मीत सुम दन ।

प मा मन का वरत है मन महा वचन ।

लख्यो तं न देह रन दिन बल नद वर ।

प्रेम तपावत दह तन मन अपना द चुकी ॥

कभी सरल भगी से ऐसी मार्मिक उक्ति का अनुवाद हुआ है !

यद्यपि वही-वही भाषा की सरलता, वाक्या की यूनायना, समाग और छन्द से विहीन रचना के कारण इस अनुवाद में ओज का अभाव अवश्य अनुभव होता है, फिर भी ऐसी प्रसंग बहुत थोड़े हैं। साथ ही यह भी ग्राह्य आवश्यक है कि उस समय यह रचना पढ़ने के लिए सुनिश्चित पाठक-वर्ग नहीं था। अल्पगिनित परन्तु हिन्दी और काव्य के प्रेमी पाठकों के लिए ही यह रचना थी। पद्य तो इस अनुवाद में पाद्य ही इलाका के

अनुवाद में है। इनमें से दो शताब्दी तीसरी अब में हैं जिनमें शाहजहाँ का राजा के नाम निम्ना मद्रास और उन्नीसवीं शताब्दी द्वारा दिया गया उत्तर है। यह तीन पाचवें अब के आरम्भ में हैं जिनमें मद्रास बसाया गया व स्तुतिगाना है और तीसरी शताब्दी हसनदिया या हसनवी का राजा को उत्तरना है।

उद्धरण की भूल

इन प्रश्नों में हिन्दी साहित्य व इतिहास में उद्धृत एक अवतरण व आगे मूल में रही भूल व मूलोपेक्षा की ओर ध्यान दीजिए। उद्धृत कहा जा चुका है कि यह अनुवाद हिन्दी व इतिहास की दृष्टि में बड़ा महत्वपूर्ण है। जिस समय १८६३ ई० में यह अनुवाद प्रकाशित हुआ था, उस समय विपुल हिन्दी का बाई अक्षांश साहित्यिक नमूना सामने नहीं था। इस अनुवाद व प्रकाशन से विपुल हिन्दी के रूप का एक नमूना पाठक और लेखक व समस्त प्रस्तुत हुआ और बाद में भारत-दुनिया उनका समकालीन लेखक हिन्दी के इस नमूने को मात्रवार व्यवस्था रूप देने हुए आगे बढ़े।

श्री रामचन्द्र गुप्त ने अपने 'हिन्दी साहित्य का इतिहास' में पृष्ठ ४४० पर १८६३ ई० वाला अनुवाद की भाषा की प्रशंसा करते हुए अनुवाद के निम्नलिखित उद्धरण दिया है

“अनुवाद—(होले प्रियवन्ता १) मही १ मैं भी इसी साध विचार में हूँ। अब हमें पूछनी। (प्रगट) महात्मा १ तुम्हारे मधुर वचन व विचारों में आकर मरा जी यह पूछने की चाहता है कि तुम किस राजवंश व भूषण हो और किस देश की प्रजा की विरह में व्याकुल छोड़ यहाँ पधार हो। क्या कारण है जिससे तुमने अपने कोमल गान का कठिन तपोवन में आकर पीड़ित किया है।

यन्तुन यह उद्धरण १८६३ ई० (१९१९ वि०) के अनुवाद का नहीं है, १८८९ ई० व संस्करण का है। १८६३ ई० व संस्करण में इस अनुवाद का यह रूप है

अनुवाद—(होले प्रियवन्ता मे) मही, मैं भी इसी साध विचार में हूँ। मेरे मन में छाता है कि इससे कुछ पूछूँ। (प्रगट) तुम्हारे मधुर वचन सुनकर मुझ भासती है कि तुम कोई राजकुमार हो, सा बही कौन से राजवंश व भूषण हो और कहाँ की प्रजा का विरह में व्याकुल छोड़ यहाँ पधार हो, क्या कारण है जिससे तुमने अपने कोमल गान का इस कठिन तपोवन में पीड़ित किया है।

काले टाइप में छापा गया प्रथम अनुवाद में है पर बाद के संस्करण में नहीं है। इस प्रथम अनुवाद व उद्धरण से स्पष्ट होता है कि जहाँ तक अनुवाद या संस्करण के हिन्दी भाषांतरण का प्रश्न है, यह प्रथम अनुवाद उतना भूतानुमायी नहीं बन पाया। अन्य अनेक स्थान पर भी यह बात स्पष्ट की जा सकती है।

वस्तुविभास में अंतर

पाचवें अब के आरम्भ में वस्तुविभास भूल में बहुत भिन्न हो गया है। मूल में यह विदूषक और राजा के वार्तालाप से आरम्भ होता है। उस समय राजा अपनी रानी

हसपत्निका का गाया हुआ एक गीत सुनता है जिसमें वह राजा को यह उलहना द रही है कि तुम अब मुझे भूल गए। राजा विदूषक को रानी के पास समझाने के लिए भेजता है। दूधर एकांत में राजा के मन में गीत सुनकर कुछ अकारण व्याकुलता पदा होती है। इतने में कचुकी आकर अपनी बद्धावस्था का उल्लेख करता है और राजा के पास जाकर कण्व के भेजे ऋषिया और स्त्रिया के आने का संदेश देता है। राजा के आदेश से कचुकी उनके सत्कार की व्यवस्था कराने चला जाता है और राजा प्रतीहारी वशवता के साथ यन्त्रालया की ओर चलता है जहाँ वह ऋषिया से मिलेगा। रास्ते में वह यह साच रहा था कि राजा का काम बड़ा दुःखदायी है। इतने में नेपथ्य से वतालिका ने राजा की प्रशंसा में दो श्लोक पढ़े। उनमें उत्साह अनुभव करता हुआ राजा यन्त्रालया में पहुँचता है और वहाँ ऋषिया से उनकी भेंट होती है।

प्रस्तुत अनुवाद में यह क्रम बड़ा भिन्न है। यहाँ आरम्भ में एक बड़ा द्वारपाल साम भरेता हुआ आया। वह पहले बद्धावस्था के बारे में और फिर राजा के सम्बन्ध में कहता है। बीच में बाहर से आया कि राजा से कहा कुछ आवश्यक काम है। इसके बाद वह राजा को देखता है और उसकी प्रशंसा करता है। यहाँ 'दुष्यंत और मादय कुछ सेवक समेत आए।' राजा अपने राजा हान की दुःखदशा की चर्चा कर रहा है कि 'दो दाढ़ी गाते हुए आए।' इससे बाद दुष्यंत और मादय की बातचीत होती है और द्वारपाल राजा को व्यस्त देखकर रात बहने से रोक जाता है। तभी हसमती का गीत सुनाई देता है, दुष्यंत मादय को रानी के पास भेजता है, द्वारपाल कण्व के भेजे ऋषिया के आने का संदेश देता है, राजा उन ऋषिया के सत्कार की व्यवस्था कराने भेज देता है और स्वयं कचुकी के साथ यन्त्रालया की ओर चलता है। इतने में द्वारपाल ऋषिया को लेकर यन्त्रालया पहुँचता है।

दोना वस्तुमा के विन्यास में कई अंतर हैं। एक तो मूल में जो काम कचुकी करना है यहाँ द्वारपाल कर रहा है, और जो काम वहाँ प्रतिहारी करती है वह कचुकी कर रहा है। दूसरे, अनुवाद में द्वारपाल सबसे पहले मंच पर आया है, जबकि मूल में अनुसार राजा और मादय पहले मंच पर आते हैं। तीसरे, मूल में वतालिका के गान के समय राजा अकेला है, जबकि अनुवाद में, उस समय वहाँ मादय सेवक और द्वारपाल हैं। चौथे, कचुकी के स्थान पर द्वारपाल रखने पर, फिर एक व अंत में, शकुंतला और ऋषिया से कहा मुनी के बाद दुष्यंत का यह वचन दिया है, 'द्वारपालिनी, इस समय भरा चित्त बहून व्याकुल हो रहा है। आतु मुझे उदरस्थान की ओर दया।' "द्वारपालिनी—मन्तराज, हम माग आये।"

यस्य असगनिया और वस्तुविन्यास के अंतर १८८ ई० के संस्करण में नहीं हैं। जमा कि राजा मादय ने दूसरे संस्करण की भूमिका में कहा था, ये असगनिया और अन्य अनेक अनुवाद-गम्व की अगुदिया भूत प्रति अगुद हाने के कारण हुई। परंतु किसी किसी स्थान पर अनुवाक की ओर से जोड़े हुए अंग भी मिलते हैं जैसे छठे अंक में राजा अपने पूज्य के विन्यास की चिन्ता करता हुआ कहता है, 'पुरुष का वग अब तक तो फला पत्नी और गुद रहा परन्तु अब मुझे प्राप्त होकर समाप्त हुआ, जैसे सरस्वती नदी ऐसे

भाग का हिंदी में और पद्य भाग का श्रवणभाषा में अनुवाद हुआ है।

आय-जग शब्द मूल नाटक में, विधान के अनुसार, प्रस्तावना में सूत्रधार नटी का 'आयें तथा नटी सूत्रधार को 'आय' कहती है। अनुवाद में 'आयें' की जगह 'अजी' तथा 'चतुरी' का प्रयोग हुआ है और 'आयपुत्र' के स्थान पर 'हाजी' तथा 'अजी' का प्रयोग किया गया है। वस्तुतः अनुवादक 'आयें' तथा 'आयपुत्र' शब्दों का प्रयोग करता तो अनुवाद में वृद्धिमान आ जाती। उसने हिन्दी बोलीभाषा समाज में प्रचलित 'अजी' शब्द का प्रयोग करके अपनी चतुराई प्रदर्शित की है। 'चतुरी' शब्द का प्रयोग भी उचित जगहों पर है—यह पति पत्नी के सम्भाषण में समाज में प्रचलित न हान पर भी नाटकीय वार्तालाप में बसा असंगत नहीं लगता।

दूसरी प्रकार नटी का हाजी तथा अजी शब्दों का प्रयोग बड़ा उचित हुआ है।

प्रथम अंक में सारथी राजा को कहती है कि संस्कृत नियमानुसार आयुष्मान और वही उमर के विपरीत महाराज पुकारता है। अनुवाद में 'आयुष्मान' का प्रयोग एक बार हुआ है और मूल में छह बार। आयुष्मान का प्रयोग सारथी के वद्वत्त्व का सूचक था। महाराज कहने में वक्ता और श्रोता का मूल सम्बन्ध कुछ बिगड़ हो जाता है।

राजा सारथी का सूत्र शब्द के याचक सारथी शब्द से पुकारता है।

वैमानसा न नायक को 'राजन' कहकर सम्बोधन किया था। उमर का अनुवाद 'राजा' तथा क्षत्रा शब्दों में किया गया है। राजन शब्द यहाँ सामिप्राय है, इसमें राज नात राजा का अर्थ ध्वनि होता है।

राहुतला जी उसकी बखिया परम्पर 'हला' मति तथा नाम लेकर सम्बाधन करती हैं। अनुवादक ने 'हला' के स्थान पर भी 'सखि' शब्द का प्रयोग किया है।

जनमूया दुष्यन्त का आय सम्बोधन करती है। इसका अनुवाद महात्मा किया गया है।

राजा प्रियवदा का अरे कहकर पुकारता है। अनुवादक ने यह शब्द छोड़ दिया है।

द्वितीय अंक में विदूषक राजा का 'वयस्य' कहकर पुकारता है। इसका अनुवाद 'मित्र' किया गया है।

राजा विदूषक का वयस्य, 'सख और मित्र' शब्दों से तथा नाम लेकर सम्बाधन करता है। इन शब्दों का अनुवाद 'मित्र' रखा गया है।

द्वारपाल राजा का भना करता है। अनुवाद में 'स्वामी' और प्रभु शब्दों का प्रयोग है। नाट्यविधान के अनुसार भता शब्द निचली श्रेणी के भत्या के और स्वामी शब्द ऊँची श्रेणी के भृत्या के प्रयोग के लिए नियत है।

सनापति राजा का स्वामी कहता है। अनुवाद में महाराज शब्द का प्रयोग है।

वरभक्त राजा के लिए 'मर्ता' कहता है। अनुवाद में 'देव' शब्द का प्रयोग हुआ है। 'देव' शब्द भी संस्कृत में ऊँची श्रेणी के भत्या के प्रयोग के लिए नियत है।

तृतीय अंक में जनमूया राजा का वयस्य कहकर सम्बाधन करता है। इसका

परंतु सातवें अंक में शकुंतला का राजा को 'महाराज' कहना हमारे विचार से कुछ सोभन नहीं हुआ। दुष्पत्त उसके सामन पति के रूप में उपस्थित है। यदि 'आयपुत्र' न रसकर इसकी जगह प्राणपति रख लिया जाता तो वह प्रसंगान्वित होता, पर 'महा' राज शब्द जा सत्ता और ऐश्वर्य के प्रसंग में या जय पाना के मुख से उचित होता, पत्नी के मुख से ठीक नहीं मालूम होना। मंच पृष्ठिए ता वह व्यंग्यात्मक लगता है।

फिर भी, कुल मिलाकर अनुवादक ने आम-जन शक्ति की मूल सामाजिक और वैयक्तिक भावना को पकड़कर उपयुक्त और सुबोध गद्य रखे हैं। दोनों में कहीं-कहीं जो असंगति है वह संस्कृतकालीन समाज की दृष्टि का चाह जितने महत्त्व की हो हिन्दीकालीन समाज की दृष्टि से विरोध महत्त्व की नहीं।

रमय्यजना

अनुवादक ने मूल रचना की छत्रिया का पूरी तरह अनुभव करके उनका भाषांतर किया है। भाषाशैली में कोमल शब्दों की अधिकता ने रस-योजना को गहरा बनाने में योग दिया है। शृंगार रस बड़ी सुकुमार रचना की अपेक्षा करता है। राजा साहब का यजना ग्रहण शब्दचयन और रचना शैली में तीनों उच्चकोटि के हैं जिसमें इनकी रचना में बड़ा मनाहर माधुर्य आ गया है।

इनकी रचना से तीन उदाहरण नीचे लिए जाने हैं—नुसना की सुविधा के लिए पहले उनका संस्कृत रूप दिया गया है।

शृंगार रस

शिक्षारिणी

मूल— चलापाग दृष्ट स्पृशति बद्धुगो वेपथुमती ।
रहस्याश्यायीव स्वनसि मृदु कणातिकचर ।
वर व्याधुवत्या पिबसि रतिसवस्वमधर ।
यय तत्त्वावेपामधुकर हतास्त्व एतु हृती ॥

—१ २०

सवया

अनुवाद— दूग चीकत कोए चल चहुँवा जग बारहि गार लगावत तू ।
लगि कानन भूजत मद कछू भना मम की बात सुनावत तू ।
वर रोजति को अचरामत स रति को मुखसार उठावत तू ।
हम सोचन जातिहि पाति भरे धनि र धनि भौर बहावत तू ॥

—१ २४

यहां पूनराग विप्रनय शृंगाररस है। बिना, विषाद और औत्सुक्य व्यभिचारी हैं। समागति के बल से, अर्थात् नायक के यत्रहार व समारोह से शृंगार रस की व्यजना है। प्रथम चरित्र का अनुवाद सुंदर हुआ है। आलम्बन की चरित्र और समारोहित नायक (आश्रय) का वर्णन यथावत् आया है। आलम्बन व मय तथा सात्त्विक भाव व सूचक 'वेपथुमती' शब्द का अनुवाद नहीं हो सका। यह अनुवाद की त्रुटि है जिसे 'यूनायता

अस्त उद सिसिरावत इनको । एक सग द्व तज महन का ॥

धीरज धम तजे नर नाह । निजनि मपति विपतिन माही ॥

यहाँ प्रथम वाक्य के अनुवादा में 'सिसिरज' का बहुवचन अविवक्षित है । दूसरे वाक्य में मूल चित्र यह है कि जागे जाग लाली और पीछे-पीछे उज्ज्वल मृगप्रभा दिखाई दे रही है । लाली और उज्ज्वल प्रभा का एक साथ फैलाव अरुणसहित कहकर प्रकट किया गया है । अरुण के जाग जाग चलने का अर्थ यहाँ न होने पर भी मूल चित्र की कोई विशेष क्षति नहीं हुई । तमवायक शब्द प्रकाश की चमक पर बल देता है । तीसरे वाक्य का अनुवाद करने हुए अनुवादक ने अंतिम पंक्ति का अर्थ अधिक स्पष्ट कर दिया है । 'धीरज धम० जानि म अनुवादक को मानस की चौपाइ के धीरा, धरम मित्र अह नारी । आपत काल परछिए चारा अश का ध्यान आ गया दीवता है । वस्तुन मपति म धीरज और धम विपत धीरज न छोडने के लिए कहने में कोई मायबता नहीं है । यहाँ हृष और गार्ग म न फसने से तात्पर्य था ।

कुल मिलाकर, अनुवाद मूल के प्रधान अर्थ के अनुरूप हुआ है ।

गुण

साधारणतया अनुवादक ने भाव और रस के अनुरूप पदावली का प्रयोग किया है, विशेषतः प्रसाद गुण की 'यजक' पदावली का । माधुर्य यजक तृतीय पंचम वर्गाक्षर समान के लिए ब्रजभाषा में कम गुणाइश है । उसकी कभी लघु और कोमल पदावली से पूरी की गई है ।

ऊपर रूपचित्रण में ११८ के अनुवाद में प्रसाद गुणव्यापक पदावलि का उदाहरण है ।

जाज्यजक पदावलि अनुवाद में मिलनी कठिन है । मूल में कहीं-कहीं आज्यजक पदावलि का प्रयोग हुआ है, जैसे वीर रस व्यजक ११ म । अनुवाद में वहाँ भी कोमल पदावलि प्रयुक्त हुई है ।

छंद

नाटक में रसव्यंजना मुख्य होती है और प्राण की लय और मात्रा रूप सामान्य तमो तानन्य चतुष्पाद छंद रस व्यंजना का सहायन होना है । गान्धर्वतल में पञ्चीत छंदों का प्रयोग हुआ है जिनमें सङ्घरा जम लड़े छन्द से लेकर गालिनी जग छाटे छंद तक शामिल हैं । कुल १६१ पद्या में आर्या (३३), अनुष्टुप और वगैरतिलका (प्रत्येक ३०) गान्धर्वविश्रीडित (२१) तथा वगैरस्य (१३) को प्रमुपता मिली है । आगे की सारणी में प्रत्येक अब में विभिन्न छन्दों की आवृत्ति दिखाई गई है ।

अनुवादक ने मुख्यतः दो छंदा, दोहा (१२४) और चौपाई (३१), का प्रयोग किया है। सबया (१३) का तीगुरा स्थान है। एक अनुष्टुप (५१८) का अनुवाद गद्य में है और तीन गद्यगीत हैं। इनके अतिरिक्त अथ पद्य दोहा, छप्पय, सबया, चौपाई, सोरठा, वृणलिया गिरनी (खिरिणी), कट्या और घाशरी इन नौ छंदा में रखे गए हैं। इनमें से बंवल गव छन्द गिरिणी, संस्कृत का है शेष सब हिन्दी के छंद हैं। नीचे दी हुई सारिणी स० = म प्रत्येक एक में विभिन्न छंदा की आवृत्ति दिखाई गई है।

सारणी २

अथ कुल छंद दोहा छप्पय सबया चौपाई सोरठा गेय कुंड० शिख दोहा कट गव घना													
पद्य प्रकार	गीत						रत्ना सो० रत्ना			सरा			(१०)
१ २०	६	१८	१	४	४	१	२	×	×	×	×	×	×
२ १८	८	८	×	३	३	१	×	१	×	×	×	×	×
३ २४	५	१७	×	२	×	३	×	×	२	२	×	×	×
४ २२	५	१०	×	०	८	२	×	×	१	×	×	×	×
५ ३१	७	०१	१	१	४	१	१	×	×	×	१	१	×
६ ३२	६	२६	×	१	०	२	×	×	१	×	×	×	१
७ ३४	४	२४	×	×	८	×	×	×	१	×	×	×	१
१२४ = १३ ३१ १० ३ १ ५ २ १ १ २													

अनुवाद में छंदा की मूल जमी विविधता न हान स दशक और पाठक को एक रसना अनुभव होती है और सम्पूर्ण नाटक में विद्यमान भावतरंग की अनुभूति निश्चित हो जाती है। परंतु अनुवादक के पक्ष में यह कहना आवश्यक है कि वह रामलाला के अनुकरण पर यह नाटक लाले गान की कल्पना कर रहा था। इसीलिए उसने तुलसी रामायण के लोक प्रिय छंदों दोहा और चौपाई, का इतना अधिक प्रयोग किया। वर भी मूल में जाया छन्द के सम्पत्तीय का उसके ही सदा दोहा छन्द में लाना उचित ही था। संस्कृत में बड़े छंदा का अनुवाद अनेक दोहों में किया गया है परंतु जही वही जार्या (२ =) का अनुवाद कुछ लिया जैसे बड़े छन्द में नी हुआ है। इसी प्रकार वसंततिलका (३१८) का अनुवाद गिरिणी में और गिरिणी (१२०, २१० ३६) वसंततिलका (१२३ २८), तथा मन्दागता (१२६) का अनुवाद सबया में हुआ है। जाया (१४) मूल में गद्यपद्य रूप में है और उसका अनुवाद भी गद्यपद्य के रूप में ही हुआ है। परंतु जार्या (१३) मूल में गद्यपद्य नहीं था—अनुवादक ने उसका भाग्यपद्य में अनुवाद किया है। अन्त में विद्यत १ गद्यपद्य नाटक की दृष्टि में गद्यपद्य होना साम्य नहीं है। अनुवादक ने इन तीन गद्यपद्य पर राग संवत्त करके इन्हें गद्यपद्य बनाया है।

को खड़ी बोली हिन्दी के गद्य का जनक कहना उचित होगा।

नाटका का अनुवाद करने के लिए अनुवादक में चार गुण अनिवार्य हैं १ मूल भाषा के साहित्य की समझता, २ अनुवाद भाषा की प्रकृति की परख और रचना का अभ्यास, ३ अनुवाद भाषा की साहित्यिक परम्परा में घनिष्ठ परिचय तथा ४ नाटकीय अभिभाषा का व्यावहारिक ज्ञान। भारत में ये चारों गुण प्रचुर मात्रा में दिखाई दते हैं।

जहाँ तर संस्कृत साहित्य की समझता का प्रश्न है उन्होंने इसका महारा अध्ययन किया था। संस्कृत नाटक के विधिविधान का भी सूक्ष्म अध्ययन करने उन्होंने किया था, जसा कि उनके नाटक नीपक निबन्ध से स्पष्ट होता है। भारत में ही रचनाओं में वही संस्कृत भाषा के ज्ञान की नुटियाँ अवश्य मिलती हैं पर इनका कारण असाधारणता और जलवाजी प्रतीत होता है। किन्तु इसमें उनकी साहित्यिक समझता की विशेष क्षमता नहीं होती।

हिन्दी भाषा का जमा महज स्वाभाविक प्रवाह इनकी रचनाओं में मिलता है उसमें पता चलता है कि हिन्दी भाषा की प्रकृति इनके आगे बिलकुल स्पष्ट थी। इनके अनुवादों में वही दृष्टिमान भाषा पदग्रहण या काष्ठत्व नहीं मिलता। अनुवाद पढ़ने पर मौलिक रचना पढ़ने का ज्ञान आता है। न तो मूल के संस्कृत शब्दों इनकी रचना का पश्चात्ताप बनाते दिखाने देते हैं और न गवार गलत उसकी शोभा बिगाड़ रहे हैं। इनके अनुवाद इसीलिए हिन्दी की साहित्यिक परम्परा का अखण्ड भाग बन गए हैं और वे अल्प भाषा से अनूदिन रचना नहीं लगते।

गद्य-लेखन और विनोद पद्य रचना का इनका अभ्यास बहुत उच्चकोटि का था। इनके पद्य श्रष्ट मध्यकालीन कवियों के रचना-नपुण्य की बराबरी में रखे जा सकते हैं। श्रष्टिमान तुका दूराव्यदाप और कठिन अप्रचलित या तोड़े मरोड़े शब्दों का इनका रचना में प्रायः अभाव है। इनकी कहने की शैली की सरलता और स्वाभाविकता रचना का विशेष आकर्षक बनाती हैं। दोहा मक्या आदि हिन्दी में प्रचलित छंदों का साथ साथ इन्होंने अल्प नय प्रसंगाचित छंदों का भी कुशलता और विवेक से प्रयोग किया है।

भारत में ही सबसे बड़ी विनोदता और देन इनका नाट्यवाच है। सच पूछिए तो भारत में जितने अच्छे कवि थे उतने ही अच्छे नाटकमय भी थे। इन्होंने नाटका के ही अनुवाद किए। इन अनुवादों की मौलिक नाटक का रूप देने के लिए इन्होंने अनुवाद में भी कुछ स्वतंत्रता में काम लिया, पर सबसे बड़ी बात यह कि सरल भाषा शैली, नाट्योचित मक्या रमानुबल छंद और प्रयोगयोगी शीता की योजना करके इन्होंने अनूदिन नाटक को बिलकुल मौलिक नाटक के रूप में प्रस्तुत किया। इनके लिए संस्कृत नाटका का अनुवाद अपन संस्कृत साहित्य के ज्ञान का प्रदत्त मात्र न था। इनका मुख्य लक्ष्य हिन्दी में नाटक रचनाएं प्रस्तुत करना था। इसके लिए इन्होंने जहाँ एक ओर मौलिक नाटक लिखे, वहाँ दूसरी ओर संस्कृत और बंगला से अनुवाद करने का हिन्दी भाषी समाज का समयोगयोगी और सुंदर नाटक भेंट किए। अपने नाटक प्रेम के ही कारण इन्होंने संस्कृत चडवीणिक के आधार पर, उसका आधुनिक और छोड़कर, एक नय 'गद्यहिन्दु' नाटक की रचना की, जिसका अभिनय बहुत लोकप्रिय हुआ।

उममा वत्तात् हम लोगा न बहुत लोगा के मुह से सुना हूँ पर अब तक उसकी सीला नहीं देखी ।'

पद्यभाग ब्रजभाषा में है । ब्रजभाषा ही उस समय कविता की भाषा थी । प्रतीत होता है कि राजा लक्ष्मणसिंह के शानुसल व अनुवाद का देखकर, जिसकी भारत-दु ने बड़ी प्रशंसा की है, उनके नाटक प्रेमी हृदय में यह बात उठी होगी कि पद्य का अनुवाद पद्य में करने पर ही नाटकीय सौंदर्य की रक्षा हो सकती है । पद्य में उस समय तक खड़ी बोली का चलन नहीं था, इसलिए उन्होंने मूल के पद्या का अनुवाद ब्रजभाषा में पद्या में किया ।

मूल का भाषांतर करते हुए भारतेन्दु ने मूल के सम्पूर्ण अर्थ का यथावत रखने का पूरा यत्न किया है । एक उदाहरण देखिए—

ह्रीपादयस्मादपि मध्यादपि जलनिधेदिशोप्यतात ।
आनीय भटिति घटयति विधिरभिमतमभिमुखीभूत ॥

—रत्नावली १६

इसका अनुवाद यह है

जा विधिना अनुकूल सा दीपन सा सब लाय ।

सागर मधि दिग अल सा सुरतहि देत मिलाय ॥

परन्तु अनुवाद में कहीं कहीं असावधानी भी नज़ाई देती है जैसे सूत्रधार का नटी से यह कथन नेपथ्य गृह्यता अनुवाद में नेपथ्य के मंत्र साजा को सभाला हो गया है—मूल का अर्थ था नाटक के लिए पात्रोचित वस्त्र धारण करो ।' इसी प्रकार प्रस्तावना के बाद योगधरायण का दूसरा वाक्य आठ पक्तियाँ में है । अभिनय की दृष्टि से इतना लम्बा वाक्य प्रशस्नीय नहीं कहा जा सकता ।

इस अनुवाद की भाषा की मृगतता का उल्लेख ऊपर हो चुका है । इसमें कहीं कहीं 'आद्या' जैसे पुराने प्रयोग होने पर भी, भाषा का यही रूप परिभाषित माना गया और पहले हिंदी गद्य में तथा पीछे पद्य में भी स्वीकृत हुआ ।

संक्षेप में, भारतेन्दु का यह अनुवाद अनुवाद का अपेक्षा, भाषा की दृष्टि से कहीं अधिक महत्त्वपूर्ण है । इसमें राजा लक्ष्मणसिंह वाली भाषा गंभीर और वाक्यों का परिभाषित रूप सामने आता है, जो शब्द में मंत्राजपनाया गया । इसमें अरबी फारसी शब्दों का प्रयोग नहीं है, परन्तु म्यानवद्ध दगाज घाट के स्थान पर तरतम घाट का प्रयोग है । ऐसे तरतम शब्दों का ही प्रयोग किया गया है जो पद्य लिखते समय गिफ्ट वानचीन में घटते थे और भाषा को पठितान्न नहीं बना दिया गया है । नाटक के चुनाव की दृष्टि में भी भारतेन्दु ने राजा शास्त्र की तरह संस्कृत व एक स्पष्ट नाटक का ही हाथ लगाया । यद्यपि इसकी प्रामाणिक पूर्ण प्रति उपलब्ध नहीं होती, पर जो अंग प्राप्त है उसमें यह स्पष्ट हो जाता है कि भारतेन्दु ने कभी भाषा पसंदी जो सबने लिए अनुकरणयोग्य नहीं ।

पामंडविडम्पन (१८७२)

यह रचना संस्कृत प्रभाव चन्द्रोदय व तन्माय अर्थ का अनुवाद है । 'प्रबोधचन्द्रा-

उमका वत्तात हम सांगा न बहुत सांगो के मुह से सुना ह पर अब तक उमकी लीला नहीं देखी ।

पद्यभाग ब्रजभाषा में है । ब्रजभाषा ही उस समय कविता की भाषा थी । प्रतीत होता है कि राजा लक्ष्मणसिंह के शाकुन्तल के अनुवाद का देखकर, जिसकी भारतेन्दु ने बड़ी प्रशंसा की है उनका नाटक प्रेमी हृदय में यह बात उठी होगी कि पद्य का अनुवाद पद्य में करने पर ही नाटकीय सौन्दर्य की रक्षा हो सकती है । पद्य में उस समय तक खड़ी बोली का चलन नहीं था, इसलिए उन्होंने मूल के पद्या का अनुवाद ब्रजभाषा के पद्या में किया ।

मूल का भाषांतर करते हुए भारतेन्दु ने मूल के सम्पूर्ण अर्थ का यथावत रंगने का पूरा यत्न किया है । एक उदाहरण दलिए—

द्वीपाद्यस्मादपि मध्यादपि जलनिर्घेदिक्षोप्यतात ।

आनीय भटिति घटयति विधिर्भिमत्तमभिमुदीभूत ॥

—रत्नावली, १ ६

इसका अनुवाद यह है

जा विधिना अनुकूल तां दीपन सा सब साथ ।

सागर मधि दिग जत सा तुरतहि देत मिसाय ॥

परन्तु अनुवाद में कहीं कहीं अभावधानी भी लिखाई देती है जस सूत्रधार का मटी में यह कथन नेपथ्य गह्यता अनुवाद में नेपथ्य का सब सात्ता को सभासा हो गया है—मूल का अर्थ था 'नाटक के लिए पानोचित वप धारण करो' । इसी प्रकार प्रस्तावना के बाद योगधरायण का दूसरा वाक्य आठ पक्तियां में है । अभिनय की दृष्टि से इतना लम्बा वाक्य प्रशंसनीय नहीं कहा जा सकता ।

इस अनुवाद की भाषा की सगुणता का उल्लेख ऊपर हो चुका है । इसमें कहीं कहीं आइया' जैसे पुराने प्रयोग होने पर भी भाषा का यही रूप परिभाषित माना गया, और पहले हिन्दी गद्य में तथा पीछे पद्य में भी स्वीकृत हुआ ।

संक्षेप में भारतेन्दु का यह अनुवाद अनुवाक की अपेक्षा, भाषा की दृष्टि से कहीं अधिक महत्त्वपूर्ण है । इसमें राजा लक्ष्मणसिंह वाली भाषा गली और वाक्या का परिभाषित रूप सामने आता है जो बाद में सबन अपनाया गया । इसमें भरद्वी फारसी गदा का प्रयोग नहीं है परन्तु स्थानबद्ध देश-भाषा के स्थान पर तत्सम गद्या का प्रयोग है । ऐसे तत्सम गद्या का इस प्रयोग किया गया है जो पढ़े लिखे लोग सिष्ट वातचीत में बरतते थे और भाषा को पड़िताऊ नहीं बनन दिया गया है । नाटक के चुनाव की दृष्टि से भी भारतेन्दु ने राजा साहब की तरह संस्कृत का एक श्रेष्ठ नाटक का ही हाथ लगाया । यद्यपि दशकी प्रामाणिक पूज्य प्रति उपलब्ध नहीं होती पर जा जा प्राप्त है उससे यह स्पष्ट हो जाता है कि भारतेन्दु ने कसी भाषा चलाई जो सबके लिए अनुकरणयोग्य बनी ।

पासडविडम्बन (१८७२)

यह रचना संस्कृत प्रबोध चन्द्रोदय के तृतीय अंक का अनुवाद है । प्रबोधचन्द्रो

दम' के मान पत्रों अनुवादा का पूरा भारत दुबान म विवरण दिया जा चुका है। यहा इस मूल्य नाट्य के अनुवाद की मूल प्रणाली धारित रही थी। भारत-दु ने मार नाट्य का अनुवाद करके मगर मकर मीमर के का अनुवाद किया है। यैमे ता इस मूल नाट्य म विष्णुभक्ति की स्थापना की गई है इसलिए भारते-दु जैम भवत रक्षण म लिए मारे नाट्य का अनुवाद करना ही उचित माना। ऐसा करके तेचन तीमरे के का अनुवाद करने म यह प्रतीत माना है कि इसका अनुवाद की मूल प्रणाली सामाजिक थी।

आधुनिक काल के प्रचार का ता यह युग था ही। आधुनिक काल के सहायक महर्षि रामानन्द के जीवन चरित्र म यह प्रमाण आता है कि उन्होंने १८६७ ई० म बुद्ध मेल पर हरिद्वार म एक 'पाण्डु ग्रन्थिना पतारा गाढकर अपना प्रचार किया था। महर्षि का प्रसिद्ध रचना गायकप्रसाद के ११वें सम्मेलन म भारत म प्रचलित अनक सम्प्रदाय और मनमन्त्रालय के पाण्डु का गहन विचार है। 'प्रबोधचन्द्रोदय' के तीसरे अंश म भी विभिन्न मतों के पाण्डु अपना चाहती का की प्रकृति दियाई गई हैं। सामाजिक सुधार के उद्देश्य म भर उत युग म समाज पर छाए हुए धार्मिक पाण्डु का उपहास करना भारत-दु का उचित और आवश्यक ज्ञात माना। इन रचना के सम्बन्ध 'पाण्डु विद्वान' म भी यही ध्वनि निवर्तता है।

परन्तु भारत-दु के भाग्य मत की किसी मत का गहन या निष्ठा करना पात्र न था। इसलिए उन्होंने भूमिका रूप म एक मध्यम लिखकर यह स्पष्ट किया कि "महर्षि का मत करना कि मैं किसी मत की निष्ठा के लिये यह अनुवाद किया है। क्याकि मर गुहांग है, इस माने ता मनी अच्छा है, और तुमसे किसी म सम्बन्ध नहीं, इस माने मनी बुरे हैं।' उनका अभिप्राय यह प्रतीत होता है कि ईश्वर का विभिन्न रूपों म मानना बुरा नहीं, परन्तु केवल ऊपर दिखाया माना और ईश्वर पर श्रद्धा का जीवन और जाचरण म न माना बुरा है और यह पाण्डु सभी धर्मों म प्रधान दिखाई देता है।

इस अर्थ की कथा मन्त्र मे यह है ज्ञानि अपनी मनी कथा के साथ अपनी माता श्रद्धा की खोज म घूम रहा है। मानने म एक दिग्गम्वर (जन) साधु की दयकर ज्ञानि कहती है कि यह महामोह का भेजा हुआ लिग्गम्वर मिद्वान्त है। इसी दिग्गम्वर मिद्वान्त का भा वेप बनाए यहा श्रद्धा आती है—श्रद्धा का यह रूप स्वयंकर ज्ञानि मूढ़ा स्वर पर आती है। कथा उस बनाती है कि 'पाण्डु' की भी तमोगुण की वही श्रद्धा है। यह ता तमोगुणी श्रद्धा है। इतने म भिक्षु के रूप म बुद्धागम (अर्थात् बौद्ध मत) आता है और उसके पास भी भिक्षु के रूप म तमोगुणी श्रद्धा आती है। ये दोनों पुरुष जो अनिष्टित ह आपस म बहस करने लगते हैं।

इसके बाद कापालिक वेप म सामसिद्धान्त आता है। जन और बौद्ध के साथ उसका साहचर्य विवाद माना है ता कापालिक मत म रहता है, "अर इनके चित्त म तनिक भी श्रद्धा नहीं है। रजोगुणी श्रद्धा का बुनाकर वह उस बौद्ध भिक्षु म आलिगन करने के लिए कहता है। भिक्षु उससे आलिगन से बड़ा सुख अनुभव करता है और कहता है कि मैंने आज तक कितनी ही मित्रों का गाढ आलिगन किया है, पर इतना सुख कभी नहीं मिला। इसके बाद यह कापालिक दिग्गम्वर (जन) साधु की आलिगन म लपेटती

है जिसपर प्रसन्न होकर वह कहता है 'अरी मुदरी, एक बार ता फेर गर सू लपटि जा ।' इसके बाद बौद्ध और दिगम्बर कापालिक के साथ कापालिकी का जूठी मदिरा पीकर मस्त होने हैं और चारा नाचने हैं। अनन्त दिगम्बर कुछ स्वस्थ होकर कहता है "हम सब महामोहक विवर है।" वह यह भी बताता है कि श्रद्धा अर्थात् सात्त्विकी श्रद्धा 'कृष्णभस्मि' के मग वह बमत साधुचित्त माहि' तथा धर्म भी कामनेव क डर मे भागकर साधुआ के चित्तो म ही रहने लगा है।

य चारा पावडी धर्म जोर श्रद्धा को पकड़ने चतत हैं जोर गाति तथा करणा यह समाचार देने के लिए विष्णुभक्ति के पाम खाना हाती हैं।

यह अनुवाद कई दृष्टियों से बड़ा महत्वपूर्ण है। इसका सामाजिक महत्त्व का उल्लेख ऊपर हो चुका है। नाटक की दृष्टि से हमें भारतेन्दु ने प्रवृत्ति की ओर विशेष ध्यान दिया है। भरतमुनि ने नाट्यशास्त्र में आवृत्ती भागधी जादि कुछ प्रवृत्तिया बताई हैं जिनका अभिप्राय है दण पात्र जादि की लोक में दिखलाइ देनेवाली विगपताए। उदाहरण के लिए इसमें दिगम्बर की भाषा राजस्थानी रखी गई है और बौद्ध की भाषा तोतली रखी गई है। हमारे विचार में द्रुमस प्रथम का कारण यह है कि जन साधु राजस्थान में अधिक प्रबल थे। उनका स्वाभाविक रूप अभिनय में लाने के लिए यहाँ जन दिगम्बर की उन्नतिया का अनुवाद राजस्थानी में किया गया है। मूल में ये उन्नतिया प्राकृत में थी। बौद्ध भिक्षु की उन्नतिया तातली भाषा में रखने का प्रयोजन उस उपहास बनाना प्रतीत होता है। जागे राजसी श्रद्धा या कापालिकी के आतिथन से उसके रोमांचित होने आदि का प्रसंग शृंगार या शृंगाराभास का नहीं, हास्य रस का है। शृंगारानुसृतिहास्य में नाट्यशास्त्रकार ने ऐसे ही अनुकरण के लिए लिखा है—दक्षक के लिए वह प्रसंग हास्यकर ही है।

इस अनुवाद में एक और महत्वपूर्ण बात यह है कि बौद्ध भिक्षु सामान्यतया तातना बोलता हुआ भी पद्य में हिन्दी (ब्रज) का आश्रय लेता है। यह उसी प्रकार की माजना है जसी संस्कृत नाटका में उत्तम स्त्रियों की उन्नतिया के लिए की जाती है—वे सामान्यतया प्राकृत बोलते हुए भी प्रयोजनवशात् संस्कृत का आश्रय ले लेती हैं।

प्रवृत्ति के अनुरूप भाषा गलिया की यह योजना हिन्दी में लाना भारतेन्दुजी का अपनी मूर्ख है और इसका निवाह उन्होंने बड़ी सुंदर रीति से किया है। इस योजना का उद्देश्य वाचिक अभिनय का सर्वथा स्वाभाविक और लोचनानुसारी बनाना है। परंतु इसमें ध्यान देने की बात यह होती है कि जिन भाषा गलिया में संवादों का उन्नतिया कही जाए वे सब नाट्य के लक्ष्य का समर्थन न करें—यदि उन्नतिया का समर्थन न आना अभीष्ट न हो वदंतिका या पागलपन आदि सूचित करने के लिए, तो बात असंग है। परंतु जो लोग हिन्दी नाटका या उपपासा में अंग्रेजी का बाबू के चित्रण में लम्बे लम्बे अंग्रेजी वाक्य रख देते हैं और उनका हिन्दी अर्थ अभिनय के समय स्पष्ट करने का कोई उपाय नहीं हाता वे नाट्यशास्त्र के प्रवृत्ति नामक नाटकीय तत्त्व का अर्थ बहुत गलत समझते हैं। इस योजना की साधकता और सौलभ्य तब ही है जब दण्ड की समर्थन में आने वाली और पात्रों की दण्डालादिगत प्रवृत्ति को प्रदर्शित करनेवाली यह भाषा गलिया

प्रयोग में आए।

अनुवाद करते हुए भारत-दु न द्वारा न सम्पूर्ण अर्थ को सारर उस अपन गता।
मे इस प्रकार रता है कि यह मौलिक रचना मान्यता प्राप्त है। उदाहरण के लिए
मूल—

भिन्नु—आवागता तयन मनोऽन्मनिप्रायानुष्ठा वणि-
नायी वादिनकागमिष्मन्तान गता मन्त्रगन्तरा ।
धृद्धापुत्रमुतागिना ययनिभि वयप्यागतागव
कीटागन्तराति विनगन्तागन्तीगवता रायव ॥

—धृष्ट २५

द्वारा अनुवाद दिया—बोड़ भिन्नु (तापनी भाषा में)

तहन को मिला घन छुट्टा अनु भागनवा मिनी छुट्टा नायी ।
तन्नु तावन नाजन को मिला, छन के छन छन छन छन ।
कै छनवा जुजती छन अगन साजात तन पुणन छनली ।
द गल म बद्धा छन छन इमि वातर है नित रात उजारी ॥

यद्यपि अनुवाद में भारत-दु न वैसी ही सरन और मुताबिकार गद्या जाती का
प्रयोग किया है जरा न्यायली में थी और जनक स्वप्ना पर मूल का अर्थ सारर स्वतन्त्र
रूप से रचना की है। उदाहरण के लिए

वदना—गा, इधर दग यट शरीर में कीचड़ लगाकर अपने को मैना-बुल्ला
बनाए नोच-नासाटे बाज नगा पिडगा गाछे मत दात भाड़ी भयवनी मूरत रागम की
मूल हाथ में काहु का एक मारछन लिए इधरी बना जाता है।

इसका मस्तुत रूप यह है

‘तनि, परय पदय । य एय गनमलपिच्छिनबीमस्तदु प्रेदयन्हृच्छवि ।

उन्मुञ्चितरिबुरमुस्तवमनन्तान गिनिगितण्डपिच्छिराहस्त इत एवाभिवतत ॥

—श्लोक ४ के का-

अनुवाद की सरसता बनाए रखने में छाना की विविधता भी सहायक हुई है।
विविध छाना का प्रयोग करते हुए अनुवादक ने यह यत्न किया है कि एक ही छाना साध-
नायक न आ सके। इससे रचना में मौलिकता में वृद्धि हुई है और एकरसता नहीं आने पाई
है। छाना में ओचित्य का भी ध्यान रखा गया है। बापाविक के कथन का ओजस्रजक
अग्निर्वा (चार गण १), और भुजगप्रयाग (चार गण २) में अनुवाद हुआ है और
दिगम्बर के धमनिरूपण में दोहरे का प्रयोग हुआ है।

मूल अर्थ का ठीक ठीक समझन की दृष्टि में देखें तो भारत-दु के लिए मस्तुत
ताका के अनुवाद में बहुत स्थान पर दुबलता दिखाई देती है। जनक अनुवाद वाक्य
प्रसंग में अमम्बद्ध और अगुड हैं। पाप-विडवन में भी ऐसे अनेक स्थल हैं जहाँ प्रसंग में
अचित्त नहीं होने बग़ावित सफ़्त भाषा के जय को ठीक नहीं समझा गया। उदाहरण के
लिए, जब के आरम्भ में चानि अपनी माता श्रद्धा का याजती हुई यह आका प्रकट
करती है कि वह जावित नहीं है। फिर इसे निश्चयात्मक रूप में कहती है—अधनाल

जीवितसंभावना, अर्थात् श्रद्धा के जीवित होने की संभावना नहीं। इसका अनुवाद हुआ है—“जब मैं जी के क्या करूँगी?” इसका दो-तीन वाक्य बाद वह अपनी मछी से कहती है—तत्सखि करणें, मदथ चिन्तामारचय—हे सखि करणें, भरे लिए चिन्ता बना दे। इस वाक्य का अनुवाद उस प्रकार हुआ है ‘मेरा सोच मत कर। प्रतीत होता है कि मदथ चिन्ता मारचय जैसा अशुद्ध वाक्य मूल मानकर अनुवाद कर डाला गया है। इस प्रकार की जगृद्धियों का एक कारण यह हो सकता है कि संस्कृत की मूल प्रति अच्छी न हो। पर इस संभावित कारण से अनुवाद में विद्यमान अन्य दसियों अशुद्धियाँ का समाधान नहीं हो सकता।

अनुवाक्य में एक और त्रुटि यह है कि अनेक स्थलों पर मूल का वाक्य अथ अनुवाद में पूरा नहीं आया। उदाहरण के लिए मूल मन्त्रोक्त मर्या ८ (सर्वेक्षण क्षयिण०) में बौद्ध धर्म का क्षणिकत्व आदि सिद्धांत विस्तार से वर्णित था। अनुवाद में उसका बड़ा ही अस्पष्ट रूप आया है। ‘पुपाससमुच्छेद’ कारण म कापालिक धर्म के सिद्धांत का जो उल्लेख था, यह ‘इन दोनों का पशुत्व अब भी रहा गया’ में स्पष्ट नहीं होता। यह ‘भिन्नावधारण’ दोष है। इसी प्रकार जहाँ मुराया सौंदर्यम का भाषांतर बद्धी छुदल अधिया है ठीक नहीं प्रतीत होता। सुंदर मुरा सारा या स्वत अथात पानी की तरह नीरग गही जा सकती है दूबिया यानी दूध करण की नहीं।

परन्तु कुल मिलाकर, भारतेन्दु का अनुवाद मूल नाटक खड का पूरा रस देता है। निम्बर् की प्रगति-सूचक, तथा भिक्षु की हास्य-खनक वचन शैली में रचना में इतनी स्वाभाविकता और सजीवता आ गई है कि भाषांतरण के ये दोष दब गए हैं और पाठक पर रचना का अपेक्षित प्रभाव पूरी तरह पड़ता है।

धनजय-विजय (१८७३)

संस्कृत के ‘धनजय विजय’ त्रायोग का रचनाकाल सदिग्ध है। प्रस्तावना के अनुसार इसके लेखक काञ्चनाचार्य थे, जाप्रसिद्ध ‘वात्सीयन अथानिशास्त्राय महारथी तारायण उपाध्याय के पुत्र थे। इनका कुल कविमुनि का कुल कहलाता था। भारतेन्दु ने मर्या १५३७ कि० की एक हस्तलिखित प्रति का उल्लेख किया है, जिसमें यह पता चलता है कि काञ्चनाचार्य १५वीं शती ईस्वी में हो चुके थे।

श्री प्रजरत्ननाम ने लिखा है कि भारतेन्दु के हिन्दी अनुवाद से पहले इस त्रायोग का एक अनुवाद प० छन्नूलाल ने कश्मीर के महाराजा रणवीरसिंह के आदेश से किया था। यह अनुवाद स० १८३२ में लीखो में प्रकाशित हुआ जिसमें मूल पद्यानुवाद तथा गद्यरचन आदि सभी सम्मिलित हैं। इसकी भाषा अत्यन्त भ्रष्ट तथा पद्य निर्धिल है। स्वात अनुवाद के कारण कुछ मूल की शान्ति का दायकर ही भारतेन्दुजी ने इसका दूसरा अनुवाद तयार किया होगा।

—भारतेन्दु नाटकावली, भाग १, द्वितीय संस्करण, भूमिका पृष्ठ २६

भारतेन्दु का अनुवाद पढ़ने पहले ‘हरिद्वन्द्व मैगडोन’ में सन् १८७३ ई० में प्रकाशित हुआ था।

इस व्यायोग का इतिवृत्त महाभारत के विराटपर्व से लिया गया है। जुए में हार जान पर पांडवा को वारह वर्ष वन में रहना था और एक वर्ष अज्ञानवाम करना था। अज्ञानवाम में वे मत्स्य देश के राजा विराट के यहां रहे। वहां विराट के साल काचक ने द्रौपदी में दुन्यवहार करना चाहा, जिस पर भीम ने उस जघेर में मार डाला। इस पर त्रिगतराज सुसर्मा ने मत्स्यराज्य पर आक्रमण किया जिसके मुकाबले के लिए राजा विराट सैन्य लेकर आये बढ़े। राजधानी में सैनिक शक्ति का अभाव देखकर कौरवा ने दूमरी ओर से आक्रमण कर दिया और राजा विराट की सहायता हथार गीए अगाकर ले गए। उस समय राजधानी में केवल विराट का पुत्र कुमार उत्तर था। अतः अजुन ने उत्तर का सारथी बनाकर कौरवा को हराया और विराट की गीए वापस ली। राजा विराट ने पांडवों का बड़ा सम्मान किया और अपनी पुत्री उत्तरा का विवाह अभिमन्यु से करने का प्रस्ताव रखा जिस अजुन ने सह्य स्वीकार कर लिया। मूल कथा महाभारत के विराटपर्व में यहूत्तर अध्यायों में वर्णित है।

यह रचना व्यायोग है। व्यायोग रूपक के उस भेद को कहते हैं जिसमें स्त्रीपात्र नहीं होते, कथावस्तु ऐतिहासिक होती है, युद्ध का निदान होना है, एक दिन की कथा होती है और नायक कोई अवतार या वीर होना है। 'धनजय विजय' पर ये सब बातें लागू होती हैं।

इस व्यायोग के अनुवाद में भारत-दु के अन्य अनुवादों से एक विंगपता है— इसमें मूल का अर्थ समझने की गलतियां नए और अनुवादों की अपेक्षा बहुत कम हैं।

व्यायोग के इतिवृत्त में महाभारत की कथावस्तु में कुछ अंतर है। महा पढ़ने नायक (अजुन) और अमात्य की बातचीत होती है जिससे पता चलता है कि अमात्य को अजुन के अर्जुन होने का पता है और वह विराटनगर से ही योद्धा बनकर निकला है, तथा कुमार उत्तर उसका सारथी बनकर चला है। महाभारत की कथा में अजुन बहन्लता के रूप में कुमार उत्तर का सारथी बनकर जाता है उनपर कौरव सेना को दस्त-बार पहरा जाता है और भागने लगता है। तब बहन्लता अपना सच्चा परिचय देकर उसके साथ जाकर अपने गादीय धनुष आदि शस्त्रास्त्र लाता है।

व्यायोग के इतिवृत्त में, इसके बाद अजुन और उत्तर युद्धभूमि की ओर पहुंचते हैं, जहां अजुन कौरव पक्ष के योद्धाओं का परिचय उत्तर को देता है, क्योंकि सारथी को परपक्ष के योद्धाओं का परिचय होना चाहिए। इस समय देवराज इंद्र और उनके साथ विद्याधर तथा प्रतीहारी मंच पर आते हैं जो सम्भवतः दिखाई नहीं दते—केवल उनकी बातचीत दशका का मुनाई पढ़ती है या मंच के निछले भाग पर आते हैं जो अलग है और दशको को दसते हैं। इसके बाद रथ पर बठा दुर्योधन आता है। अजुन के साथ उसकी कुछ गरमागम बातचीत होती है और वे दोनों मुझ करने के लिए समतल भूमि पर जाने की इच्छा से मंच से चले जाते हैं। इसके बाद इंद्र आदि मंच पर रह जाते हैं और दिखाई दते हैं। अब अजुन के रणनीति का मारा वणन विद्याधर और प्रतीहारी इंद्र को मुनाई रहते हैं। यह वणन वीररथ का व्यंजन है। कौरवों ने पराजित हो जान पर फिर अजुन और उत्तर मंच पर जाते हैं और इंद्र चला जाता है (विद्याधर तथा प्रतीहारी के बाहर

जाने का उत्सख नहीं है) । इसके बाद युधिष्ठिर और अथ पाण्डव तथा राजा विराट का परिवार जात हैं । ये लोग अजुन की सफलता पर हृष प्रकट करन है और उत्तरा के विवाह की बात निश्चित की जाती है ।

इस इतिवत्त म बीज है गोरक्षण, क्षनुमानभग जादि जिसका कथन प्रस्तावना क थाद पहले दनोक म अजुन करता है । इसी बीज का फल अत म मिलता है ।

अनुवादक ने अपने समर्पण म लिखा है 'प्यारे ! निम्नय इस गय स तुम बडे प्रसन्न होगे, क्योंकि अच्छे लाग अपनी कीर्ति स बढकर अपन जान की कीर्ति स सन्तुष्ट होते हैं ।' इससे प्रतीत हाता है कि इसका अनुवाद करने म भक्त भारत-दु क मन म यह विचार था कि भगवान् जिनके मिन है, उस अजुन की वीरता की गाथा का अनुवाद भगवान् की सेवा ही होगी ।

मूल म नादी के दो श्लोक हैं और तीसरा मगलाचरण है । इनम से पहला विष्णु के वाराहावतार की प्रशंसा मे है और दूसरा चडिका देवी की प्रशंसा म । अनुवाद मे पहला श्लोक ज्या का त्या सस्कृत म रख दिया गया है और अगल दा श्लोक छोड दिए गए है । मूल के प्रथम दो नाट्य श्लोकों म कायाय सूचन किया गया था । वाराहावतार अजुन दष्टा-दंड गाडीव और पृथ्वी गौजा की सूचक है पृथ्वी का उद्धार गोरक्षण का सूचक है । दूसरे श्लोक म चडिकापद प्रचड अजुन का महिपासुरवरी कौरवों का और मलराशु तीव्र बाणा का सूचक है । स्पष्ट है कि नादी के श्लोक दशका के हृदय की वीररत्नोपयोगीधाता धरण म लाने म सहायक हैं । उनका अनुवाद न हाने से अनुवाद की क्षति हुई है । परन्तु सम्भव है १२३७ बि० घाली जा प्रति भारत-दु के पास थी उसम ये श्लोक न रहे हा ।

भरतवाक्य म मूल म दो श्लोक हैं । अनुवादक न उनका अनुवाद नहीं किया । उनमे अपनी जोर म भरतवाक्य रखा है, जो देश की अनुवाद कालीन परिस्थिति पर लागू होता है और इसके बाद मूल का दा म से एक श्लोक सस्कृत म दिया है । नय भरतवाक्य की पाचवी पक्ति क वार म एक मनारजक बात यह है कि इसम तो कवि न लिता है बजरी ठुमरिन सा मोरि मुख सत कविता सब कोउ बहै पर नादी के बाद सूत्रधार के पद्यन के दो पद्या पर रागसक्त करत हुए पहल पर भरव और दूसर पर 'भरव या ठुमरी निजा है । अपन भरतवाक्य म भारत दु ने यह कामना की है

राजवग मद छोडि निपुन विद्या म होई ।

जालम मूरसताति तज भारत मब कोई ॥

मदितमन पर टुति लखि क मतिदाय लगारवें ।

छुट राजकर मघ सम प जल बरसावें ॥

बजरी ठुमरिन सा मोरि मुख सत कविता सब बाउ बहै ।

हिय मागवती सम गुप्त हरि प्रेम धार नितहा बहै ॥

दंग की उन्नत और विद्या-मम्पन तथा इश्वर भक्ति स पूण देखन की व्याकुलता भारतन्दु के दम भरतवाक्य स स्पष्ट प्रकट होती है । यही व्याकुलता उनकी अथ रचनाभा म व्यक्त हायी है ।

अनुवाद म मूल अथ की अन्वयण रखतेहुए उसे उतना ही व्यञ्जक बनाने की जार

अनुवादक ने विशेष ध्यान दिया है। उदाहरण दक्षिण—

गामें छुड़ाने के लिए प्रस्थान करने हुए गापालों का सम्बाधित करने अजुन बह रहा है

सिचन्त करणारसन हृदय यावन् वरसा अभी
मानुषागविनावन यमनिनो मुचन्ति हम्वारवान ।
माचन्त नहि यावदव शिखर पानु पयो नो मुवा
स्ताव गाव इहत्यवत भवता चेतोज्वर गाम्पतु ॥

—५० वि०, अंश ३६

अनुवादक ने लिखा है

जब सौ बछरा बन्ना करि नहि तू नहि खैहैं ।
जब सौ जननी बाट दगि नहि डबरहैं ।
जब सौ पय पीयन हिन नहि व्याकुल हवैहैं ।
तावे पहिलहि गाय जोति के हम ल एहैं ॥

यद्यपि 'जब सौ' का अनव्यय प्रयोग म पद्यगत अनव्ययत्व दोष है पर मूल का अर्थ पूरी तरह बड़े भरल मीघे गन्ना में रख दिया गया है।

इसी प्रकार, मूल की टक्कर का एक और सुन्दर रचना दक्षिण—

मूल—

तूण धण धनुग हाण समर धारदतस्त्वप्रणी
भौराज भृगुहादधिगता यस्त्राणि सगिष्य ।
श्रीणे नन्दय वीरवशितपति पुनस्तथा पातनी ।
सघत्ते ममगावि पुररिपो गिप्योऽयमास्तेजत ॥

—५० वि०, श्लोक ३४

अनुवाद—

बरन ! गहा धनु बग, जाहु रूप ! आगे घाड़ ।
द्रोन ! अम्भ भृगुनाथ-सह सत्र रहो चढ़ाई ॥
अदवत्तयामा ! नाज सब कुरूपनि का साधहु ।
दुरमुख ! दुस्सामन ! विवश ! निज व्यूहन बाधहु ॥
गगामुन सातनु-सनय वर भीष्म काय सा धनु गहत ।
सति गिवगिगित रिपु सामुहैं तानि वान छावो चहत ॥

इसमें की चौथी और छठी पंक्ति मूल में नहीं है, पर प्रसंग के अनुकूल हैं। यहाँ अधिवाचता दी गई है।

मन्वन् भाषान्तरण की मूर्खता इस अनुवाद में भी है पर वह बहुत अधिक नहीं है। इनमें से कुछ मूर्खता या तो प्रमादवश और या मूल प्रति के दोष के कारण हैं। प्रस्तावना में पारिपाश्विक के निष्क्रमण के बाद मूल में लिखा है, "सूत्रधार—(प्राचीनवत्तावप स्मिता)। अनुवाद में है, '(पश्चिम की ओर दक्षिण)।

इसी प्रकार, अजुन और दुर्योधन का सामना हान पर दुर्योधन ने अजुन से कहा

कि वना वनवास की परमाणिमा के कारण तुझे अपने जीवन से वराम हो गया है जो इतना जोड़ावा में अकेला लान निकल पड़ा है। अर्जुन ने करारा उत्तर दत्त हुए कहा कि मैं न चेतते हो (इंद्र को ठा करनवाले) निवातम्बका का भस्म किया था अकेल ही चतुराज कृष्ण की बहन का चपहरा किया था, अर्जुन ही राजद्वार में था लाई थी। मेरे लिए यह कोई नई बात नहीं। इन पर दुर्षोदय बोला

यतनेतैरवहासै । उग्रस्थितो निष्कपयनाम सधाम ॥

अपान हमारा जडा न उठा। जब युद्ध बनीने बनकर आ पहुंचा है।

अनुवादक ने इसका यह अनुवाद किया है जब हमन का समय नहीं है क्योंकि यथावृद्ध धीर सधाम का समय है।

इस प्रकार की ललित्या कई स्थानों पर हुई हैं।

भारतभू की भाषा सरल सुस्त और व्यवस्थित है। मूल में अधिकतर पद्य होने के कारण इसभाषा की रचना अधिक है। उसने भारतेभू न अरन रचना कौशल का अच्छा परिचय दिया है।

छंद के प्रयोग में मूल के अनुसार विविधता और रसानुबूनता का ध्यान रखा गया है। आज्ञा पद्यों का सम्बन्ध वीररसान्नागे छंदों में अनुवाद हुआ है परन्तु आवश्यक-कालानुसार दोह का प्रयोग भी किया गया है।

मत्स्य में यह कहा जा सकता है कि धनपद विजय का अनुवाद रस और अभिप्राय का ध्यान रखकर किया गया है और भाषान्तरण का कुछ ललित्या होठे हुए भी वह मौलिक नाटक का सा आनन्द देता है। नया बड़ी आंठ हुई है और छंदों की विविधता के कारण अनुवाद में मोरमना नहीं आई है।

कपूरमजरी (१८७६ ई०)

यह कृतिका स० १६३३ वि० (१८७६ ई०) में हुआ था और कमरा चतुर्गुण ८ स० १६३३ स आरम्भ होकर कविचरन मुद्रा प्रकाश में छपा था। इसका पुस्तकाकार तृतीय संस्करण बनारस अथ यत्रानय स० १६३६ वि० में छपा था।

मूल कपूरमजरी की रचना महाकवि राजदेवराज की थी। इनका रचनाकाल ईसा की दसवीं शताब्दी के आरम्भ तक माना जाता है। ये यायावरगोत्रीय महाराष्ट्रीय क्षत्रिय थे। इनके पिता का नाम दुहक या दुहिक भत्री और दादा का नाम अकान्तसद था और भाजा का नाम गोवर्धनी था। इनके पूर्वजों में कई कवि हो गए हैं। ये सब भोज की मानत थे। इनका विवाह चहुनान बग की राजकन्या अवन्ति-मुन्दरी से हुआ था। कपूरमजरी की प्रस्तावना में लिखा है

चाहुआकुतनाचिनातिआ राजसेहृदइदेहिणी।

भक्तुगेहिइमवनिमुदरी सा पउवउनअमिन्दइ ॥

संस्कृत-छाया—

चाहुवानकुलमोलिमालिका राजगोखरकी द्रगहिनी ।

ननु इतिमर्चा तमुन्नी सा प्रयाजयितुमनदिच्छति ॥

महाकवि राजगोखर की अत्य उपलब्ध रचनाएँ बाल रामायण बालभारत (लपूण) नाटक और विद्याशालमजिका नाटिका हैं। बालरामायण नाटक में इन्होंने अपनी छद्म रचनाओं का उत्सव किया है। विद्याशालमजिका नाटिका इन्होंने त्रिपुरी नरग मूचराज देव के यूरवय वनचुरि के लिए लिखी थी। 'कपूरमजरी' में राजगोखर ने अपने आपको कायकुब्ज के प्रतिहार नरघ महद्रपाल का गुरु बताया है।

यह रचना नाटिका नामक उपरूप का एक भेद मट्टक है। भावप्रकाश के अनुसार

मय प्रवणकनापि विष्कम्भेण विना कृता ।

अङ्गस्यानीयवियस्तचतुजवनिना नरा ।

प्रकृष्टप्राहुनमयी सट्टक नामता भवत ॥

—अध्यात्मविकास

अर्थात् नाटिका में उक्त प्रवणक और विष्कम्भक नहीं होते, अर्थात् के स्थान पर जवनिकाएँ रखे जाते हैं। भाषांगी प्राकृत होता है, तब वह रचना सट्टक कहलाती है।

प्रतीय होता है कि सट्टक लिखने का उक्त समय विष्णु प्रचलन नहीं था। प्रस्तावना में स्वयं स्थापक यह प्रश्न करता है कि सट्टक क्या होता है (किं सट्टक)। उसके उत्तर में पारिपाश्विक स्मरण करने का अभिनय करते बताता है कश्चिद जेव छत्तहि (कपितमेव विष्णु) ।

सो मट्टमोलि भण्ड दूर जो गाडिआए अणुहरइ ।

किं उण पवम विषकभवाइ केवल ण दीसति ।

(तत्सट्टकमिति भण्यत दूर यो नाटिकाभिरनुहरति ।

किं पुन प्रवणकविष्कम्भकौ कस न दश्यत) ॥

प्राकृत में रचना करने पर राजगोखर का और भी मफाई देन की आवश्यकता अनुभव हुई है। स्थापक के इस प्रश्न पर कि कवि ने संस्कृत भाषा का छाटकर प्राकृत में रचना क्यों की, पारिपाश्विक ने जो उत्तर दिया वह साहित्य के क्षेत्र में कहावत बन गया है

अथविसना त चिज सद्दा त चेज परिणमता वि ।

उत्तिविमगा क्व भागा जा होइ ता होउ ॥

(अथनिवृत्तास्त एव दागस्त एव परिणमन्तोपि ।

उक्तिविषय काय, भाषा या भवति मा भवतु) ॥

राजगोखर ने आगे यह भी निष्ठा है कि संस्कृत भाषा का रचना कठोर होती है जबकि प्राकृत का सुकुमार होता है—इन दोनों में बड़ी अन्तर है, जो पुरुष जीर स्त्रा में।

कहने का अभिप्राय यह कि भारी रचना प्राकृत में करना एक नई चीज थी। इन प्राकृत रचना में रचना का भाव, कपूरमजरी, संस्कृत में है—इस शब्द का प्राकृत-रूप 'कपूरमजरी' है जैसा कि नायिका के नामास्तव्य में रचना में मिलता है। अभिनय और

मंच के संकेत, पात्रनिर्देश और जवनिवांतर सूचना भी संस्कृत में ही दिए गए हैं।

कपूर रमजरी सटटक् अंत पुरीय जीवन से सम्बंधित रचना है जिसमें वस्तु विन्यास की दृष्टि में कोई कौशल नहीं। जंगी रस इमम शृंगार है और अंगरूप से हास्य तथा अदभुत है। कथावस्तु यह है कि राजा चंडपाल (प्राकृत में चंडवाल) वसंत में आरम्भ में अपनी रानी विद्रुपक और दासी विचक्षणा के साथ बैठा था। विद्रुपक और विचक्षणा में कविता की होड़ चल पड़ी और घटिया दर्जों की परिहासपूर्ण गालीगलौच होने लगी। इतने में भरवानन्द नाम के एक चमत्कारी साधु वहां आए जिन्होंने राजा के कहने पर अपने मन बल से विद्रुपक की जतीव सुंदरी राजपुत्री कपूर रमजरी को वहां खींच बुलाया। यह कपूर रमजरी रानी की बहन निकली। दोनों राजमहल में एक साथ रहती हैं। दूसरे जवनिवांतर में, राजा और कपूर रमजरी एक दूसरे पर आसक्त हो जाते हैं। दोनों में गुप्त रूप में पत्र चलते हैं। राजा कुत्र में छिपकर हिंडालचतुर्थी पर झूठ में झूलती हुई कपूर रमजरी का दर्शन करता है। फिर कपूर रमजरी दोहरे देने बाटिका में आती है, जहां राजा फिर उस दखता है। तीसरे जवनिवांतर में राजा और कपूर रमजरी का गुप्त रूप से मिलन होता है पर रानी को पता चल जाने के कारण दोनों को भागना पड़ता है। चौथे जवनिवांतर में, कपूर रमजरी को राजा से दूर रखने के लिए रानी ने बड़ा पहरा बठा दिया है। षट् सावित्री का उत्सव देगने के लिए रानी के बुलावे पर राजा महल में गया। वहां रानी ने उसके विवाह का आयोजन कर रखा था। बात यह हुई थी कि रानी को भरवानन्द ने बताया कि साठदश के राजा चण्डसेन की पुत्री धनसारमजरी निम्की पत्नी होगी वह नववर्ती राजा होगा। विवाह के दिन भरवानन्द ने कपूर रमजरी का सुरंग का रास्ते निजाल मगाया और उस धनसारमजरी कहकर विवाह मंडप में बठा लिया। जब रानी ने देखा कि कपूर रमजरी यह आ गई है तब वह बहाना बनाकर उस तहवान में दखन गई। भरवानन्द ने कपूर रमजरी का सुरंग माग से फिर तहखाने भेज दिया। रानी ने उसे वहां देखा तो कुछ निश्चित हुई। पर लौटकर फिर उस विवाह मंडप में दाखा। उस प्रकार कई बार यह क्रम चला। अंत में रानी पर तब भेद खुला, जब विवाह कराते हुए विद्रुपक ने राजा से कहा—कपूर रमजरी का हाथ अपने हाथ में लो। रानी ने क्षणिक होकर पूछा कि कपूर रमजरी कहा है। तब भरवानन्द ने कहा कि कपूर रमजरी का नाम ही धनसारमजरी है।

यह कहानी अंत पुरीय विनाद, वाक्यकला विषयक परिहासपूर्ण विवाद, और रूप वर्णन की दृष्टि से सुंदर है।

प्रस्तावना में यह सूचित होता है कि यह सटटक् एक नृत्यम्पन है। स्थापक आरम्भ में ही प्रकट है कि नृत्य की तयारियां हो रही दीगती हैं। उत्तर में पारिपाश्विक कथना है—और गया। सटटक् का नृत्य करना है न (अथ सटटअ अचिन्त्य—अथ किम्। सटटक् नतिनयम्)। विद्रुपक और विचक्षणा की वाक्केनि या वाक्चातुर्यपूर्ण परिहामय विवाद राजा और विचक्षणा के (द्वितीय जवनिवांतर में) सम्बन्ध प्रतीति और विमर्तन रूपवर्णन नृत्यम्पन की दृष्टि में बड़े माधव मालूम होते हैं।

अनुवाद करते हुए भारत-सूजी ने वाक्यपूर्ण पूरा अनुवाद नहीं किया है। कुछ

वाक्य का त्रिलिङ्ग छाड़ दिए हैं और कुछ का भाव व्यञ्जित करनेका नय स्वतन्त्र वाक्य बना दिए हैं जिनका वाक्याथ मूल प्राकृत के वाक्याथ से भिन्न है। कहीं-कहीं बात अपनी ओर से भी जाड़ दी है। वही पद्य का अनुवाद गद्य में कर दिया है। एक स्थान पर विदूषक के मुह से हरिचन्द्र (स्वयं अनुवादक) और पद्मानरक नाम कहनवाए हैं जो काल विरुद्ध हैं। मूल में पूर्ववर्ती हरिचन्द्र आदिकवियों का नाम ये। अनुवाद में 'जवनिकान्तर' के स्थान पर अरु शब्द रखा गया है।

यदि इस अनुवाद का मूल से भिन्नकर न पड़ा जाए तो इस रचना का आनन्द लिया जा सकता है। अनुवाक ने प्रायः गद्य मूल के पदों को भूलकर उनमें अर्थ के, अथवा प्रसंगोचित दूसरे अर्थ के वाक्य 'यजक' पदों का प्रयोग करके रचना को मौलिक सा बना दिया है। प्रवृत्ति का ध्यान रखते हुए भरवानर के वचना का अनुवाद उस शली और पदावलि में किया गया है जिसका प्रयोग इस तरह के चमत्कारों का दावा करनेवाले साधु आज भी करते हैं। उदाहरण देखिए—

भगवा०—जत्र न मत्र, न पान न ध्यान, न जोग न भोग, केवल गुरु का प्रसाद,
पीन की मदिरा और तान का मास, साने का स्त्री, मसान या वास। कुरो मत्र ईश्वरो
नाच, दोहाई पशुपतिनाथ की, दोहाई कामान्ता की, दाहाई गोरखनाथ की।

—भारत-दु नाटकशाला भाग २, पृ० १३७

इसी प्रकार

नैरवा०— मूरज बाधू बदर बाधू बाधू अग्नि-पस्ताल।
सम समुदर इदर बाधू औ राधू जमकाल।
जञ्जूरछ दवन की कथा, बल से लाऊ बाध।
राजा इदर का राज डोलाऊ तो मैं सच्चा साधु।
नहा तो जोगडा। और क्या ॥

—भारत-दु नाटकशाला भाग २, पृ० १३८

इत म्यला में मूल का अनुवाद करने हुए अनुवादक ने चौथा और पाचवा चरण अपनी ओर से जाड़ दिया है। एस और कितने ही वाक्य अनुवाद में भर पड़े हैं जिनके कारण कपूरमजरी मूल में दूर हो गई है। वसन्त के वणन में पद्माकर का मन्वया 'फूलोंगे पलास वन' विचक्षणता की वनाई हुई कविता के रूप में कहलवाया गया है। पद्माकर के अर्थ पद और देव के कुछ पद भी अनुवाद रचना में 'फिट' किए गए हैं।

इस अनुवाद में भारते दु की जिंदादिली और हासप्रियता के साथ-साथ हास्योपमागी भाषा का प्रयोग करने में उनका असाधारण सामर्थ्य सामने आता है। गद्य की खड़ी बातों और पद्य की ब्रज दोना का उड़ा सुन्दर और बहुकता प्रयोग हुआ है। संस्कृत के अनुवाद में पंडिताऊपन आने का भय हमेशा रहता है। भारते-दु ने पंडिताऊपन को दूर रखने के लिए ही बहुत जगह मूल से स्वतन्त्र रचना कर डाली है।

कुल मिलाकर यह कहा जा सकता है कि जिस रूप में 'कपूरमजरी' को हिन्दी में प्रस्तुत किया गया है, वह रूप मूल का भाषांतर न होकर रूपांतर है। उसे संस्कृत के साथ रखकर पढ़ने पर अनेक श्रुटियाँ दिखाई देंगी, परन्तु स्वतन्त्र रचना की तरह पढ़ने

मच के सबेस, पात्रनिर्देश, और अवलोकन-सूचना भी मस्तक में ही दिए गए हैं।

कपूरमजरी सट्टक अन्तःपुरीय जीवन से सम्बन्धित रचना है जिसमें वस्तु विधान की दृष्टि से कोई कौशल नहीं। अतीत इसमें शृंगार है और अंगरूप से हास्य तथा अभूत है। कथावस्तु यह है कि राजा गडपाल (प्राकृत में चण्डीवाल) वसन्त के चारम्भ में अपनी रानी विदूषक और दासी विचणणा के साथ बठा पा। विदूषक और विचणणा में वदित की होड चल पडी और पटिया दर्जे की परिहासपूर्ण गालीगलौच होने लगी। इनमें में भरवानन्द नाम के एक चमत्कारी माधु बहा आए जिन्होंने राजा के कहने पर अपने मध्य बस से विदूषक की अतीव सुन्दरी राजपुत्री कपूरमजरी को बहा लींच बुलाया। यह कपूरमजरी रानी की बहन निवली। दाना बहनें राजमहल में एक साथ रहती हैं। द्वारे अवलोकन-सूचना में राजा और कपूरमजरी एक दूसरे पर आसक्ति हो जाने हैं। दोनों में गुण रूप से पत्र आसक्ति हैं। राजा कुज में छिपकर हिंडोलचतुर्थी पर झूने में झूने की हुई कपूरमजरी के दान करता है। फिर कपूरमजरी दोहद देने पाटिका में पाती है, तथा राजा फिर उसे देना है। तीसरे अवलोकन-सूचना में राजा और कपूरमजरी का गुण रूप से मिलन होता है पर रानी को पता चल जान के कारण दोनों को भागना पडता है। चौथे अवलोकन-सूचना में कपूरमजरी का राजा में दूर रहने के लिए रानी ने बडा पहरा बडा दिया है। यह सावित्री का उत्सव देगने के लिए रानी के बुलावे पर राजा महल में गया। वहां रानी ने उसके विवाह का आयोजन कर रखा था। बात यह हुई थी कि रानी का भरवानन्द ने बनाया कि साट्टक के राजा चण्डीवाल की पुत्री घनसारमजरी जिनकी पत्नी होगी, यह चण्डीवाल राजा होगा। विवाह के दिन भरवानन्द ने कपूरमजरी को मुरा के रास्ते निकाल मगाया और उस घनसारमजरी कहकर विवाह मंडप में बैठा दिया। जब रानी ने देखा कि कपूरमजरी यह था यदि है तब वह बहाना बनाकर उसे सहान में देखन गई। भरवानन्द ने कपूरमजरी को मुरा माग से फिर सहान में भेज दिया। रानी ने उसे बहा देया तो कुछ निश्चिन्त हुई। पर लौटकर फिर उसे विवाह मंडप में देखा। इस प्रकार कई बार यह कम चला। अन्त में रानी पर तब भेद सुता तब विवाह कराने हुए विदूषक ने राजा से कहा—कपूरमजरी का हाथ अपने हाथ में लो। रानी ने शक्ति होकर पूछा कि कपूरमजरी कहा है। तब भरवानन्द ने कहा कि कपूरमजरी का नाम हा घनसारमजरी है।

यह कहानी अन्तःपुरीय विनोद का चरित्र विषय पर परिहासपूर्ण विवाद, और रूप धारण की दृष्टि से सुंदर है।

प्रस्तावना से यह सूचित होता है कि यह सट्टक एक नृत्यरूपक है। स्थापक चारम्भ में ही पूछता है कि नृत्य की तयारियां हा रही होती हैं। उत्तर में परिपात्रिक कथा है—और क्या। सट्टक का नृत्य करना है न (अथवा सट्टक शब्द—अथ किम्। सट्टक नतिव्यय)। विदूषक और विचणणा की वाक्केचि या वाक्चातुम्यपूर्ण परिहासपूर्ण विवाद राजा और विचणणा के (तीसरे अवलोकन-सूचना में) सम्ये प्रस्ताव और विस्तृत रूपवर्णन नृत्यरूप की दृष्टि से बड़े साधक भाव्य होत हैं।

अनुवाद करते हुए भारतेन्दुजी ने वाक्यांश पूरा अनुवाद नहीं किया है। कुछ

वाक्य ता त्रिलकुल छाड़ दिए हैं और कुछ का भाव व्यंजित करनेवाग नय स्वतंत्र वाक्य बना दिए हैं जिनका वाक्याय मूल प्राकृत के वाक्याय से भिन्न है। काई-कोई बात अपनी ओर से भी जाड़ दी है। वही पद्य का अनुवाद गद्य म कर लिया है। एक स्थान पर विद्व पक्ष के मुह से हरिश्चंद्र (स्वयं अनुवादक) और पद्याक्षर के नाम कहनवाए हैं जा काल विरुद्ध हैं। मूल में पूर्ववर्ती हरिश्चंद्र आदि कवियों के नाम ४। अनुवाद में 'वर्तमानान्तर' के स्थान पर 'अब' शब्द रखा गया है।

यदि इस अनुवाद का मूल से मिलाकर न पता जाए तो इस रचना का जानद लिया जा सकता है। अनुमानक न प्रायः सब मूल के पद्य का मूलकर उनमें अर्थ के, अथवा प्रमगोचिन्त दूसरे अर्थ के वाचक व्यंजक पद्य का प्रयोग करके रचना को मौलिक सा बना दिया है। प्रवृत्ति का ध्यान रखते हुए भरवानन्द के वचना का अनुवाद उम सली और पद्याक्षर में किया गया है, जिसका प्रयोग इस तरह के चमत्कारों का दावा करनेवाले साधु आज भी करते हैं। उदाहरण देखिए—

भरवा०—जन्म न मय, न पान न ध्यान, न जोग न भोग केवल गुरु का प्रसाद
पीन का मदिरा और मने का मास सोने का स्त्री मसान का वास कुरा मन ईश्वरा-
वाक, दोहाई पगुपतिनाथ की, दोहाई कामाक्षा की, दोहाई गारवनाथ की।'

—भारत-दु नाटकावली भाग १, पृ० १३७

दूसी प्रकार

भरवा०—

मूरज बाधू चंदर बाधू, बाधू अगिन पताल।

सम समुदर इंदर बाधू औ बाधू जमकाल।

जच्छरच्छ दवन की कया, बल स साऊ बाध।

राजा इंदर का राज डोलाऊ ता मैं सच्चा साधु।

नहा तो जोगडा। और क्या ॥

—भारत-दु नाटकावली भाग २ पृ० ११५

इस स्थला में मूल का अनुवाद करने हुए अनुवादक ने चौथा और पाचवा चरण अपनी ओर से जोड़ दिया है। इस और कितने ही वाक्य अनुवाद में भरे पड़े हैं जिनके कारण कपूरमजरी मूल से दूर हो गई है। वस्तु के वर्णन में पद्याक्षर का सबवा 'फूँगे पलास वन० विचक्षणों की बनाई हुई कविता के रूप में कहलवाया गया है। पद्याक्षर के अर्थ पद और दव के कुछ पद भी अनुवाद रचना में 'फिट किए गए हैं।

इस अनुवाद में भारते दु की जिंदादिली और हासप्रियता के साथ-साथ हास्यो-पयोगी भाषा का प्रयोग करने में उनका असाधारण सामर्थ्य सामन आता है। गद्य की खड़ी वाली और पद्य की ब्रज दोना का बड़ा सुंदर और चहकता प्रयोग हुआ है। सस्त्रुत के अनुवाद में पंडितारूपन आन का भय हमसा रहता है। भारते दु न पंडितारूपन को दूर रखने के लिए ही बहुत जगह मूल से स्वतंत्र रचना कर जाती है।

कुल मिलाकर यह कहा जा सकता है कि जिस रूप में 'कपूरमजरी' को हिन्दी में प्रस्तुत किया गया है, वह रूप मूल का आपान्तर न होकर रूपांतर है। उसे सस्त्रुत के साथ रखकर पढ़ने पर अनक थुटिया दिखाई देगी, परन्तु स्वतंत्र रचना की तरह पढ़ने

पर उमका पूरा आनन्द लिया जा सकेगा। यही स्थापत्यर का यह अर्थ है कि इतिवत्त, वापसियाए आदि और अन्य तत्त्व वही रहते हुए ऊपरी बातों में देश काल के अनुकूल हेर फेर कर देना।

भारत दुःखी इस नाटक का अनुवाद करने की प्रेरणा कहाँ से मिली, यह कहना कठिन है। अवश्य के अन्तिम नवाबों के दरबारों में नायबों आदि में आपसी वाद विवाद, घटिया दर्जों की गाली गतीब दि'लगी आदि प्रचलित थी, जिसमें नवाब भी आनन्द लिया करते थे। सम्भव है कि भारत-दुःखी इस सन्दर्भ में उम जीवन का कुछ मासिक दमक इसका अनुवाद करने का निश्चय लिया हो।

जो हो अपूरमजरा के अनुवाद और स्थापत्यर में भारत-दुःखी नाट्य प्रतिभा का अच्छा परिचय मिलता है और भाषा पर उनका असाधारण अधिकार दिखाने देता है। अपनी इस प्रतिभा और भाषा-सामर्थ्य के चल पर हाँ के हिन्दी अपूर्व को एक ऐसी सुन्दर रचना भेंट कर सका।

मुद्राराक्षस (१८७४)

मुद्राराक्षस संस्कृत का बहुत प्रसिद्ध नाटक है। इसके रचयिता पर विद्वानों में मतभेद है—कुछ विद्वान इसे चौथी पाचवीं शताब्दी ई० की रचना मानते हैं और कुछ इसका काल सातवीं-आठवीं शताब्दी ई० तक मानते हैं। जो हो, राजनयिक पृष्ठभूमि पर लिखा गया ऐसा नाटक संस्कृत में कोई और नहीं है। इसी कारण का एक और नाटक दशरूपक गुप्तक था जिसके उद्धरण नाट्यमयण और शृंगार प्रकाश में मिलते हैं। स्व० जयानन्द प्रसाद ने दशरूपक-गुप्तक के उपलब्ध अंश से प्रेरणा लेकर अपना 'धुवम्बामिनी नाटक' लिखा था।

मुद्राराक्षस की प्रचलित प्रतियाँ में इसका लेखक का नाम विष्णुदेव लिखा है, पर अन्य उल्लेखों में यह विष्णुदेव भी मिलता है।^१ मुद्राराक्षस की प्रस्तावना के अनुसार ये सामन्त दत्तदत्त के पौत्र और महाराज पृथु के पुत्र थे। अपना नाम अधिक परिचय इन्होंने नहीं दिया। इन जैसे विद्वान और महामनीषी के पास अधिक परिचय की आवश्यकता भी क्या है?

मुद्राराक्षस नाटक पढ़ने से पता चलता है कि ये राजनयिक वातावरण में रहते थे और राजनीति के दाव पेंचा को बहुत अच्छी तरह समझते थे। साथ ही नाटक के विधान के चार में इन्होंने जो बातें प्रयुक्त की हैं, उनमें यह अनुमान करना असम्भव नहीं कि इन्होंने कई नाटक लिखे होंगे। मुद्राराक्षस के चौथे अंक के तीसरे दृश्य की अन्तिम पंक्ति बताता है नाटकानामिममनुभवति कलेगमस्पर्द्धिषा वा' में 'नाटकानाम्' यह बहुवचन प्रयोग दमक और वया अनुमान किया जा सकता है? जयानिप में इनका अच्छा परिचय होने की सूचना भी मुद्राराक्षस से मिलती है।

इनकी रचना की प्रेरणा राष्ट्र-कल्याण की भावना है, जो इनका नाट्य-कलाका

^१ नाट्यमयण, (गवकवाँ ओरिण्टल सोरीस), मद्रास प्रिन्टिंग, ८४४

मे स्पष्ट होती है। इन्होंने बड़े स्पष्ट शब्दों में हिमालय और गंगा से हिंद महासागर तक एक सशस्त्र केन्द्रीय शासन की कल्पना की है। 'प्रसाद' पर इनके विचारों का बहुत गहरा प्रभाव पड़ा है। उनके 'चन्द्रगुप्त' नाटक में चाणक्य का जातिदलित लोककल्याणकारी रूप चित्रित हुआ है, और भारतीय एकता का जो आग्रह निरूपित हुआ है, उन दोनों की मूल प्रेरणा मुद्राराक्षस के नाट्यीक श्लोकों और सशस्त्र केन्द्रीय शासन के निरूपक श्लोकों से मिलती प्रतीत होता है। मुद्राराक्षस नाटक के लेखक का मुख्य विषय है राज्य की दो महान प्रतिमाओं—चाणक्य और राक्षस—का सघर्ष समाप्त करने उन दोनों को लोककल्याण के लिए एक ही राज्य की शक्ति बढ़ाने में लगाना।

मुद्राराक्षस नाम का अर्थ है वह रचना जो मुद्रा के कारण पकड़े गए राक्षस के बारे में है। इस नाटक के इतिवत्त में राक्षस की मुद्रा वाली अगूठी कौटिल्य (चाणक्य) के हाथ में पड़ने से ही कौटिल्य के हाथ में तुरन्त चला आ जाती है।

'मुद्राराक्षस' का इतिवत्त ईसा से लगभग सवा तीन सताव्ही पहले की ऐतिहासिक घटनाओं से सम्बद्ध है। मगध (आधुनिक बिहार का एक भाग) में नन्दवंश के राज्यकाल में अधिपतित्व के लिए सघर्ष हुआ। इतिवत्त की स्वरचना यह है कि नन्दवंश से कुपित कौटिल्य नामक राजनीति विद्वान् ब्राह्मण ने नन्दवंशीय कुमार चन्द्रगुप्त को राजगृह पर बठाया। दस सघर्ष में उत्तर भारत के विभिन्न प्रदेशों के राजाओं से चन्द्रगुप्त को सहायता प्राप्त हुई थी। नन्द के परिवार का पूरी तरह नाश हो गया, परन्तु नन्द के राजमत्त मंत्री राक्षस ने चन्द्रगुप्त के विरुद्ध अपना विद्रोह जारी रखा। कौटिल्य का प्रयत्न यह था कि राक्षस चन्द्रगुप्त का सहायक बन जाए और अन्य सब राजा लोग जो पहले चन्द्रगुप्त के महायक थे और अब उसका प्रतिद्वन्द्वी बन सकते थे, नष्ट हो जाए। इन दोनों ध्येयों में कौटिल्य को सफलता मिली। यह सफलता प्राप्त करने के लिए कौटिल्य ने क्या-क्या खेल खेले, यही नाटक का मुख्य विषय है। यह इतिवत्त इतिहास में इसी रूप में कही नहीं मिलता। इसका दावा चन्द्रगुप्त और कौटिल्य ही निश्चित रूप से ऐतिहासिक कहे जा सकते हैं। जहाँ तक घटनाक्रम का प्रश्न है, वह सारा सभाव्य है, पर शुद्ध इतिहास (आधुनिक अर्थ में) से इसपर कोई प्रकाश पड़ना कठिन है।

फिर भी, प्राचीन कथामाहित्य तथा पुराणों में वर्णित घटनाओं से इतिवत्त का परिच्छेद सम्बद्ध है। कौटिल्य के विषय में एक कहानी आती है कि नन्दवंशीय राजा महा-नन्द ने उसे अपमानित किया था जिसपर उसने अपनी चोटी खालकर यह प्रतिज्ञा की थी कि जब तक मैं नन्द और उसके परिवार का नाश न कर लूँगा तब तक अपनी चोटी न बाधूँगा। मुद्राराक्षस नाटक में इस घटना का आदि और अन्त में उल्लेख किया गया है। नाटक के आरम्भ में ही (तत्तत् प्रविशति मुक्ता शिखा परामर्शान् चाणक्य) यह अभिनय संकेत दिया गया है। उसके एक श्लोक बाद १६ में 'अद्यापि वयमाना वध्यं का नच्छति शिखा म' चाणक्य का कथन है। नाटक के अन्त में चाणक्य स्वयं कहता है

सह बाह्वहस्तिभ्या मुच्यता सर्ववधनम्।

मया पूषप्रतिनेन केचन वध्यते क्षिता ॥

मुद्राराक्षस सात अंका का नाटक है और इसमें मंत्रीपात्र केवल एक है, जो बहुत थोड़ी भूमिका के लिए मंच पर आता है। मारा नाटक चाणक्य के बुद्धि-वचन का और लोक पर्याय के लिए उन्मुख निस्पृह चरित्र का निदर्शन है। नायक चन्द्रगुप्त^१ बहुत कम आता है और उस सघम में कोई महत्त्वपूर्ण भूमिका नहीं अदा करता।

मूल पाठ में एक महत्त्वपूर्ण असंगति

इस नाटक के मूल पाठ में एक बड़ी असंगति दिखाई देती है जिसकी विद्वानों ने धिलजुल अनदेखा कर दिया है। जिनका ध्यान उस बात की ओर गया, उन्होंने जैसे-तैसे ध्याख्या करके प्रश्न को टालने का यत्न किया है उसका कोई ठीक समाधान नहीं प्रस्तुत किया।

हम ऊपर दिखा जाए हैं कि नाटक का आरम्भ में कवि ने मुक्ता शिखा परामुखान चाणक्य लिखा है और अंत में भरत वाक्य से पहले बध्यते शिखा लिखा है। स्पष्ट है कि नाटक में वर्णित सारे काल में चाणक्य की शिखा खुली हुई है। परंतु खुली शिखा का इतना स्पष्ट उल्लेख करने वाले कवि ने तृतीय अंक में कृतक-कलह के प्रसंग में लिखा है कि चाणक्य की शिखा बंधी हुई है।

चाणक्य (सत्रोऽथ) वृषल । वपल । भूत्यभिव मामारोऽनुमिच्छसि ? —

शिखा मावतु यद्धामपि पुनरय धावति चर ।

(भूमिपादप्रहार कृत्वा)

१ डा० सत्यजनसिंह ने मुद्राराक्षस की टीका (चौखम्बा १९५४) करते हुए भूमिका में यह मन्त्र्य रक्षा है कि इस नाटक का नायक चाणक्य है। यह बात ठीक नहीं पचती। नाट्यकला सम्बन्धी बातों का ध्यान रखनेवाला कवि चाणक्य को नायक क्यों बनाएगा? नाटक का नायक राजा होता है। फिर नाटक का पल पड़ा है और वह किस मिलता है? अक्षरपल है जो चन्द्रगुप्त को मिलता है।

राजा किमत पर प्रियमरित ?

राक्षसेन सः मैत्रा राख्ये चारोपिता वपम् ।

नन्दारचाभूनिना सर्वे किं वक्ष्यमते परम् ॥

— ७ १७

हमारे विचार में नायक चन्द्रगुप्त ही है। हाँ, वह अमल-चायत्तसिद्धि नायक अर्थात् जमा नायक है, निज वज्रसिद्धि अमाय चायत्तव्य के प्रश्न से होता है अपने प्रयत्न से नहीं।

चाणक्य नाटक का महाभिनय का प्रधानतम पात्र अवश्य है नायक नहीं। चाणक्य अपने लिए कोई पद पाने की वन्तशास्त्र न ।। वह चन्द्रगुप्त को अथ यानी निर्बन्धक राज्य प्रप्त कराने के लिए यत्न कर रहा है। प्रस्तावना में इतिवत्त का काज भी यही है 'आ । क पप मयि नीवति चन्द्रगुप्तः पतिमवितुमिच्छति वधाम् १'।

अंग्रेजी नाटकों का 'हरो' और मञ्चुल नाटकों का नायक सदा अभिन्न नहीं होते। यदि नाटक चाणक्य है तो चन्द्रगुप्त एक साधारण पात्र हुआ, और एक साधारण पात्र नायक की भूमिका के पत्र पक्षक हटा देता है। वस्तुतः महाभिनय में प्रधानपात्र कोई हो, क्यावस्तु का नायक वह होता है निज नाटक में यात्रा सगति का अभिन्न पत्र निजना है।

प्रतिनामारोडु पुनरपि चतस्य चरण ।
प्रणाणा नन्दाना प्रथममुपयान त्वमधुना—
परीन कालन ज्वलयमि मम वायदहनम् ॥

—३२६

इसकी टीका करते हुए श्री दुर्णिटराज यज्वा न बद्धा का जय 'बद्धमिष्टा' किया है। यहाँ जय टा० सत्यव्रतमिह ने लिया है—

बद्धमिष्टामपि पुनर्मोक्षं त्वरतमद्वयमानप्रतिगोधनायति क्षप ।

पर 'बद्धा' का अर्थ 'बद्धमिष्टा' कैसे हो सकता है? दूसरे, जो 'बद्धमिष्टा' है, वही नहीं, उसका पुनर्मोक्षन कम होगा। तीसरे, आज और पीछे आप उस मुक्ता कह रहे हैं तो बीच में वह 'बद्धा' कम हो गई?

हमारे विचार से यह पाठ अशुद्ध है। 'गुड पाठ' होगा—

गिमा मायु मुक्तामपि पुनरपि धावति कर ।

जयान नून मुने इतना उपमानित और गुड कर दिया कि वह द्वारा किए गए एक उपमान में बाधित होन पर खोली गई किन्वा का मुक्ता हान पर भी जावशक्यान मरा हाथ फिर से खोलने के लिए तब ही में चर आ रहा है।

हमारा सुझाव गुड पाठ रखन पर ही 'अपि' शब्द की सायकता होती है। जयमा, वधा धनु का तात्पर्य ही जाता है, 'उमक' लिए वही दृढ़ भी सिखा को' करना निरयक है। महाकवि गिमाउत्त जम लयन में ऐसी भरी भूल हान की कोई भी संभावना नहीं है। श्री तनय के सम्पादित संस्करण में दिए पाठभेदों में इसका बाद पाठभेद नहीं दिया गया। संभव है किसी समय किसी प्रतिलिपिकार ने अपनी 'भूल से इस मुक्ता' पाठ का वह साचरर गुड कर दिया हो किन्वाला बंधे हुए को ही जा सकता है। भारत-दु का ध्यान इस अवगति का जार गया तो, और उद्धान अनुवाद करते हुए इसका कुछ समाधान भी करने की चेष्टा की पर वह समाधान उपलब्ध भूतपाठ से भी अधिक बेतुका हो गया है। भारत-दु ने लिखा है

मुलामिता ह बाधित

अथान मुली गिमा का भा बाधन के लिए। नता इस उपवाक्य में अतिवृत्ति है और न वाक्य में ही इस उपवाक्य की अविविबनती है। उपवाक्य में ता ह (भी) विलकुल निरयक रहता है, और वाक्य में, यह मतलब निरुलता है कि वाक्यान पर सिखा बाधी जाती है, या वाक्य उम शत्रु के कारण बाधने को प्रेरित होता है। य दाना हो बानें अमगत हैं।

हमारे सुझाव पाठ न पत्र में एक और युक्ति है इलाक का दूसरा, तीसरा और चौथा चरण, जो गिमा मुलन का जय स्पष्ट कर रहे हैं और पूरे इतिहास स्मरण करा रहे हैं—गिमा मुलन का अर्थ है उपमान करनेवाले के पूरा नाश का प्रतिना करना। वाक्य कह रहा है कि फिर से वही प्रतिना करने के लिए मरा हाथ मुनी गिमा का भी खानने के लिए बांधा रहा है। उसने प्रतिना गिमा खानकर ही की थी इसलिए भारत-दु का मुली मिता ह बाधित इतिहास ही बेतुका हो गया—पाठ बदला भी पर बात न बन मनी—गुनाह बनकर रहा।

अनुवाद

भारतेंदु ने मुद्राराक्षस का यह अनुवाद भारत की राजनीतिक स्थिति का दखल कर किया प्रतीत होता है। यद्यपि भूमिका में इसका कोई संकेत नहीं है पर अनुवाद के पीछे उपसंहार (क) में यथावसर भाने के लिए जो गीत भारतेंदु ने रचे हैं, उनसे यह स्पष्ट पता चलता है। इन गीतों का प्रधान स्वर 'जग में घर की कूट बुरी, अरि सो छल किए दोष नहीं, छलियन सा रहो सावधान' 'वनज-दृष्टि भलेच्छन हूँ निमि किन अब लो मारि नसाया और 'लहो सुख सब विधि भारतवासी जमी पदावलिषा से प्रकट है। उस राजनीतिक चेतना के वातावरण में भारतेंदु जैसे सजग नेता का ध्यान मुद्राराक्षस के अनुवाद की ओर न जाता तो और किमका जाता? सम्भवतः यही 'यजना इम तप्य से होती है कि अनुवाद राजा शिवप्रसाद को समर्पित किया गया है जो शिक्षा विभाग में रह कर हिन्दी की राजनीतिक प्रणय दिला रहे थे।

मुद्राराक्षस का अनुवाद करते हुए भारतेंदु के मन में यह कल्पना भी रही प्रतीत होती है कि इस रंगमंच पर खेला जाएगा। गीत देन का यही उद्देश्य हो सकता है। परन्तु इसमें सत्य हरिश्चन्द्र की तरह पात्रों के आहाय (बेप आदि) संकेत नहीं दिए गए हैं। मुद्राराक्षस को छोड़कर और किसी अनुवाद में गीतों की यह व्यवस्था भारतेंदु ने नहीं की।

अनुवाद के आरम्भ में नाटक के इतिवत्त संसम्बद्ध पूर्वकथा पुराण आदि के आधार पर दी गई है और अन्त में दा उपसंहार दिए गए हैं जिनमें सप्रथम में गीत और द्वितीय में चन्द्रगुप्त व इतिहास विषयक सामग्री का संकलन है। यह सामग्री इस समय इतिहास की दृष्टि से कोई महत्त्व नहीं रखती, परन्तु इसमें भारतेंदु की साधप्रियता का अवश्य पता चलता है। उपसंहार (क) में ११ गीत दिए गए हैं जो नाटक खेलते हुए जहाँ-तहाँ गाने के लिए अभिप्रेत हैं।

नाट्यविधान

नाट्यी संस्कृत नाटक नाट्यी श्लोकों से आरम्भ हुआ करता है। उसमें नाटकीय दृश्य और व्यापार के स्थान आदि का निर्देश नहीं किया जाता। अनुवाक ने राजा लक्ष्मणसिंह के सदृश, नाट्यी से पहले स्थान रंगभूमि और रंगगाथा में नाट्यपाठों लिख कर स्थान और व्यापार का निर्देश किया है।

इसके बाद मूल नाटक के नाट्यी श्लोकों से पहले अपना एक भगलाचरण का पद दिया है। इसे अनुवाद की निर्विघ्न समाप्ति आदि के लिए किया गया भगलाचरण समझना चाहिए क्योंकि इसमें नाटकीय इतिवत्त या पात्रों की वाद व्यञ्जना नहीं है। इसमें शेष में धन तथा वृष्ण की विजय-वामना की गई है।

भरित नह नव नीर नित बरसन मुरम अघोर।

जयति अपूरव धन बोक सरि नाचत मन मार ॥

मग गम् श्लेष और अय श्लेष दोनों हैं—श्लेष से निवृत्तवाने दोनों अय वाच्य हैं।

मूल व नारी दोनों के अनुवाद में भारत-दु के परिचय और चातुम पर विशेष ध्यान रखा है। प्रथम 'सत्य' में बहिर्निष्ठ शिवरति अर्थात् व्यक्त है और व्यक्त वस्तु है शिव और भवानी का वातानास। इसमें मन्त्र पदा का प्रयोग जिस चतुराई से हुआ है, यही अनुवाद में भी दिखाई देता है।

मूल श्लोक इस प्रकार है

धन्या कम स्मिता ते गिरमि ? गणिकजा किन्तु नामैतस्या ?
नामवाच्यान्मदेनन परिचितमपि ते विस्मृत कस्य हता ?
नारी पृच्छामि नन्दु कमयतु विजया न प्रमाण योऽनु
देष्या निह्नातुमिच्छारिति मुरयति शठयनव्यादिभोव ॥ (११)

इस दृष्टि में यह प्रमाण है कि शिवजी न पृच्छी को रमातल में जान से रानन के लिए बकुण्डला में गिरती हुई गंगा को जपन मिर पर से लिया। गंगा स्त्री हुई—अप स्त्री का शिवजी के मिर पर बिराजमान देवकर पावती न व्यक्त करत हुए पूछा 'यत् कौन धन्य (सीमागंगानिनी) नारी आपके मिर पर बिराजमान है ? शिवजी न, शठनामक की तरह पावता का मूल ब्रह्मण का चेष्टा की, और पावती के प्रदत्त को अपने मन्त्र पर विराजमान चन्द्र के बारे में मानकर चन्द्र के लिए स्त्रीनिग रूप का प्रयोग करत हुए उत्तर दिया 'यह गणिकजा है ? पावती ने पूछा, 'क्या इस (नवागता नारी) का नाम शिव कहा है ?' शिव धन्य, हा, हा, यही नाम है। तुम ता इस (चन्द्र) से बहुत समय से परिचित हो। इसका नाम भूल कैसे मद ?' तब पावती ने साफ साफ कहा मैं नारी को पूछती हूँ 'तुम का नारी, अर्थात् मैं आपके मिर पर मौजूद नारी के विषय में पूछ रही हूँ, चन्द्र के विषय में नहीं।' पर शिवजी ने सत्र पुष्ट समझत हुए भी ठम वाक्य का दूसरा सम्भव अर्थ लगाया—'मैं नारी से पूछती हूँ, चन्द्र से नहीं और उत्तर दिया 'चन्द्र से नहीं पूछना चाहता, नारा मैं ही पूछना चाहती हूँ ना अपनी मन्त्री विजया में पूछ लो। वह बता दगी कि मेरे मिर पर चन्द्र ही है।'।

इस सारी वस्तु का अर्थ अनुवाद में सही में दिलाए

कौन है सामर्थ ? चन्द्रकला, 'कहा याका है नाम यही शिवपुरी ?'

हा, यही नाम है, भूल गई किमि जानत हूँ तुम शान पियारी ।'

'नारिहि पूछत चन्द्रहि नाहि' 'कहे विजया जनि चन्द्र लवारी ।'

या गिरिज छनि गग छिपावन ईन हरी सब पीर मुन्दारी ॥

मूल के प्रश्न और उत्तर अपने पूरे अर्थ का साथ बड़ी सफाई से रखे गए हैं। नारी पृच्छामि नन्दु' वाक्यो द्वयवक्ता भी 'नारिहि पूछत चन्द्रहि नाहि' में बड़े कौशल से लायी गई है। मूल लेखक ने पहले 'गणिकजा', और फिर 'इन्दु' शब्दों का प्रयोग किया था। अनुवादक ने पहले 'चन्द्रकला' और फिर 'चन्द्र' शब्द रखा है जो अधिक मूल मालूम होता है—जो पहले स्त्रीलिङ्ग था, वही पुल्लिङ्ग में है जबकि मूल में स्त्रीनिग शब्द और पुल्लिङ्ग का मिश्र मिश्र होने से मूल प्रकृति का दाप आ गया है।

मूल का धन्या शब्द, जो बड़ा ईश्या-आत्म शब्द, अनुवाद में नहीं आ सका। इसी प्रकार मूल में 'गंगा' का प्रयोग नाटक के द्रवित आदि की व्यञ्जना का ध्यान रखत हुए

अनुवाद

भारतेन्दु ने मुद्राराक्षस का यह अनुवाद भारत की राजनीतिक स्थिति को दर्श कर किया प्रतीत होता है। यद्यपि भूमिका में इसका कोई संकेत नहीं है, पर अनुवाद के पीछे उपसंहार (क) में यथावसर गान के लिए जा गीत भारतेन्दु ने रचे हैं उनसे यह स्पष्ट पता चलता है। इन गीतों का प्रधान स्वर 'जग में घर की फूट बुरी', 'अरि सा छल किए दोष नहीं छलियन सा रहो सावधान', 'कनक-दण्डि म्लेच्छन हूँ तिमि किन अब नहीं मारि नसायो और 'लहो मुख सब विधि भारतवासी जसी पदावलि' से प्रकट है। उस राजनीतिक चेतना के वातावरण में भारतेन्दु जैसे सज्जनता का ध्यान मुद्राराक्षस के अनुवाद की ओर न जाता तो और किसका जाता? सम्भवतः यही व्यंजना इस सत्य में होती है कि अनुवाद राजा गिब्रसाद को समर्पित किया गया है जो शिक्षा विभाग में रह कर हिन्दी को राजनीतिक प्रथम दिसा रहे थे।

मुद्राराक्षस का अनुवाद करते हुए भारतेन्दु के मन में यह कल्पना भी रही प्रतीत होती है कि इस रंगमंच पर खेला जाएगा। गीत देन का यही उद्देश्य हो सकता है। परन्तु इसमें सत्य-हुरिश्चन्द्र की तरह पात्रों के आहाय (वेप जादि) संकेत नहीं दिए गए हैं। मुद्राराक्षस को छोड़कर और किसी अनुवाद में भी तो की यह व्यवस्था भारतेन्दु ने नहीं की।

अनुवाद के आरम्भ में नाटक के इतिवत्त से सम्बद्ध पूर्वकथा पुराण। आदि के आधार पर दी गई है और अन्त में दो उपसंहार दिए गए हैं जिनमें से प्रथम में गीत और द्वितीय में चन्द्रगुप्त के इतिहास विषयक सामग्री का संकलन है। यह सामग्री इस समय इतिहास की दृष्टि से कोई महत्व नहीं रखती परन्तु इससे भारतेन्दु की शोधप्रियता का अवलोकन पता चलता है। उपसंहार (क) में ११ गीत दिए गए हैं जो नाटक खेलेते हुए जहा-सहा गाने के लिए अभिप्रेत हैं।

नाट्यविधान

नाट्य संस्कृत नाटक नाट्यी श्लोक से आरम्भ हुआ करता है। उसमें नाट्यीय दृश्य और व्यापार के स्थान आदि का निर्देश नहीं किया जाता। अनुवादक ने राजा लक्ष्मणसिंह के सदृश नाट्यी से पहले स्थान रंगभूमि और 'रंगगाथा' में नाट्यीपाठ लिख कर स्थान और व्यापार का निर्देश किया है।

इसके बाद मूल नाटक के नाट्यी श्लोकों से पहले अपना एक मंगलाचरण का पद दिया है। इसे अनुवाद की निर्विघ्न समाप्ति आदि के लिए किया गया मंगलाचरण समझना चाहिए क्योंकि इसमें नाटकीय इतिवत्त या पात्रों की कान्ति व्यंजना नहीं है। इसमें धन्य धन तथा वृष्ण की विजय-वामना की गई है।

भरित नह नव नीर नित बरसत मुग्ध अथार।

जयति अपूरव धन बाऊ लमि नाचत मन मोर ॥

यहां गन्द-श्लेष और अथ श्लेष दोनों हैं—'श्लेष से निवृत्तनवाले दोनों अथ वाच्य है।

मूल के नादी श्लोका के अनुशासन म मारने-डु के परिश्रम और चातुर्य पर विशेष ध्यान जाता है। प्रथम श्लोक म कविनिष्ठ शिवरति अगा व्यंग्य है और व्यङ्ग्य वस्तु है गिव जोर भवानी का वातालाप। इसमें सस्त्र पदा का प्रयोग जिस चतुराई स हुआ है, वही अनुवाद म भी दिखाई देती है।

मूल श्लोक इस प्रकार है

धन्या वय स्थिता त शिरमि ? गतिक्ला किंतु नार्मत्तदस्या ?
नामवात्स्यास्तन्तेन परिचिनमपि ते विस्मृत कस्य हेता ?
नारा पृच्छामि नेदु कस्यपु विजया न प्रमाण यदीन्दु
होया निह्नोतुमिच्छोरिति मुरसरित साधयमव्याद्विभोव ॥ (११)

इस श्लोक म यह प्रसंग है कि गिवजी ने पृथ्वी को रसातल म जाने स रातने के लिए बकुण्ठनोर मे गिरती हुई गया को अपन सिर पर ल लिया। गया स्त्री हुई—जय स्त्री का गिवजी क सिर पर विराजमान देखकर पावती ने व्यंग्य करते हुए पूछा यह कौन धन्य (सौभाग्यालु) नारी आपक सिर पर विराजमान है ? शिवजी न शठनायक की तरह पावती का मूल बनान की चेष्टा की, और पावती क प्रश्न को अपन मस्तक पर विराजमान चन्द्र क धारे म मानकर चन्द्र के लिए स्त्रीलिंग रूप का प्रयोग करते हुए उत्तर दिया 'यह गतिक्ला है ? पावती ने पूछा 'क्या इस (नवागता नारी) का नाम गति चित्त हो। इसका नाम भूल कसे गइ ? तब पावती ने साफ साफ कहा मैं नारी को पूछती हूँ इन्डु का नहीं जयान् मैं आपने सिर पर मौजूद नारी के विषय म पूछ रही हूँ, चन्द्र के विषय म नहीं। पर शिवजी ने सब कुछ समझन हुए भी उस वाक्य का दूसरा सम्भव अर्थ लगाया—मैं नारी से पूछती हूँ चन्द्र से नहीं और उत्तर दिया, चन्द्र से नहीं पूछना चाहती, नारी से ही पूछना चाहती हो तो अपनी सखी विजया स पूछ लो। वह बता देगी कि मेरे सिर पर चन्द्र ही है।

इस सारी वस्तु को अर अनुवादक क श १ म दखिए

कौन है सीस प ? 'चन्द्रकला 'कहा याको है नाम यहा त्रिपुरारी ?'
हा, यही नाम है, भूल गई किमि जानत हूँ तुम प्राण पिपारी।

नारिहि पूछत चद्रहि नाहि' कहे विजया जदि चद्र सवारी।
या गिरिज छलि गग छिप्रावत ईस हरी सब पीर तुम्हारी ॥

मूल के प्रश्न और उत्तर अपने पूरे अर्थ क साथ बड़ी सफाई स रखे गए हैं।

नारी पृच्छामि नेदु वाली द्वयकृता भी 'नारिहि पूछत चद्रहि नाहि' म बड़े कौशल से लायी गई है। मूल लेखक ने पहले 'गतिक्ला, और फिर 'इन्दु शब्दों का प्रयोग किया था। अनुवादक ने पहले 'चन्द्रकला और फिर 'चन्द्र' शब्द रखा है जो अधिक सगत मालूम होता है—जो पहल स्त्रीलिंग था, वही पुल्लिंग मे है जबकि मूल म स्त्रीलिंग शब्द और पुल्लिंग ग १ मिश्र भिन्न होने से मग्न प्रक्रमता दाप आ गया है।

मूल का 'धन्या शब्द, जो बड़ा ईप्सा 'यजक था, अनुवाद म नहीं आ सका। इसी प्रकार मूल म 'गति' का प्रयोग नाटक के इतिवत्त आदि की व्यञ्जना का ध्यान रखने हुए

बिया गया था। पावती के लिए देवी सप्त दिव्य गुण-सम्पन्न सत्यप्रधान ऋजुनीति के लिए सुरभरित कुटिल मामिनी किन्तु मगसकारिणी नीति के लिए, और विभु गद्द व्यापक प्रभाव या अदभुत बुद्धि वाले चाणक्य के सूचन के लिए रखे गए थे। अनुवाद में गिरिजा गया और ईस गद्दों का प्रयोग वह व्यञ्जना करने में असमर्थ है।

इस दलाक से चाणक्य का अपन स्वाथ से रहित हाकर लाकमगल के लिए नीति सचालन करना भी व्यञ्जित है। वीतराग गिव में दिखाया गया प्रेम और छम वीतराग चाणक्य में घमनीति और कूटनीति का सयाम भूचित करता है।

मूल के स्रग्धरा छन्द का अनुवाद मत्तगयद (सात अकार गुरु युग हुआ जब मत्तग यद कह तब साको) में हुआ है। स्रग्धरा २१ वर्णों का छन्द है और मत्तगयद २३ वर्णों का। केवल आठ वर्ण अधिक सबर पूरा अर्थ प्रस्तुत करने में अनुवादक ने सचमुच प्रयत्न नीय काय किया है। मत्तगयद वर्णवत्त है—इसमें सधुगुरु भार उच्चारण द्वारा नियन्त्रित है।

इसी प्रकार 'नादी' के दूसरे दलाक का अनुवाद भी सुन्दर हुआ है। उसमें भी वाच्य वस्तु से गिव प्रीति योग्य है। नाटयायसूचन के लिए शिव की उग्रता प्रचडता और त्रिपुरविजयिता का उल्लेख किया गया है। लाकमगल के लिए कष्टपूर्वक सयत रहने वाले त्रिपुरविजयी शिव से चाणक्य का चरित्र ध्वनित होता है।

यहां अष्टपदा नादी थी—अनुवादक ने भी आठ ही वाक्य रखे हैं।

स्थापना यहाँ सूत्रधार ने पात्रसूचक कथन द्वारा रूपक की स्थापना की है। हमने लिए पहले एक दित्पटाभक दलाक रखा है, जिसके अनुवाद में बड़ा कौशल अपेक्षित था। भारतेन्दु ने मूल का स्पष्ट रीति से समझकर अनुवाद भी दित्पटाभक ही रखा है और उसके ठीक अर्थ के द्वार में विद्वानों के विचार पादटिप्पणी में दिए हैं।

मूल दलाक यह है

अरप्रह सनेतुश्च द्रमसम्पूणमदलमिदानीम।

अभिभवितुमिच्छति बलान्तरक्षत्येन तु बुधयोग ॥

इसका अनुवाद देखिए

चंद्र बिम्ब पूरन भए तूर कंतु हठ दाप।

यल सा करिहै प्राप्त कस बेहि बुध रच्छत आप ॥

उपयुक्त दित्पट 'नादी' के तीन धरणा के बाद पात्र चाणक्य की नेपथ्य सभावाज आती है और उसके प्रवेश से ही रूपक आरम्भ होता है।

आमुख यहाँ आमुख का कथोत्थात नामक भेद है। इसमें, जसा कि पिछले अनुच्छेद में दिखाया गया है चाणक्य सूत्रधार के वाक्य का अर्थ पकड़कर प्रवेश करता है। मूल की दित्पटायकता अनुवाद में बतमान है।

वीर्यग नालिका पहले अंक के आरम्भ में निपुणक और शाङ्करक के बीच हुई नाक भोज नालिका है। उसके अनुवाद में भी अनुवादक ने बड़ी सुन्दरता और कुशलता से मूल में निहित द्वयकता को अदुण्ण रखा है और गूढ वचन का अनुवाद गूढवचन के रूप में ही किया है। मूल में कस धन्दा अणमिप्पदाति (कस्य च भेषमिप्रेत इति)

या, अनुवाद में 'चंद्र किम्बो अच्छा नहीं लगता' रखा है। यहाँ चंद्र चन्द्र व स्थान पर और कोई गन् ठीक नहीं रहना—'मस चन्द्रगुण और चन्द्रमाय दोनों अर्थ निकलते हैं। यहाँ यह भी स्मरणीय है कि संस्कृत और हिंदी भाषा के पारिवारिक सम्बंध और हिन्दी की संस्कृत तत्सम गन् कोशपासेन की प्रवृत्ति के कारण ही यत्तदमूलक विशेष-तया अनुवाद में आ सकी है।

प्रवृत्ति पात्रों का भाषाभेद मुद्रारागम के अनुवाद में नहीं रखा गया। मूल में संस्कृत नाट्यशास्त्र के नियमों के अनुसार संस्कृत और प्राकृत का प्रयोग हुआ है।

फिर भा. कृष्. वही पात्र की प्रवृत्ति के सूचक गन्-प्रयोग मिलते हैं। द्वितीय अंक के आरम्भ में मन्त्रों का वचन देखिए। मूल में उसका वचन 'जानन्ति तत्रयुक्तिः' (२१) से आरम्भ होता है जिसका अनुवाद तत्रयुक्तिः सत्र० आदि है। पर अनुवादक ने इससे पहले अपनी ओर से इतना और जोड़ दिया है, 'अनल ल ल ल ल, नाग नाए साप साए। ऐसे वचन मन्त्री रम्य वजात हुए बीड़ जमा करने के लिए कहा करते हैं।

आम्रपण राजा के अनुवाद में इस रचना में अधिकतर मूल का अनुकरण ही मिलता है। पर वही-कहीं कुछ अंतर किया गया है, जम राखत जा गद्द साधु का मुलान में प्रयोग किया है (अंक १)। और गान्धर्व जस धोलन में कठिन गद्द में स्वरभक्ति करके गान्धर्व कर दिया है। यही रूप लक्ष्मणसिंह के शकुंतला में भी मिलता है।

पताका रत्नानक पताका-स्थानक में अनुवादक के कौशल का अच्छी परीक्षा हुआ करती है। मुद्रारागम के प्रथम अंक में २०वें द्वाक के बाद धाढ़े धाढ़े अंतर से तीन पताका-स्थानक का प्रयोग हुआ है। इनमें से पहला और दूसरा तो प्रथम प्रकार का पताका स्थानक है, और तीसरा तृतीय प्रकार का। इस तीसरे के अनुवाद में भारतम्बु का सफलता नहीं मिली।

पहला प्रयोग—प्रथम अंक में गुप्तचर से बातचीत के बाद चाणक्य मन्त्र में कहता

है

किमत्र निग्रामि ? अनेन सलु लेखेन राक्षसो जेतव्यः ।

प्रतिहारी—(प्रविश्य) जेद जेदु अज्जो (जयतु जयवाय)

चाणक्य—(सह्यमात्मगतम्) गहीताज्य जयगद्द ।

इसके अनुवाद में अनुवादक को कोई कठिनाई नहीं हुई।

दूसरा प्रयोग—ऊपर वाल वचन से कुछ आगे चतुर्—

चाणक्य—(स्वगतम्) हन्त । जितो मनयवन्तु ।

सिद्धायक—(सहस्त प्रविश्य) जयतु जयत्वाय ।

इसका अनुवाद भी पहले की तरह ठीक है।

तीसरा प्रयोग—ऊपर वाले प्रयोग में कुछ और आगे चतुर् सिध्य के बाहर चल

जान पर चाणक्य आगे ही चिंता कर रहा है कि क्या किसी तरह दुष्ट राक्षस पकड़ा

जाएगा। इसमें पहले वह सिद्धायक को कुछ समझा रहा था। मूल पदावलि में है

चाणक्य—(चिंता नाटयित्वा स्वगतम्) अपि नाम दुरात्मा राक्षसो गृह्येत ?

सिद्धायक—आय । गहीत (अज्ज गहीदो)

प्रयोग हुआ नी रस व अनुष्ण है जैसे अमर की व्यंजना में भुजंगप्रधान (चार यगण) छंद है गम्भीर वचन में भक्तगयंद, साधारण वचन में दोहा आदि ।

गीत

मुद्राराक्षस के अनुवाद में चार अनूदित गेय गीत और दस अनुवाक द्वारा रचित मौलिक गीत दिए गए हैं । इन गीतों के ऊपर भारत-टु न चाल या तज अथवा रात-नाच का नाम दिया है । चाल या तज का संकेत उन समय पारसी थियटरों में प्रसिद्ध गीतों की तर्जों से किया गया है । इन गीतों के गान का अवसर भी उताया गया है । इनमें आठ प्रामादिक निष्क्रम—तीना प्रकार के ध्रुवागान हैं ।

अनूदित गीतों में से तीन तीसरे अथवा चौथे वृत्तांतिका के गाए गए हैं । इनमें पहले वृत्तांतिका के दो गीत ध्रुवागान मात्र के लिए हैं और तीसरा जो कड़से का चाल में गाने के लिए है वृत्तित्त में सम्मिलित है । चौथा अनूदित गीत भूल के भरतवाक्य वाल इनाक का जो अनूदित नाटक के अंत में संस्कृत में दिया गया है, स्वतंत्र अनुवाक है और राग विहंगम में रचा गया है ।

मौलिक गीतों में से एक मंगलाचरण के लिए, सात गीत प्रत्येक एक के आरम्भ में गान के लिए और दो भक्तवाक्य के ध्रुवागान के बाद गान के लिए रखे गए हैं ।

मंगलाचरण भरतवाक्य और पहले वृत्तांतिका के दो आशीर्वाचों के गीतों को छोड़ कर गेय गीत मौलिक हैं । इनमें लोकनीति के अनुसार चलन का प्रेरणा है और जगत् अथवा व्यापार की हलचल चलि है ।

मौलिक गानों का पदरचना बनी मधुर और साधक हुई । सम्भवतः समकालीन राजा की स्तुति करने की विपरम्परा का निर्वाह करने के लिए भारते दु न भरतवाक्य के बाद चिरजीवा मत्ता विकटारिया रानी वाला गीत लिखा है । परंतु इसका वा न ध्रुपद में उनके हृदय की सच्चा ध्वनि मुनाई देती है

ननी मुग सब विवि भारतवासी ।

विद्यावता जगत् का मीमो तजि आलम की फासी ।

अपनात्म तम कुन समुझहु छोडि बसि निज दामो ॥

अनूदित गान देने का आरम्भ राजा लक्ष्मणसिंह ने अपने अनुवाद शकुन्तला नाटक में किया था । परंतु भारत-टु न बीच में गान के लिए जो मौलिक गीत बनाए, वे नाट्यशास्त्र में वर्णित ध्रुवागान में प्रेरणा लेकर बनाए हैं । इससे यह भी पता चलता है कि भारत-टु न नाटका का, विनायक दस नाटक का, अनुवाद मंच पर चलने के लिए किया था केवल साहित्य के सम्मान के लिए या वास्तविक पन्ने के लिए नहीं ।

अनुवाद के दोष

भूत संस्कृत के शुद्ध अनुवाद की दृष्टि से देखें तो भारते दु न अथ अनुवाक में मुद्राराक्षस में सत्रस अथिक् अनुद्धिया हैं । भूत से मिलान करने पर पता चलता है संस्कृत का ठीक तरह नहीं समझा गया जिससे कई स्थानों पर अनुवाद में

और प्रसंग से असंगत हो गया। पर यह ध्यान रखना चाहिए कि अनेक अगुदिया मूल सस्वृत प्रति के शुद्ध न होने से भी हानि सम्भव है।

कुछ महत्त्वपूर्ण अगुदियों का यहाँ उल्लेख किया जाता है।

१ तीसरे अंक में राजा और चाणक्य के कृतक-बल्लह में श्लोक २८ व बाद का मूल सवाद इस प्रकार है

राजा—अयेनवेदमनुष्ठितम् ।

चाणक्य —आ, केन ?

राजा—नन्दकुलविद्वपिणा दवेन ।

चाणक्य —दैवमविद्वास प्रमाणयति ।

राजा—विद्वानसोऽयविकृत्यना भवन्ति ।

इनमें से राजा का प्रथम वचन चाणक्य के यह कहने के बाद आता है कि मैंने कसे बने भारी काम किए हैं (श्लोक २७, २८)

अब ऊपर के सवाद का अनुवाद देखिए,

“चद्र०—यह सब किसो दूसरे ने किया।

चाणक्य—किसने ?

चद्र०—नन्दकुल के द्वेपी दव न।

चाणक्य—दव तो मूल साग मानते हैं।

चद्र०—और विद्वान लोग भी यद्वा-तद्वा करते हैं।’

यहाँ चद्रगुप्त के अंतिम वचन का अनुवाद न केवल बिलकुल गलत है, असंगत भी है। मूल में चाणक्य के दूसरे वचन ‘दैवमविद्वास ०’ से यह वस्तु ध्वनित थी कि ‘दैव की दुहाई देनेवाले तुम विद्याग्नय मूल हो। यह कड़ी बात सुनकर चद्रगुप्त ने व्यजना से ही गहरी छोट की—उसने कहा कि ‘विद्वान लोग अपने मुह मिमा मिटदू नहीं बना करते।’ ध्वनि यह हुई कि आप भी विद्वान नहीं हैं, क्योंकि आप स्वयं अपनी प्रशंसा कर रहे हैं।

अनुवाद में चद्रगुप्त का अंतिम वचन है—‘और विद्वान लोग भी यद्वा तद्वा करते हैं।’ ध्वनि यह हुई कि ‘मिटान साग भी दव के अस्तित्व का स्पष्ट निषेध नहीं करते।’ इससे ऐसा लगता है अम दव के अस्तित्व के बारे में बहम करना उन दोना का मुख्य विधेय हो। वस्तुतः उनका मुख्य विधेय एक दूसरे को जलो-कटी बातें सुनाकर क्रोध प्रकट करना है। चाणक्य के जगल वचन से यह बात बड़ी स्पष्ट हो जाती है

चाणक्य—(क्रोध नाटय करके) अर वपल, क्या नौकरा की तरह मुझपर आँखा चलाता है। इत्यादि।

२ द्वितीय अंक में श्लोक १५ व बाद वाले राक्षस—विराधगुप्त सवाद में,

राक्षस —किमतिमष्ट पवतश्चरन्नात्रे वरोचकाय पूवप्रतिश्रुत राज्याधम् ?

विराधगुप्त —अथ किम् ?

राक्षस —(आत्मगतम्) नियतमतिधूतवटुना तस्यापि तपस्विन कमप्युपाशु वधमावलय्य पवतश्चरन्नात्रे वरोचकाय पूवप्रतिश्रुत राज्याधम् ?

(प्रकाश) ततस्तत ?

इसका अनुवाद यह है

राक्षस—क्या पवनेश्वर के भाई वरोधक^१ को जाधा राज मिला यह पहले ही उमन मुना दिया ?

विराधगुप्त—हां तो इससे क्या हुआ ?

राक्षस—(आप ही आप) निश्चय यह ब्राह्मण बड़ा घृण्य है कि इसने उम सीधे नपम्बी से इधर उधर का चार बात बनाकर पवनेश्वर के मारने के अपयश निवारण के हेतु यह उपाय सोचा। (प्रकाश) अच्छा कहो—तब ?

यहां राक्षस के प्रथम कथन पूर्वप्रतिश्रुतम पद का असली अर्थ या पहले प्रतिज्ञा या जात का पक्ष वचन लिया था, वह। इसके बाद विराध के 'अथ किम वा अथ है—और क्या अथान हा। परंतु राक्षस के प्रथम उचन का अनुवाद चलते करने के कारण विराध के इस कथन का भी गलत अनुवाद करके सगतिबलान का विफल प्रयत्न किया गया है। इसका बाद राक्षस के आत्मगत कथन में उपायवचनमात्र का अनुवाद नहीं किया। इसका स्थान पर अपनी ओर से इधर-उधर की दो चार बातें बनाकर पना बना रत्न दा गइ है। अनुवाद की यह पगवली मूस का शुद्ध अनुवाद तो किसी भी प्रकार नहीं है।

३ तृतीय अंक के आरम्भ में राजा प्रवेश करने के बाद स्वगत कहता है

राजा—(स्वगतम्) राज्य हि नाम राजवमानुवतिपरतन्म्य भूरतेमहःप्रीति स्थानम् । यत —(श्लोक ५)

अपि च दुराराया हि राजलक्ष्मीरात्मवन्मिरपि राजभि । कुत ?—

(श्लोक ५)

अथवा शश्वदार्योपदेशसन्निवमानमतम् मन्वास्वतन्त्रा वयम् । कुत ?—

इसका अनुवाद दिया

राजा—(आप ही आप) राज उमीका नाम है जिसमें अपनी आत्मा चलें। दूसरे के नराने राज करना भी एक बाधा दोना है।

(पद्य)

और राज्य पाकर भी दुष्ट राजलक्ष्मी का गभालना बहुत बठिन है।

(पद्य)

अथवा गुरजा के उपदेश पर चलने से हम लाग ता सदा ही स्वतन्त्र हैं।

इस मद में राजा के प्रथम वचन का अनुवाद चलत भी है और असगत भी। मूल के अनुसार अत्रमुक्त यह कह रहा है कि राजा को राजनियमों के अधीन चलना पड़ता है अन उम राज्य दुःखणी होना है। वह सामान्य रूप से यह बात कह रहा है जो अप्रस्तुतप्रामास उसने अपने विषय में भा लागू होती है। परंतु वह वस्तुतः चाणक्य के अधिकार से विद्रोह नहीं कर रहा। वह तो बनावटी भगडा करने वाला है और आगे स्वयं कहता है परतरमन स्वातन्त्र्यम्या वय हि परात् मुया (३६)। अनुवाद से ऐसा

१ वैरोधक और वैरोधक, ये संस्कृत में पाठभेद हैं।

प्रतीत होता है कि जैसे वह अपन राजत्व को सचमुच ही दुग्दायी समझता है।

अगले वाक्य में 'जात्यवदभि' का अनुवाद छाड़ दिया है। इस अनुवादवाक्य में भी यही प्रतीत होता है कि चन्द्रगुप्त अपने-आपको लक्ष्य करके यह बात कह रहा है। यस्तुत उत्सवा वयन सामान्य रूप में ही है।

तीसरे वाक्य में मूल में विसृज्य उल्टा और असंगत अनुवाद हुआ है। मूल है अस्वतन्त्रा वयम अनुवाद है हम स्वतन्त्र हैं। यह अनुवाद प्रसंग में ठीक भी नहीं बैठता। अगले श्लोक में वह स्वयं अपनी स्वतन्त्रता का क्षेत्र निर्दिष्ट करता है और कहता है कि इससे अधिक स्वतन्त्रता हम चाहिये भी नहीं।

इस प्रकार की भाषा-तरण सम्प्रदायी अशुद्धियों के और भी बितने ही उदाहरण दिए जा सकते हैं।

सत्यहरिश्चन्द्र नाटक पर टिप्पणी

सत्यहरिश्चन्द्र नाटक १८७६ ई० में पुस्तकाकार प्रकाशित हुआ था। उससे पहले यह 'बागी पत्रिका' नामक पाक्षिक पत्र में क्रमशः प्रकाशित हो चुका था।

गुप्तजी ने इसे भाग्यशू के अनुवादा में गिनाया है और किसी बंगला नाटक का अनुवाद बताया है (इतिहास पृष्ठ ४६१)। पर किसी परबर्ता लखन ने गुप्तजी के इस वयन को स्वीकार नहीं किया।

डा० मोमनाथ गुप्त इसे चटर्गौस्तिक का असंगत अनुवाद और अगत मौलिक होने का कारण रूपांतर मानते हैं (हिन्दी नाटक साहित्य का इतिहास, पृ० ४८)।

हम इस समस्या पर विचार को स्पष्ट रीति से प्रस्तुत करने के लिए निम्नलिखित प्रश्नों के उत्तर देने का यत्न करेंगे—

- १ क्या 'सत्यहरिश्चन्द्र' किसी बंगला नाटक का अनुवाद है ?
- २ क्या यह 'चटर्गौस्तिक' या अन्य किसी संस्कृत नाटक का अनुवाद है ?
- ३ क्या यह 'चटर्गौस्तिक' का रूपांतर है ?
- ४ क्या यह मौलिक है ?

१ बंगला से अनुवाद ?

हमारे विचार से यह किसी बंगला नाटक का अनुवाद नहीं है। प्रथम तो स्वयं गुप्तजी ने किसी बंगला नाटक का नाम नहीं दिया और न किसी बाद के लेखक ने ही ऐसा बाद बंगला नाटक कहा, जिसका इसे अनुवाद कहा जा सके। दूसरे, इसकी प्रस्तावना स्पष्ट अनुवाद नहीं हो सकती। तीसरे, नाटक में बागी वयन जति अनन्य स्वतन्त्र अनुवाद नहीं हो सकते। चौथे पिछले दो जका में चटर्गौस्तिक का बहुत सारा अंग मौलिक या अनूचित रूप में लिया गया है—यदि 'सत्यहरिश्चन्द्र' का बंगला का अनुवाद मानें तो यह स्वीकार करना होगा कि यह सारा अंग चटर्गौस्तिक से बंगला में गया और फिर उसमें हिन्दी में आया—अर्थात् बंगला नाटक भी अगत चटर्गौस्तिक का अनुवाद था। यदि यह स्वीकार कर लिया जाए तो फिर अनन्य अंग का बंगला का अनुवाद कहने की अपेक्षा चट

कीर्तिक का अनुवाद कहना कहा अधिक मंगत है, विनापत तब जबकि अनेक श्लोक संस्कृत में ही लिए गए हैं। स्वयं भारतेन्दु ने इस नाटक का भूमिका में चडकौशिक का उल्लेख किया है।

निष्पत्ति यह कि इसका बंगला का अनुवाद हान में गुबलजी के कथन को छोड़कर और कोई भी गवाही नहीं है।

श्री रुद्र काशिकेय की खोज के अनुसार, बंगला में एक नाटक काशीनाथ भट्टा चाय का 'कुपितकौशिक' है जो चडकौशिक के आधार पर लिखा गया है। प्रतीत होता है कि गुबलजी ने जो बंगला नाटक देखा था, वह यही है। दोनों रचनाओं का मिश्रण करने में स्पष्ट है कि इन दोनों में समानता इसी कारण है कि दोनों में चडकौशिक का आश्रय लिया है। पर भारतेन्दु की रचना बंगला रचना में दो वर्ष पहले प्रकाशित हो चुकी थी। कुपितकौशिक का रचनाकाल १८७८ ई० (२५ वशाख सन् १९३५) है और सत्यहरिश्चन्द्र का १८७६ ई०। (देखिए शिवप्रसाद मिश्र रुद्र काशिकेय द्वारा सम्पादित और काशी नागरी प्रचारिणी सभा में प्रकाशित सत्य हरिश्चन्द्र, पृष्ठ ७०-७६)

२ चडकौशिक का अनुवाद ?

सत्यहरिश्चन्द्र की प्रस्तावना में पहला अंग और दूसरा अंग चडकौशिक से भिन्न हैं। तीसरा चौथा अंग बहुत कुछ चडकौशिक से मशिंग करके लिए गए हैं। कोई कोई अंग मीथे अनुवाद भी हैं। पर, इस आधार पर मार सत्यहरिश्चन्द्र को चडकौशिक का अनुवाद न कह देना असंगत है।

रामचन्द्र सूरि के सत्यहरिश्चन्द्र नाटक से भारतेन्दु के 'सत्यहरिश्चन्द्र' में कोई सामग्री अनुचित की हुई नहीं है।

३ रूपांतर ?

डा० सामनाथ गुप्त ने पहल दो अंगों का सामग्री चडकौशिक से भिन्न और शेष दो को चडकौशिक के आधार पर लिखी गई होने में इसका रूपांतर मान लिया था।

हम बता चुके हैं (भूमिका, पृष्ठ ५) कि 'रूपांतर' केवल वह रचना कहला सकती है जिसमें मूल रचना में मामूली ऊपरी हेर फेर किया गया हो। जहाँ इतिवत्त भिन्न है। और रम भिन्न है वहाँ रूपांतर का प्रश्न ही पदा नहीं होता।

एक नाटक का शरीर और आत्मा को नष्ट करना या मरना उसका ऊपरी विशेष लक्षण का ही कहा जा सकता है। नाटक का शरीर इतिवत्त है और आत्मा रम। यही किन्ता नाटक का निजी व्यक्तित्व है। तभी दशरूपकार ने कहा है 'वस्तु नना रम स्तथा नैव'। जयान कथास्तु पात्र और रम एक नाटक का दूसरे नाटक में भंग करने की समीक्षा है। ता, कोई रचना किसी नाट्यरचना का रूपांतर तब ही कहना सकती है जबकि मूल और निम्न रचना में कथास्तु पात्र तथा रम का अभिन्नता बनी रहे और दोनों रचनाओं के कालभेद आदि के कारण मूल रचना में केवल बाह्य रूप में ही फेर किया गया हो। रूप का मुख्य सम्बन्ध शरीर में ही है आत्मा में नहीं, इसलिए

गरीब का बिना बदले रूप का जा अनवरतिया जाए उस ही रूपान्तर क्या जा सकता है। यदि गरीब बदल गया तो नाटक ही दूसरा हो गया। या समझिए जैम मनुष्य का समय की आवश्यकता के अनुसार दाढ़ी, मूछ या रंग, वेष आदि द्वारा अपना रूप बदल लेता। रूपान्तर शब्द अप्रेञ्चो एड्रिगन का अनुवाद किया गया है। एड्रिगन शब्द का अर्थ किसी स्थितिविशेष के लिए अनुकूल बनाना है। यह नाटक के इनिवर्स आदि को बिना बदले भेष आदि की अपेक्षा में किया जाता है।

यदि उपर्युक्त आधार पर 'चडकौशिक' में सत्यहरिश्चन्द्र की तुलना की जाए, तो पता चलेगा कि 'सत्यहरिश्चन्द्र' को किसी भी प्रकार 'चडकौशिक' का रूपान्तर नहीं कहा जा सकता।

अथप्रवृत्ति आदि पर विचार करें तो चडकौशिक में बीज है पुन और परती का विग्रह करने भी प्रतिभा का पालन (प्रस्तावना)। दूसरी ओर 'सत्यहरिश्चन्द्र' में नारद का यह कथन (प्रथम अंक) बीज है

क्या आपन उसका यह सहज साभिमान बचन नहीं सुना है ?

धृद टर सूरज टरें टर जगत व्योहार।

पद्म श्री हरिश्चन्द्र की टर न सत्य विचार ॥

दाना की तुलना करने पर, और दाना नाटक के शेष इनिवर्स पर विचार करने पर, एक बात स्पष्ट दिखाई देती है। 'सत्यहरिश्चन्द्र' का नायक सत्यप्रतिनता का अभिमान रखता है और इस अभिमान की रक्षा के लिए कटिबद्ध है। उधर चडकौशिक का नायक इस प्रकार के अभिमान से सर्वथा मुक्त है। वह पहले ही जानता है कि उसपर कष्ट आने वाले हैं। (महात्मातमूचिनामापदाकुशलपरिणामाय—प्रस्तावना) और अपने मारे कष्टों के लिए भाग्य की चार चार ओर देता है। सारे नाटक में २७ बार भाग्य या काल का उल्लेख हुआ है। इनमें से १८ बार राजा का भाग्य के कारण कष्ट पान की बात कही है।

इसी प्रकार दाना का फल भी भिन्न है। 'सत्यहरिश्चन्द्र' का फल है धर्म अर्थात् यग की प्राप्ति जो नाटक के अंत में आर्य हरिश्चन्द्र को इस कथन से प्रकट होता है 'अपने दाना का यग बढाने वाला और कौन है ?' 'चडकौशिक' का फल है योग, जो यश की इच्छा न रखते हुए धर्म करने से होता है।

चडकौशिक का अंगीरस शान्त करुण है। सत्यहरिश्चन्द्र में लखन ने अंगीरस करुणा का मामा है। अजरत्नदान ने इसमें वीर रस अंगीरस बनाया है और 'रुद्र' का गीत इसमें रौद्र रस मानते हैं।

भारनेन्दु ने तीव्रता का दृष्टि से करुणा को अंगीरस लिखा प्रतीत होता है। हमारे विचार में इसमें वीर रस अंगीरस है। हरिश्चन्द्र में सत्यप्रतिनता का अभिमान और उत्साह का देखते हुए जो चार नाटक में व्याप्त है केवल इस कारण करुण का अंगीरस नहीं माना जा सकता कि लखन ने इसे अंगीरस लिखा है। अंगीरस आरम्भ में ही और अंत में तोना जगह होना चाहिए। सम्भवतः करुण का अंगीरस लिखते समय भारनेन्दु का मन में यह बात नहीं थी। पहले दो अंकों में करुण का प्रश्न ही नहीं उठता। इसमें हरिश्चन्द्र का सत्यप्रतिनता का उदाहरण स्थायीमान है कठिनाइयाँ रंग रत्न दानो परिस्थिति का उद्गार

और व्यक्ति (विश्वामित्र) बालम्बन हैं। यह वीर रस पिछले तीन अंको में स्पष्ट ही है पढ़ने वाले में भी हरिश्चन्द्र की मयप्रतिष्ठा के उत्साह की चर्चा है।

निष्कर्ष यह हुआ कि सत्यहरिश्चन्द्र चटकौशिक का रूपांतर नहीं है क्योंकि सत्यहरिश्चन्द्र के इतिवृत्त का बीज और फल तथा रस चटकौशिक के बीज और फल तथा रस से भिन्न हैं। यदना दानु पृथक् रचनाएँ हैं।

४ मौलिक ?

ता क्या सत्यहरिश्चन्द्र को मौलिक रचना माना जाए।

रूपांतर के प्रसंग में बताया गए कारणों से सत्यहरिश्चन्द्र निःसंदेह मौलिक रचना ठहरती है। पर इसके तत्पर चौथे अंक की रचना में चटकौशिक की सामग्री अनुवाद करने के प्रयाग में लाई गई है। इस कारण इस पूर्णतया मौलिक कहना सगत नहीं।

दूसरे नाटका की सामग्री का उपयोग करके हिन्दी में अनेक नाटकों की रचना हुई है। वर्तमान काल में पं० बदरीनाथ भट्ट का कुस्वनदहन (संस्कृत) वृणीसंहार की सामग्री लेकर लिखा गया है। ऐसी ही कई रचनाएँ कलाशताथ भटनागर ने की हैं जिनमें मुद्राराक्षस की सामग्री से चाणक्य प्रतिष्ठा और वृणीसंहार की सामग्री से भीम प्रतिष्ठा। ऐसी रचनाओं का मौलिक के स्थान पर मौलिक पराश्रयी कहना अधिक सगत होगा। पराश्रयी उन वनस्पतियों (और जीवों) को मानते हैं जो अपना पापण दूसरी वनस्पतियों (और जीवों) से प्राप्त करती हैं सीधे धरती से नहीं।

सत्यहरिश्चन्द्र में कुछ असंगतियाँ

सत्यहरिश्चन्द्र के कथानक में कई असंगतियाँ दिखाई देती हैं। चटकौशिक का कथानक भाग्य की विडम्बना दिखाता है जिसमें हरिश्चन्द्र स्त्रियों का आतना सुनकर उनका रक्षा के लिए जाते हैं और विश्वामित्र के कोप के शिकार बनते हैं। ये स्त्रियाँ महाविद्याएँ थी—हरिश्चन्द्र के बाधा डालने से विश्वामित्र को महाविद्याएँ प्राप्त न हो सकीं और इसलिए उनका हरिश्चन्द्र पर क्रुद्ध होना स्वाभाविक है।

भारत-दु ने विश्वामित्र का नाश प्रायः अकारण दिखाया है। केवल यह सुनकर कि नारद राजा हरिश्चन्द्र से सत्य और दान के गुणों की प्रशंसा कर रहे थे, वे इतने नाश में आ जाते हैं और कहते हैं

मैं अभी देखता हूँ न ! जो हरिश्चन्द्र को तजोभूट न किया, ता मरना नाम विश्वामित्र नहीं। मला मर सामने वह क्या सत्यवादी बनगा और क्या दानीपन का अभिमान करेगा ? (श्रावणपूर्वक उठकर चलना चाहते हैं कि परलोक गिरना है) —भारत-दु नाटकावली, भाग १ पृ० ४७-४८।

यह व्यर्थ मात्र शोध नहीं जगमगाती है, पर एकाएक इतने गुस्से का कारण क्या है ?

किन्तु आगे चलकर लेखक का यह ध्यान नहीं रहा कि संस्कृत का महाविद्यानामाला प्रसंग ज्ञान नहीं लिया है। तीव्र अन्धकार में जब विश्वामित्र आते हैं तब उनका कथन है

वि०—(आप ही आप) हमारी विद्या मिट्ट हूँ भी इसी दुष्ट के कारण सब बहक गई। कुछ इन्द्र के कहने ही पर नहीं हमारा रसगर स्वत भी त्राय है। (भारत-दु नाटकावली, भाग १, पृ० ६६)

यहा पहला वाक्य चडकौशिक व निम्न श्लोक का अनुवाद है
 प्रणामाद्विद्याना वरतलगतानामुपधिता ।
 गिरिद्धा दुबुद्धेविनयमसणस्तस्य चरितं ।
 गिरिणी वगाद-तज्ज्वलिनधनगुणै-धनगता ।
 ग्रहिवाराभिकन विपिनमित्र म युद्धहि माम् ॥

—पृ० १० २ १०

फिर चाय अब म विमान पर चढ़ी सीना महाविद्याएं आनी हैं जार नहीं है, 'दक्ताभा न भाषा स आपको स्वप्न मे हमारा राना सुनाकर हमारा प्राण बचाया।' यह उम असगति का दूर करन का यत्न किया गया है परस्वप्न म रोना सुनकर भी हरिचन्द्र न उठ बचाया कम ? स्वप्न दखन के बाद हरिचन्द्र के उठ बचान जान की कोई घटना गटक म नहीं है।

वस्तुतः भारत-दु इस घटना विद्याम म सफल नहीं रह गया कि 'चडकौशिक' के घटना विद्याम म मुक्त होने का यत्न करत हुए भी व उमम मुक्त न हो सक।

इसी प्रकार की एक बार असगति चाटाल बेपधारी धम के कथन म है। तसरे ही एक म धम 'हम चौधरी डाम सरदार०' जादि पद्या म चाडाला की कूनमती दबी व दाम' कहता है (पृ० ७५)। भारत-दु ने यहा पाद टिप्पणी म बताया है कि "प्राचीन काल म चाडाला की कुलदेवी चटवात्यायनी थी परंतु इस काल म फूलमती इन लागा की कुलदेवी है।' लकिन जाग चौध एक म दमगान म हरिचन्द्र कह रह है

(जाग लवकर) अरे, यह दमगानदेवी है। अहा, कात्यायनी का भी कैसा बीभत्स उपचार प्यारा है।—पृ० ८२

यह अंतिम वाक्य चडकौशिक के इस वाक्य का अनुवाद है

अहा बीभत्सापचारप्रियत्वं कात्यायिन्या ।

ऐसा असगतिया से यह संकेत मिलता है कि चडकौशिक का जग संत हुए भारत-दु उनक साथ बह गए हैं।

सत्यहरिचन्द्र मे अनूदित अंश

सत्यहरिचन्द्र के तीसरे और चौथे अंश की बहुत सी सामग्री चडकौशिक स सीधे अनुवाद करके ला गई है। भारत-दु व किण अय अनुवादा का तरह यह अनुवाद भी बड़ा सुंदर हुआ है। मूल म जो वातावरण मिलता है वही वातावरण अनुवाक्य न पना कर दिया है। अनुवाद पत्कर यह नही अनुभव होना कि वह अनुवाद है। एक उदाहरण पर्याप्त होगा

भोग्य जसन कम्बल बसन रत्नौ दूर निवास ।

जा प्रभुजाना हाइ है करि हा गव ह्य दाम ॥

इसका मूल रूप यह है

भक्ष्याशी दूरतस्तिष्ठन् रथ्याम्बरपरिच्छद ।

यद्यदादिशति स्वामी तत्करोम्यविचारितम् ॥

अवधवासी लाला सीताराम 'भूप'

लाला सीताराम भूप न संस्कृत से महावीर चरित उत्तररामचरित मृच्छकटिक, मालती माधव, मालविकाग्निमित्र और नागानन्द का अनुवाद किया है। संस्कृत के अति रिक्त अंग्रेजी भाषा पर भी आपका अच्छा अविकार होने से आपने शेक्सपीयर के कई नाटकों का अनुवाद भी किया है जिनमें मकबेथ मुख्य है।

लालाजी के पिता अयोध्या के थे पर लालाजी प्रयाग में बस गए थे, किन्तु अपना अवधवासी सीताराम 'भूप' लिखते थे। 'भूप' कविता में इनका उपनाम था।

लाला सीताराम के अनुवादों की सबसे बड़ी विशेषता उनकी भाषा शैली की सरलता है। इन्होंने तदभव शब्दों के प्रयोग को प्रधानता दी है। संस्कृत के इतने विद्वान् होते हुए भी वे कठिन संस्कृत शब्दों के प्रयोग में प्रलम्बन में बचकर चले हैं। रसमयजना और मूल रचना के अर्थ की सूक्ष्मता की अभिव्यक्ति में भी इन्हें अच्छी सफलता मिली है। हिन्दी भाषा की प्रकृति की परख इन्हें अच्छी थी। शब्द में खड़ी बोली का प्रयोग साफ सुथरा है। इनके पद्यों में उनकी सफाई नहीं आ सकी जितनी राजा लक्ष्मणसिंह और भारतेन्दु के पद्या में मिलती है। पूरबी शब्दों का प्रयोग भी अनेक स्थानों पर लटकता है।

इन्होंने संस्कृत के सर्वश्रेष्ठ नाटकों का अनुवाद करने का यत्न किया। महाकवि भवभूति के तीनों नाटकों का अनुवाद आपने प्रस्तुत किए। मृच्छकटिक और नागानन्द भी समय पहले आपने ही अनूदित किए। हिन्दी साहित्य की समृद्धि के लिए आपने यथा प्रयत्न किया और संस्कृत के अलावा अंग्रेजी के भी कई नाटकों का अनुवाद करके हिन्दी साहित्य की भेंट किए।

भारतेन्दु के बाद के अनुवादकों में लालाजी का नाम सदा जादरब साथ लिया जाएगा।

आपकी विद्वत्ता के अतिरिक्त आपकी लगन और निष्ठा भी अनुकरणीय थी। सारी आयु आप हिन्दी की सेवा में लग रहे और आपने अनेक रचनाएँ हिन्दी के उच्चस्तर के पाठकों के लिए प्रस्तुत कीं। अंग्रेजी में आपने श्रेष्ठ हिन्दी साहित्य का परिचय देने वाली पुस्तकें भी लिखी थी।

महावीरचरित

इनका पहला अनुवाद भवभूति के महावीरचरित का है जो इन्होंने १८८६ में वागी में किया था पर इसका प्रकाशन १८९८ में हुआ। १८८६ के बाद इसमें संशोधन नहीं हुआ। इस अनुवाद की भूमिका पहले अंग्रेजी में है और फिर अवधी में छानबंद है। आपने यह अनुवाद करने के उद्देश्य १ चित विनाश, निज धमहु जाना मैं यहि विधि

हरिकृष्ण बगानी, २ 'पढ़ि नहि सकत ससृष्ट जोई, लहै जु ग्रंथ अमिय रस ताई ३' के जो मोहवण रहा भुलाने, पढ़ें दमि यह ग्रंथ पुराने, समझ सुन राम गुन ग्रामा बताए हैं ।

नाटक की प्रस्तावना का अनुवाद करते हुए इन्होंने अनुवाद की 'भाषा यथाशक्ति सरल रखने की जो प्रतिपात्ता की है, उसका अंत तक निवाह किया है। राक्षस कुबेरजी जैसे तन्मय शब्दा का प्रयोग अनुवाद में यत्र तत्र दिखाई देता है ।

महावीरचरित नाटक में राम के जन्म से राज्याभिषेक तक की कथा दी गई है। कथा माधारणतया वाल्मीकीय रामायण के अनुसार चलती है। अनुवादक ने अपनी धार्मिक भावना के कारण राम को ईश्वर के रूप में ग्रहण किया है। इसलिए 'महावीरचरितम्' को 'श्री महावीरचरितभाषा' का रूप दिया है। भूमिका में भी उन्होंने अपनी यह धार्मिक भावना प्रकट की है। परंतु मूल लेखक ने नाटक के कथानक को मानवीय और लौकिक रूप देने का यत्न किया था। इसके लिए उसने इस नाटक में और राम के बाद के जीवन में सम्मिश्रित अपने अन्य नाटक 'उत्तररामचरित' में भी रामायण की कुछ महत्वपूर्ण घटनाओं को मानवाचिन और तर्कमग्न बनाने के लिए कुछ उद्भावनाएँ की हैं।

महावीरचरित में राम और रावण के विरोध का मूल मानवीय बनाने के लिए यह घटना रखी गई है कि रावण ने अपना पुरोहित जनक के पास भेजकर सीता से विवाह करने की इच्छा प्रकट की थी। उस पुरोहित की जाखो के जागे ही विश्वामित्र ने राम को विशेष भ्रष्ट दिए राम ने धनुष तोड़ा और सीता का उससे विवाह निश्चित हुआ। नाटक के अनुसार इस अपमान की सूचना मिलने पर रावण के नाना और मंत्री माल्यवान ने राम के नाश के लिए परशुराम का भड़काया। परंतु जनकपुरी में शतानन्द विश्वामित्र, जनक, धर्मिष्ठ, दशरथ आदि ने पहले शान्तिपूर्वक और फिर परशुराम के साथ शाली गलीच करके मामला निपटाना चाहा। जब फिर भी परशुराम ने मान तो उनका राम से युद्ध हुआ जिसमें परशुराम पराजित हुए। युद्ध सूचित किया गया है, नाटक में नहीं दिखाया गया।

इसके बाद फिर शूषणखा और माल्यवान ने राम की दण्ड चित्रकूट आदि भ्रष्टाने का षडयंत्र रचाया और इसके लिए शूषणखा मन्थरा का रूप बनाकर जनकपुरी पहुँची जहाँ उसने ककेयी की आर से दो बार भाग्य का पत्र लिया। परिणामतः राम आदि वहीं से वन चले गए। वन में माल्यवान के भेजे राक्षसों ने राम आदि को तण करने की कोशिश की। उनके पराजित हो जाने पर रावण सीता का से भाषा और उसमें अपनी पुरानी मित्रता की टुहाई देकर वाली में राम का नाश करने के लिए कहा। राम और वाली में लुना युद्ध हुआ जिसमें वाली मारा गया। मरने में पहले उसने सुग्राव का राम के हाथों में सौंप दिया। बाद में जाचार भ्रष्ट रावण की राम के हाथों पराजय हुई।

इस प्रकार भवभूति ने प्रचलित कथा का राजनीति और मानवीय रूप देकर नाटक के इतिवृत्त की रचना की है और अनेक भ्रष्ट घटनाओं का भाव के प्रवृत्तिगत

1. मित्रिण मन्थरापन्न करने के बाद चतुर्थ अंक, श्लोक १७ में थोड़ी थोड़ी पूर्ण और स्त्रियों को राम के पद चला दिया है।

दोष, ईप्स्या, द्वेष आदि के वारणा की भित्ति पर खड़ा किया है। यही तत्त्वसंगति उत्तर रामचरित म भी देखने का मिलता है।

भवभूति की भाषा में लम्बे लम्बे समास और वाक्यांशों का रूप और प्रवृत्ति के बड़े सुन्दर वर्णन मिलते हैं। वीर रस का नाटक हान से इनमें ओजस्विनी पदावली का प्रयोग उचित ही था। परन्तु लम्बे समास नाटक में ठीक नहीं रहते। अनुवादक ने इन लम्बे समासों और वाक्यांशों को छोटे छोटे वाक्यांशों का रूप दिया है और वक्तव्य का यथाशक्ति यथावत रखते हुए हिन्दी पाठक के लिए सुवाध बना दिया है। अभिनयता की दृष्टि से भवभूति की भाषा उत्कृष्ट नहीं कही जा सकती। अनुवाद इस मामले में मूल से अधिक प्रशंसनीय है। पर वाक्यरचना में अनुवादक ने भी अभिनयता का ध्यान नहीं रखा। वाक्यांशों में शिथिलता जहाँ तहाँ दिखाई देती है। सच बात तो यह है कि अनुवादक नाटक का अनुवाद लाक्षणिक के लिए मनुष्यशरीर धारण करने वाले प्रभु का कथा प्रस्तुत करने के लिए कर रहा है। इसके विपरीत, भारत-दुर्जी का ध्यान हिन्दी नाटक की वृद्धि करने की जान था।

परन्तु अनुवाद की भाषा को बहुत अधिक चलती या बातचाल की भाषा बनाने से कहीं कहीं बड़े खटकने वाले प्रयोग भी आ जाते हैं। इस अनुवाद में तीसरा अंश में परशुराम का जनक के प्रति यह वचन दृष्टि

जरे पाजी की पूछ, तू हम बरुआ कहता है खडा ता रह। इसका मूल रूप यह है जा दुरात्मन क्षत्रियापसद मामव बटुरित्यविक्षिपसि। ऐसी पंजाबी रचना में हलकापन लाती है।

इस अनुवाद में नाट्यविधान की धारिका का आर ध्यान नहीं किया गया। नाट्य के अनुवाद में तो पदसंख्या पर ध्यान दिया गया है और नहीं नाट्यपद द्वारा कथामुचन पर। श्रोताओं की प्रशंसा करने वाला वाक्य भी अनुवादक ने छाड़ दिया है।

प्रस्तावना में रचयिता कवि के उस परिचय के वाक्य जो मूल में दिया गया है, अनुवादक ने अपना परिचय भी जोड़ दिया है। भारत दुर्न भ्राता किंसा किंसी अनुवाद में ऐसा किया है और यह पद्धति संस्कृत नाट्यविधान के अनुरूप है। एक स्थल पर लाला सीता राम ने समकालीन सामाजिक भावना का ध्यान रखकर मूल से कुछ भिन्न अनुवाद किया है—ऐम अश का रूपांतरित अश कहा जा सकता है। उदाहरण के लिए तृतीय अंक के श्लोक २ का अनुवाद में मिलान कीजिए

सन्पश्यते वत्सवरी सर्पिष्यन् च पृच्छते।

आनिष्यथोत्रियगहानागताऽसि पुपस्वन ॥

—३२

प्रसंग यह है कि वसिष्ठ और विश्वामित्र परशुराम से कह रहे हैं कि भगवान् न करें। तू बंद का विज्ञान है और जनक अस वत्स के यहाँ जाया है। इसलिए तब उत्तम आतिथ्य करने के लिए बढ़िया मारकर और धीमे भाजन पकाकर तुम्हें खिलाएंगे। आतिथ्य को स्वीकार करके तू हम वृताम करें।

बढ़िया अर्थात् जवान गाय मारकर आतिथ्य करने की बात भवभूति ने उत्तर

रामचरित में भी वही है, पर यह विचार वर्तमान हिंदू भावना का सवर्षा विरुद्ध है। इस लिए अनुवादक ने इसे बदल दिया है।

अनुवाद दिया

रचा जाय मधुपक घी में पाक बन।

मोना आया मातिघर कर हम सगा प्रमन ॥

यहाँ 'मधुपक रचन' को बान रखकर अनुवादक ने अपनी सूझ-बूझ जीग माना जिस सवर्षागीतना का सुन्दर परिचय दिया है।

चतुर्थ अब मैं विष्णुधन के बाद दो दुश्मा का कम अनुवाद में पलट गया है। मून में पहले दारुध जनक, कमिठ, विद्वामिध बाना दश्य था और पीछे राम तथा परगुराम घाला। यही प्रम सगत और सुन्दर है। अनुवाद में पहला दृश्य पीछे भूल में हा गया दीक्षता है क्योंकि हमस जगति ही पदा हुई है।

इस अनुवाद में भाषांतरण की भूलें बहुत हैं। शायद इस कारण कि यह लालाजी का प्रथम अनुवाद है। भूनें 'गद्य और पद्य दाता' का भाषांतरण में दिखाई देती हैं। उदाहरण के लिए द्वितीय अंक का मालाँ दलोच में 'अर्थों विरोध' का अनुवाद ठीक नहीं हुआ। ऐसे और बहुत से स्थानों पर अनुवादक का प्रभाव दिखाई देता है।

लालाजी की भाषा परिभाषित और गिष्ट है और तत्सम शब्दों का प्रचुर प्रयोग पाते हुए भी तदभव शब्दों का प्रयोग करने की प्रवृत्ति अधिक दिखाई देती है। भाषा में प्रवाह और सरलता है और विनयता का वही दशन नहीं होता। पर तदभव भाषा का कुछ प्रयोग भाषा लटकत हैं। कुमार के लिए कुवरजी, बड़े भाई के लिए माम की जगह 'भ्रम' या 'दादा' भी कुछ अटपट मालूम होते हैं। कही कही राक्षस (राक्षस) जोग (योग) रीता, हारा (हस्ता) जस गवाह और शोक के (सोचकर) जस पड़िताऊ प्रयोग भी किए गए हैं। 'ब्रह्मांड' का भ्रमंड गायद पूम्जीराज रामो का प्रतिध्वनि है।

छंद प्रयोग में लालाजी ने विविधता बरता है जिसमें पद्य हुए लय परिवर्तन होता रहता है और नीरसता नहीं अनुभव होती।

या तो सुन्दर अनुवाद के अनेक उदाहरण दिए जा सकत हैं, पर छोटे अंक में लका रहन और मुष्ट का कथन विशेष रूप से उत्तुखनीय है। लकावहन का एक पद लिये

धूमि लखें सपटें चहु ओर लख जनु सायहु सा बदी जवाला।

जानि पर नहिं बीरन का कव धाम धरै हुन भौन बिसाला।

जानि के माना प्रले कर कान भज कर में भट हाय बहाला।

मिधु नरग रामान चहु दिशि लखहि नीलन जग्नि बराना ॥

दमका भूल रूप यह है

भाषा की सप्ताधिकाना प्रविदवदशन गविया चक्रवाल

द्राव्योराणाम नयप्रमनिरनिममुत्तपरोक्तासमेपु।

अधनुष्टोपसपद्रजनिचमटो गादकपा तशकु।

सङ्का प्रीतो दूनास सठ परिस्तिता अस्तिवृद्धन लोडे ॥

मृच्छकटिक

लाला सीताराम का किया हुआ यह चौथा अनुवाद है जो १८८६ में प्रकाशित हुआ था। मूल नाटक को ईस्वी सन से पहले की रचना माना जाता है और उपलब्ध संस्कृत नाटकों में यह प्राचीनतम गमभा जाता है यद्यपि इससे पहले की दो रचनाओं का भी पता चला है। इसका लेखक राजा शूद्रक को बताया जाता है। पर इसकी प्रस्तावना का वह अंग पोछे जाड़ा गया दीखता है जिसमें 'शूद्रकः।ग्नि प्रविष्ट (१४) लिखा है।

मृच्छकटिक रूपक का 'प्रकरण' नामक भेद है जिसमें दस अंक हैं। कथा का नायक चारुत्त एक धनाढ्य मठ है जो अधिक दान के कारण गराव हा गया है। नायिका वसन्तसेना स्वच्छन्द प्रणय की परम्परा में रहने वाली और वैश्या कहलाने वाली एक चरित्रनिष्ठ युवती है। कहानी का मुख्य विषय यह है कि ससार में धन और सत्ता का महान् चरित्र और सत्यनिष्ठा के सामने कुछ भी महत्त्व नहीं। वसन्तसेना धन और सत्ता के प्रलाभना को लात मारकर चरित्रनिष्ठ परतु निधन चारुत्त की वधू बनने के लिए अपने प्राणों का खतरा भी मोल लेती है और अन्त में उस सफलता मिलती है।

इस नाटक का ऐतिहासिक दृष्टि से बड़ा महत्त्वपूर्ण गिना जाता है। संस्कृत के नाटक नामक रूपको में नायक आदि बड़े बघाए ढर्रे के होते हैं। यह प्रकरण उस बड़े ढर्रे पर नहीं है और इसमें भारत के तत्कालीन सामान्य सामाजिक जीवन की एक भावी मिलती है। इनके पात्र जादू या टाडू पात्र नहीं हैं। अच्छे पाना में भी बुराईया हैं और बुरे पाना में भी अच्छाईया हैं। जुआ खेलने और सिलाने वाले भी इनमें हैं तथा वैश्या चार बौद्धभिक्षु का तबारी और राजसत्ता से सुरक्षित दुश्चरित्र लोग भी हैं।

इतिवृत्त मनारजक और कुतूहलजनक है और घटना विचित्र बौद्धानुप्राण है। सारे नाटक में वातावरण हलका और परिहासमय रहता है और भारी गम्भीरता नहीं अनुभव होती। शृंगार रस और हास्यरस के बड़े सुन्दर प्रसंग नाटक में आते हैं।

अनुवाक गद्य और पद्य में है और मूल में अनुसार चरता है। गद्य में लड़ी वाली और पद्य में सामान्यतया ब्रजभाषा है पर कहीं कहीं अवधी लिखाई देती है। मूल नाटक में संस्कृत के अतिरिक्त चार प्रदेशों की प्राकृत—गौरमेनी, आवन्ता, प्राच्या, और मागधी—तथा चार में से तीन प्रकार की अपभ्रंश—गङ्गारी, चाण्णसी और हवकी—का प्रयोग हुआ है।

अनुवाक में दृश्य का स्थान सर्वतः बर दिया है और प्रस्तावना की प्रस्तावना में संस्कृत नाट्यविधान का अनुमरण करते हुए अपना भी उल्लेख किया है। किसी किसी पद्य में इन्होंने अपनी छाप भूप भी रखी है जिस ३ ३ और भरतवाक्य के अन्तिम पद्य में।

अनुवाद पढ़ते हुए मौनिक रचना जमा लगता है। जहाँ अनुवाद करने में विशेष कोशल की अपेक्षा थी, वहाँ प्रायः कोशल दिखाई देता है पर कहीं-कहीं चूक भी हो गई है। चौथे अंक में वसन्तसेना की माता वाला प्रसंग परिहास की दृष्टि से सुन्दर बना है। ५ ६ में वन गन्ध का प्रयोग करके जल और जगल इन दोनों अर्थों का श्लेषनिर्वाह अनु

वादक का कुशलता प्रकट करता है। सबसे बड़ी बात यह है कि शब्दानुवाद या भाषा का यथावत् अनुवाद करने के स्थान पर सम्पूर्ण नाटक की भावना ध्यान में रखकर मूल के अर्थ को सशब्द किया है। हीन पात्रों के कथनां में लुगाई पनुरिया बाइ सरकार जस राजा का प्रयोग उन् पात्रों की सामाजिक सांस्कृतिक स्थिति की कुछ व्यञ्जना करता है। अदावत के प्रसंग में भाषासली उन् राजा में नहीं हुई गिलाइ दना है—यह अनुवादक के बात की अदावत की भाषा का नमूना समझना चाहिए।

भाषा सरल और सुवाच्य नाटकीयभाषा तथा प्रसगावित रखा गया है। कहीं-कहीं पूर्वोपन की भावना भी मिलती है जस माना (मुनार) मचना (सवा करना)। गद्य रचना पद्य का अपेक्षा अधिक समर्थ और सार्थक है। तुकारना (तू कहकर पुकारना) जस प्रयोग इसकी सूक्ष्म परिचायक है। पद्य में उन् की विविधता सीमित है और दोहा चौपाई का प्रयोग बहुत है जो हर जगह नहीं जचना।

कहीं-कहीं संस्कृत की व्यञ्जना या अभिव्यक्ति की उपयोगिता है। ५/२ में अनुवाद संगीतगान का अनुरूप नहीं बना। ६/१ में नीपन जयकार नष्ट हो गया। ३/१६ में पहले 'विभीषतपथ' दूकान बेचकर बन गया है चाहिए सामान लेकर। १/१६ का वाद 'प्रदोषवेतायामिह राजमार्गे गणिका बिटारचेटा राजबलाभावा पुरपा' का अनुवाद भी ठीक नहीं हुआ—रात की बेर सड़क पर रबी, बटमार राजा के संग भगू मव 'बटमार' मूल में नहीं है। 'बटमार' का अर्थ है राहजनी करने वाला। यहाँ तो बदमाशों और राजाओं के विलास महायका के लिए बिट और चेट शब्द हैं। अठवें अक्ष में जहाँ शकार बसतसना का मारना चाहता है वहाँ (नाटयन कण्ठे निपीडयन् मारयति वसत सेना निश्चेष्टा मूर्च्छिता पतति) का अनुवाद किया है 'गला घाटकर मार डालता है। वस्तुतः ठीक अनुवाद यह होता—गला घोटता है वह मूर्च्छित होकर गिर पड़ती है।

इसके अनुवाद के दो नमूने नीचे दिए जाते हैं। अक्ष दो व आरम्भ में—

(क) मन्त्रिका—आर्ये स्नह पृच्छति न पुराभागिता, तत्किंविदम् ?

अनुवाद—मन्त्रिका—बाई जी, कसूर माफ हो, मैं नहीं जानता, एक बात पूछनी है—राजका आपका क्या हाल है ?

(ख) एतस्मात्तस्मात्तपत्रमलिनरापीतगुणम् ।

वन्मीका शरतादिता इव गजा सीमिति धाराहता ।

विद्युत्तावनदीपिविव रचिता प्रासात्सचारिणी ।

ज्योत्स्ना दुबलभन वेज विनिता प्रात्माय मपहृता ॥

—५२०

अनुवाद—

भीम तमाल के पानन से घन छाये सरी रवि तेज निवारी ।

दोमक के धुम बैठते हैं गंधार पर गज को छवि घारी ।

बचन दीपक सा बिजरी जनु भूमत है पुर ऊंची बटारी ।

मधन दयो जु हाइहरी जिमि नीर की जबर मिलि नारी ॥

चौथा अध्याय वर्तमान काल (१९०१-१९६४) के अनुवाद

ईसा की बीसवीं शताब्दी के आरम्भ से आज तक मसूत नाटकों के जो हिन्दी अनुवाद हुए वे सरया और विविधता दाना की दृष्टि से पहले से आम निकल गए। सत्रह नाटक तो पहली बार दसरी काल में अनूचित हुए जिनमें से ग्यारह नाटक महाकवि भास के थे। भास के नाटक पहली बार १९१० में प्रकाश में आए थे। इस काल में अनुवादों की कुल सरया सत्ताइस थी। इनमें में सत्रस अधिक अनुवाद मध्यम व्यायोग के हुए—इनकी संख्या सात थी। इसके बाद अभिमानशाकुंतल मृच्छकटिक और स्वप्नवासवदत्ता का नम्बर रहा—इन तीनों के पांच पांच अनुवाद निकले। मालविकाग्निमित्र, उत्तर रामचरित दूतवाक्य, पंचरात्र और प्रतिमा के चार चार तथा प्रबोधचंद्रोदय प्रतिभा, मुद्राराक्षस और कुट्टमाला के तीन तीन अनुवाद हुए। मासतीमाधव, रत्नावली, वैष्णो सहार नागानन्द, प्रतिभायौगव्यरामण और ऊहभग के दो दो और पावतीपरिणय भक्त-हरिनिर्बंद अभिषेक, कणभार चारुदत्त प्रियर्णिका, दूतघटात्कच और दूतागद का एक एक भाषांतर हुआ। इस प्रकार मसूत नाटकों के हिन्दी अनुवादों की धारा इस काल में और बलवती हुई।

रचनाशैली की दृष्टि से इस काल का आरम्भिक भाग 'सक्रमण' का काल दिखाई देता है। इसमें भारतेन्दुनाथ की परिपाटी पर खड़ी बोली गद्य और ब्रजभाषा पद्य में भी रचनाएँ हुई गद्य में खड़ी बोली का भी प्रयोग हुआ तथा सम्पूर्ण गद्य में भी अनुवाद किए गए। ब्रजभाषा पद्य में बिया गया एक अनुवाद तो १९३६ में प्रकाशित हुआ—यह 'वैष्णो सहार' का दूरदयालुसिंह का अनुवाद है। पर १९२५ के आरंभ के अधिकतर अनुवादों का ते खड़ी बोली की ही अपन अनुवादा का माध्यम बनाया जा रहा था गद्य में हुए या पद्य में।

अनुवादों का उद्देश्य साहित्यिक और सांस्कृतिक रहा। आरम्भिक वर्षों में हिन्दी साहित्य की अभिवृद्धि का लक्ष्य भी था पर बाद में, जब हिन्दी में मौलिक रचनाओं का बमी न रहा अनुवादों में मसूत नाटकों के सांस्कृतिक महत्त्व और काव्यचेतना की विशेषता के कारण अनुवाद करते रहे। मध्य की दृष्टि रखने वालों में बचने में मिश्र (भक्त हरि निर्बंद) और वागीश्वर विद्यालंकार (कुट्टमाला) के नाम उल्लेखनीय हैं। यणानुहार के आधार पर यन्त्रीनाथ मट्ट ने 'कुखनदहन' की रचना की। सत्यव्रतसिंह ने मृच्छकटिक के राम राघव कृत अनुवाद का आधार बनाकर एक मधोपयोगी रचना तैयार की।

अधिकतर अनुवाद भाषान्तर वाली म हुए। किसी किसी न मूल नाटक के रूप में ही हेर फेर भी किए, पर ये रचनाएँ अधिक महत्व न पा सकीं।

रमब्रजना, अलवार, गार्ग्यविद्याम आदि की दृष्टि से अधिकतर रचनाएँ अच्छे गद्य में गिनने योग्य हैं। भाषाशास्त्री समय के साथ कुछ अधिक तत्सम हो गई पर ये रचना भारत-दुरास से अधिक व्यवस्थित चूसन और परिभाषित हो गई। पद्य तो भी बहुत दुर्लभ और उनमें परम्परागत छंदा से बाहर गारगर् नई सयमाश्राप्ता की तो भी हुई।

१९०१ की राजनीतिक स्थायीता के परिणामस्वरूप दशरामिया म जो नई चेतना में, उनका प्रभाव अनुवादों पर भी पड़ा। प्रकाशना न अच्छे सफ़ूत नाटकों के अनु-करण का मूल बिधा और पिछले १०-११ वर्ष में अभिमान 'गुरु'तल प तीन अनु-प्रकाशित हुए, और मृच्छकटिक के दो अनुवाद निकल।

इस काल में उत्तमजनीय अनुवादकों में वचनग मिथ विजयानन्द निपाटी, अनारायण शिरिल, योगेश्वर मित्रालवार बलदेव गारगी, विराज, रायच राघव, वतनरण उपाध्याय और इन्दुगार हैं। मधुनीशरण गुप्त के भी स्वप्नवासवदत्ता (१९१६) और द्रुतघटांकन (१९१६) के अनुवाद इस काल में प्रकाशित हुए। हरग्यानु इन कई अनुवाद किए। हाल में मृच्छकटिक का माह्न राखन का किया अनुवाद भी मिला है जिसमें पद्य के स्थान पर गद्य, अनेक छाटा छाटी पंक्तियाँ म रखकर गद्या किया गया है। इन्होंने मंच की सुविधा का ध्यान रखने का मन्त्र किया है।

समय में यह काल अनुवादों की संस्थावद्धि और विविधता की दृष्टि से भारत-दु-ल से धाम बना है। जो भी अनुवाद हुए उनकी मंच पर परीक्षा के अवसर अधिक न-ए। पर मंच प्रबंधकों और अनुवादकों का ध्यान इस जोर बाकपित अवश्य हुआ है। इन काल वर्षों में हम दिशा में जोर अधिक प्रगति हान का आगा करनी चाहिए।

जो कुछ अनुवादकों और उनके अनुवादा पर टिप्पणियाँ भी गई हैं।

बाबूलाल मायाशकर दुवे स्वप्नवासवदत्ता (१९१३)

बाबूलाल मायाशकर दुवे राजनदमाव (विदम) के रहने वाले थे, जो अब महा-प्रदेश राज्य के अंतर्गत है और उनका समय में मध्यप्रदेश के अंतर्गत था। इन्होंने महाकवि-स के स्वप्नवासवदत्तम् का अनुवाद मन्त्र सफ़ूत नाम रखकर माघ गुक्ता चतुर्दशी, प्रथम सवन् १९७० (ईस्वी १९१३) में प्रकाशित किया था। इस अनुवाद के बारे में एक-दूसरे जनीय बात यह है कि भास के तेरह नाटक १९१२ में ही प्रकाश में आए थे। एक वर्ष उसका अनुवाद हिन्दी में प्रस्तुत कर दिया उनका तत्परता का सूचक है। आज पचास-पचास वर्ष भी अनेक भाषाओं की उत्कृष्ट रचनाएँ हिन्दी में इतनी जल्दी नही आ पातीं।

अनुवाद से पहले एक संक्षिप्त परिचयात्मक भूमिका में भास के नाटकों के प्रथम-प्रकाशकों और सम्पादकों या गणपति गारगी के तत्ता के आधार पर भास के काल-नयन का निरूपण किया गया है। भास की रचनाओं का वाचिदाम आदि पर प्रभाव

दिवाने का यत्न भी किया गया है, और भास की रचनाओं में आनेवाली संस्कृत सूक्तियाँ विस्तार से दी गई हैं। ये सूक्तियाँ बड़ी सुंदर और हृदयग्राहिणी हैं। भूमिका के बाद नाटक के छद्म अंकों का ब्यासार्थ हिंदी में दिया गया है।

अनुवाद गद्य और पद्य दोनों में हुआ है। गद्य में तो सब ठीक वाला हिंदी का परिभाषित रूप प्रयुक्त हुआ है पर पद्य में आपन कहाँ ब्रज वही उड़ी गीत कही दो तो ये मिश्रण का प्रयोग किया है। यह अव्यवस्था जल्दबाजी के कारण हुई दीखती है और इससे रचना में सौंदर्य की क्षति हुई है। अथवा इनका छंद रचना प्रायः निर्गुण और सुंदर है।

मूल रचना के मूलश्लोक का अनुवाद इन्होंने इसलिए नहीं किया कि उसमें क्या के नायक, तथा नायिकाओं का जो नामांतरण है वह अनुवाद में जग का तमा नहीं जा सकता था।

भाषा तत्सम प्रधान है और मुहावरों शिष्ट तथा प्रौढ़ है। पर कई जगह पंडितानुसंग प्रयोग हो गए हैं। मूल संस्कृत गानों का अनुवाद में रक्षित हुए इस बात पर भी ध्यान नहीं दिया गया कि इन गानों का हिंदी में भिन्न अर्थ होता नहीं है। सतिषा के लिए संस्कृत में परिवार शब्द का प्रयोग होता है पर हिंदी में परिवार शब्द पत्नी बच्चा आदि के समूह के लिए होता है। अनुवादक ने हिंदी में भी इसका प्रयोग सतिषा के लिए किया है। इसी प्रकार क्या मुझे भी सापमान हटना होगा दक्षिण अर्थात् देवता का तिरस्कार इसीको कहते हैं जन्मे वाक्य बहुत मिलते हैं। शायद मराठी प्रभाव में हम ने अथ में अपने गान का प्रयोग किया है। कही कही छंद की आवश्यकता पूर्ति के लिए गानों की तो मरोड़ भी की है, जिस उगत के स्थान पर ऊगते, भाइ। अनुवादा सुंदर हुआ है पर वही कही स्वतंत्रता भी बगती गई है। ब्रज में रचे गए गीत बड़ मनाहारी हैं। छंदों में गाना चौगई भी है और संस्कृत के गानूस्विकीर्तित का प्रयोग भी। छंद रचना में इन्होंने अच्छी सफलता मिली है। छोटे अंश में इनका एक गान का एक अंश देखिए

श्रवण मुखरागी गाने तिहारो।

छाडि जघन कुच-युगत प्रिया के जह मुख गगन सवारो।

गगन रज बिखरत भयकर बन में सहकृत वदन बिगारो।

भज भरि भेंटि वार धट तोही गुर नितब पर धारो।

दृढ़ कुच धांच स्वद वर सुमिरत मुख मुखहास पियारो।

बाजन धीध विरह दुख में मुहि कह क बार पुकारो।

नह होन जसि सुमरमि तो नहि तपसिन परम टुलारो ॥

इसका मूल रूप यह है

धुनिमुखनिनन् । कथं नु न्या

स्मनयुगल जपनस्थले च मुप्या ।

विहगगणरजाविकीर्णदण्डा ,

प्रतिभयमध्युपितास्यगण्यवासम ॥

अपि च, अस्मिन्वासि घापवति । या तपस्वि या न स्मरति

श्यामीमृदहनपाश्वनिपीडितानि ।

खेदस्तना तरमुखा युपगृहितानि ।
उद्दिश्य मा च विरहै परिरेवितानि ।
वाद्या तरेषु कथितानि च सस्मितानि ॥

—१५—

प० विजयानन्द त्रिपाठी 'श्रीकवि'

प० विजयानन्द त्रिपाठी श्रीकवि विद्यारत्न के दो अनुवाद एक रत्नावली नाटिका का और दूसरा 'मालविकाग्निमित्र' का प्रकाशित हुए हैं। इनमें से पहला खडग विलास प्रस से और दूसरा ग्राम बबुरा जिज्ञा आरास प्रकाशित हुआ था। मालविकाग्निमित्र के अनुवाद की भूमिका से पता चलता है कि इन्होंने प्रियदर्शिका प्रमोदचन्द्रादय आदि कुछ अन्य सस्मृत नाटकों का भी अनुवाद किया था जो लगता है साधनाभाव से प्रकाशित न हो सका।

त्रिपाठीजी बिहार के निवासी थे और ब्रजभाषा के अच्छे कवि थे। इनकी छाप या उपनाम श्रीकवि था। प० रामचन्द्र शुक्ल ने इतिहास में इन्हें रामकृष्ण मठली क कवियो में बताया है। इनके दोना अनुवाद देखने से पता चलता है कि सस्मृतभाषा का इन्हें अच्छा ज्ञान था। मूल में जहाँ जान-बूझकर श्लेष द्वारा दो अर्थ रखे गए हैं वहाँ सबत्र इन्होंने अनुवाद में भी सुंदर रीति से श्लेष का निर्वाह किया है। इनके अनुवादों में गद्य खड़ी बोली में और पद्य अधिकतर ब्रजभाषा में है—मालविकाग्निमित्र के अनुवाद में पद्य में खड़ी बोली भी मिलती है और कई पद्या में खड़ी बोली और ब्रजभाषा का मिला जुला प्रयोग हुआ है। इन्होंने गद्य में स्थानिक शब्दों का प्रचुर मात्रा में प्रयोग किया है जिनमें से कुछ य हैं वमी, डटिया, बलया बायन, खुदुफार टिहुकनी बायसी जगलगी, नहिए।

अनुवाद में कहीं-कहीं कुछ वाक्य, जो मूल में नहीं थे अपनी ओर से भी जोड़ गए हैं। ये असा प्रसंग के प्रतिकूल तो नहीं हैं पर इन्हें जोड़ने के लिए न तो कोई उचित कारण है और न इनसे मूल के सौंदर्य में कोई वृद्धि हुई है। अनुवादक की इस प्रवृत्ति का प्रसास नहीं की जा सकती।

इनकी भाषा गिष्ट और प्रौढ़ है पर पंडिताऊपन की झलक भी जहाँ-तहाँ मिलती है। निगूढकोपानुबध, तसवीर लिखना, पामवर्ती कुशली हैं न ? जस प्रयोगा स भाषा की सफाई में कुछ कमी का पता चलता है। वहीं-वहीं प्रिय प्रवास जसी सस्मृत पद्यावली का प्रयोग हुआ है। गद्यों का परिवेश शिष्ट या प्रसंगाचित है। स्त्रियाँ के मुख से निगोडा, भक्त्यास, पेटुदास, भुवखडदास, वमना (वाम्भून या ब्राह्मण), भुस्सा कुट्टन जैसे राज् प्रयोग भाषा-शाली के मामले में इनके पात्रगत औचित्य के बाध के परिचायक हैं।

इनका शब्दों के लिंगा का प्रयोग कई जगह खटकने वाला है। उदाहरण के लिए, मेल और दद दद दद इन्होंने स्त्रीलिंग में प्रयुक्त किए हैं और ऐंठ तथा शपथ पुस्तिय में। इसी प्रकार दिखाना के स्थान पर देखाना, 'ठकुरसुहाती' के स्थान पर 'ठकुरसोहाती' जैसे प्रयोग किए गए हैं। इन दोनों बातों से भी स्थानीय प्रभाव लक्षित होता है।

एक और दृश्य समाप्त

मन्दलालन्ता नाति की निवारा निवयया ।

तथा विप्रदृश्यव सममन्त्रा मविजया ॥

— ११ —

अनुवाद—

मह यनिवारा की निवारा मालमयी विनाति ।

सतनु ब्रह्मविद्या मतिव यया सग्नि मम भाति ॥

प० वचनेश मिश्र

पठित वचन मिश्र ने मन हरिनिर्देशम का अनुवाद १९१२ ई० (१९६६ वि०) में किया, जो कानाकाकर से प्रकाशित हुआ था ।

मूल नाटक मिथिला के हरिहर उपाध्याय द्वारा रचा गया है जिसका समय १५वाँ शताब्दी का अन्तिम भाग समझा जाता है । यह पाँच अंकों का छान्दासा नाटक है जिस कवि ने गान्धर्व का नाटक बना है । इसमें राजा मन हरि को बराम्ब हाने की प्रसिद्ध कहानी है जो साङ्गवानाभा में दूसरी प्रचलित है । कहानी संक्षेप में यह है कि राजा मन हरि में उसकी रानी उत्पत्तिक प्रेम रखता थी । एक बार राज्य में उसका प्रेम का परीक्षा करनी चाही । उसने जगन्धर अहा वह शिकार खेलन गया था यह झूठा खबर राजधानी भिजवा दी कि राजा का बाघ ने मार डाला । यह सुनकर रानी ने शोक से प्राण छोड़ दिए । यह पता चलने पर राजा रानी के वियाह में पागल हो गया । उस समय एक यात्री राजा का निवास गया जो अपनी तुम्बी पूट जाने के कारण बिलाप कर रहा था । राजा ने उस वस्तु को धनमगुरना समझाते ही उसे बिल्ला जिसपर यात्री ने जो गोरमनाथ के स्मरण राजा का पर उपरान्त कुशल बहुत कर । अतः राजा को उत्तम पान हो गया । इनके बाद गोरमनाथ ने रानी का शयनकक्ष में प्रवेश कर दिया । राजा को आश्चर्य करने के रानी के अनेक प्रयत्न विफल हो जाने पर रानी के लज्जा का राज तिराज कर दिया गया और राजा विरक्त होकर चला गया ।

पठित वचन मिश्र ने इस नाटक का अनुवाद अपने परममित्र और स्वामी राजा रामेश्वर का निजकी जकात मध्य से बहुत सुती हुए थे सक्षम पूरा करने के लिए किया । प्रकाशना और भरतनाथय म कवि के नाम के माध्यम से अपने नाम भी अनुवाक के रूप में रखा है ।

अनुवाद पूरा तथा गद्य और पद्य में है । किसी किसी श्लोक का छोड़कर 'उप मर' 'मोर' पद्य में है । गद्य का भाषा सही बानी और पद्य की भाषा कहीं खरी बोली तथा बहाना मिथित मिलता है ।

नाट्यविधान की दृष्टि से देखें तो इन्होंने प्राकृतभाषा पात्रा योगा और दामा की भाषा गिट भाषा में भिन्न रखा है । दामा की भाषा में बरा मन्त्र हूँ मरा दंड आदि पूरवी प्रयोग किए हैं । योगी का कथन भी 'हानी' गयी में रखा गया है 'तुम याके गुना की नहीं जानो हो ।

इनका अनुवाद सुन्दर है। प्रायः सार अनुवाद में भाषा हल्की और शिष्ट है। पद्य भी अधिकतर अच्छे वन हैं। इनकी भाषा शली और पद्य रचना पर इस बात का स्पष्ट प्रभाव है कि इन्होंने यह अनुवाद काताकाकर की जाज पियटिकल कम्पनी के खेलने के लिए किया था। इसीलिए उद्गू गद्या का प्रयोग तो है ही कइ श्लोकी की विधेटिकल दग के गाना में बदल दिया गया है। एक गान की टेव है, 'गुलाम मरी प्यारी, मैं तो हू तेरा गुलाम'। कुछ पद्य भी उद्गू में प्रचलित तर्जों पर हैं और देहाती गीता का टरा भी है।

'यारा दिल दीवाने की तण्णा नहीं जाती,
नहां जाता नहीं जाती।

—जैसे गाना से अमानत की 'इदरसभा का ध्यान आ जाता है। एक गीत पर राग सनत भी किया है।

गद्य में अनुवाद में वही कही मूल के शब्दों का अर्थ ठीक नहीं समझा गया, जैसे ब्राह्मण परतन्तया—ब्राह्मणा की परतन्तया से। मूल का मतलब था 'ब्राह्मणा द्वारा बताए गए अनुष्ठान में मगने होने की विवशता के कारण।'

कुल मिलान पर अनुवाद सरवालीन मच की आवश्यकताओं के अनुरूप और सुन्दर हुआ है। चलने के लिए हान के कारण भाषा सरल और नाटकीयपयोगी है और मूल का निष्ठापूर्वक अनुसरण करने पर भी अनुवाद में ता कही बाधित हुआ न अस्पष्ट हो। ब्राह्मणभाषी पानों के कथनों का गिण्ट स्तर में भिन्न स्तर पर रखकर अनुवादक ने नाट्य-कला के प्रति अपनी सजगता का परिचय दिया है। इनका एक पद्य और उसका मूल नीचे दिया जाता है

मूल— काति वताम्यति कुङ्कुमादपि परिगन्ति सजाप्सूडया।
दृष्टा ताम्यति गशिरादपि रवेमस्यास्तवेय तनु।
सव त्व भसिताचिता बत चितादुगारुभिदारणी-
गकाना गहनोत्तरिदहनोमादे कथ स्पाम्यसि॥

—२६

अनुवाद—
कुकुम की चोट हू ते हाति जो ममीन काति,
हार हू के भार थम पाय सिपिलातरी।
मिमिर के मूर ॥ को आतप लगते बहो,
तरी जो य दह सुकुमारी मुरझातरी।
हाय हाय मोई चिता भमिताचिता पैं जीन,
दारन महाम दुरदाह भरी छातरी।
दहन गहन पार ज्वालन के जाल बीच
राकत न कोई यह काह घरी जान रा॥

पण्डित सत्यनारायण 'कविरत्न'

सत्यनारायण 'कविरत्न' ने 'उत्तररामचरित और 'भालतामाधव' के अनुवाद किए हैं। कविरत्न जी आगरे से डब कोस पर ताजगज के पास घाघूपुर नाम गांव के रहने

धाने थे और ब्रजभाषा के अच्छे कवि थे। आपका अंग्रेजी और संस्कृत के साहित्यो से अच्छा परिचय था और आपने मैकाल के अंग्रेजी खडकाय 'होरेसम' का भी पद्यबद्ध अनुवाद किया था।

कविरत्नजी स्वयं कवि तो थे ही, नाट्य विद्या की बारीकियां ने भी परिचित थे। इसलिए इनके अनुवादों में मूल रचना की नाट्यविद्या में मज्जी विनिष्टताओं का यथोचित समावेश प्रायः दिखाई देता है। गड़ हो, या आम-त्रण शब्द — इन्होंने मूल की विशेषताओं का भरसक ध्यान रखा है, यद्यपि आम-त्रण शब्दों में कहीं कहीं चूक दिखाई देती है।

इनकी पद्या की ब्रजभाषा गद्य की छोटी बोली की अपेक्षा अति सरल प्रचुर और चलती हुई है। गद्य में कहीं कहीं कुरुक्षता आ गई है पर फिर भी मूल लेखक भवभूति के गद्य की क्लिष्टता को देखते हुए यह कहीं सरल है। ब्रजभाषा के स्थानिक शब्दों का प्रयोग कुछ खटवता है विशेषरूप से आजकल जबकि छोटी बोली हिन्दी का पाठकबल बहुत विस्तृत हो गया है। साधारणतया ब्रजभाषा के कवि—चाहे वे ब्रजमंडल के ही निवासी हों—कायपरम्परा में प्रचलित ब्रज शब्दों का ही प्रयोग करते रहें, ब्रज के केवल स्थानबद्ध शब्दों का नहीं। इनकी भाषा में लक्ष्मणसिंह भारतेन्दु और सीताराम 'भूप' की भाषा से अधिक ब्रजपना भव्यता है।

इनके भाषा-तरण में कहीं-कहीं संस्कृत की ठीक-ठीक न समझने की भूलें मिलती हैं पर अपेक्षाकृत कम। एक गलती की ओर विशेषरूप से ध्यान जाता है जिसका सम्बन्ध मूल लेखक की भावना से है। मूल लेखक ने अपने दोनों नाटकों 'महावीरचरित' (जिसमें राम के लका से अयोध्या लौटने तक का कथानक है) और 'उत्तररामचरित' में राम के जीवन की वाल्मीकीय रामायण के अनुसार लौकिक पुरुष के जीवन के रूप में चित्रित किया है। अनुवाक ने राम को 'भगवान राम' कहकर वाल्मीकि और भवभूति के प्रेरणा प्रद मानव चरित पर अपनी अवतारवादी आस्था का आरोप कर दिया है। जो राम अपनी पत्नी के प्रेम में पूरी तरह लिप्त है उससे वियोग में फूट फूटकर राना है पर फिर भी अपने राज कर्तव्य का निभाता है वह धीरोन्मत्त मानव 'राम' है, लीलामय कल्पित 'राम' नहीं। वह वाल्मीकि का 'आय राम' है तुलसी का साहब राम नहीं। कविरत्नजी से पहले सीतारामजी भूप ने भी अपने महावीरचरित के अनुवाद में भवभूति के राम को तुलसी का राम बनाने की भूल का थी। महावीरचरित के सातवें अंक में दो श्लोक (७२ और ७३३) राम के अवतार हान का सक्षत तत्त्व करते प्रतीत हान हैं पर नाटक की सारी भावना को देखते हुए इनमें से पहले में 'मानात्पुरुष पुराण' और 'अवतीर्णा शब्द ही वास्तव में यहाँ यह जग दत्त हैं। ७३३ तो पूरी तरह राजा पर लागू होता है। ७२ को तथ्य बयन के स्थान पर भावना की अभिव्यक्ति मानना अधिक प्रसंगिक है।

अनुवाद में जनेव श्लोकों की गीता का रूप दलिया गया है—नाटक चलने की दृष्टि से यह योजना बड़ी भुत्तर है। यह गीत बड़े मधुर हैं और इनसे नाटक में जान पड़ गई है। मसृष्ट नाटक में, जो भावुकतापूर्ण बयन गेय पर बनकर अच्छे गीत हैं उन्हें सामान्य श्लोकों में ही रखा जाता है और गेय पर संगीत का हिस्सा समझे जाते हैं, जिन

प्रस्तुत करने का दायित्व नाटक लेखक का नहीं होता। कविरत्नजी की गीत रचने की पद्धति आधुनिक हिन्दी फिल्मों की पद्धति की ध्वनि है। यह पद्धति राजा लक्ष्मणमिह न प्रचलित की थी जिन्होंने राग सकेत भी किया था। बाद में भारतन्दु ने भी इसे अपनाया और कुछ अंश में सीताराम ने भी।

कविरत्नजी ने अपने दोना अनुवादों में छन्द की बड़ी विविधता रखी है और सबमें अच्छी सफलता पाई है। सम्पूर्ण में प्रचलित छन्दों में रचना करने में भी आप उत्तम हैं। कुशल हैं जितने हिन्दी में प्रचलित छन्दों में।

अपने दोना अनुवादों से पहले आपने भूमिकाएँ दी हैं जिनमें मूल लेखक और नाटक का कुछ परिचय दिया गया है। कविरत्नजी ने नाटक में तत्कालीन सामाजिक परिस्थिति के विषय में जो निष्कर्ष निकाले हैं वे उनके भालेपन के ही परिचायक हैं। 'उत्तररामचरित भूमिका' में पृष्ठ ६ (प्रथम संस्करण भारती नवन १९७०) पर आप लिखते हैं "इनके प्राचा से विनित होता है कि तब तक स्त्रीशिक्षा पाप नहीं माना गई थी और न पदों का ही प्रचार था।" वस्तुतः भवभूति रामायण की कथा प्रस्तुत कर रहे थे। उस कथा के समय की सामाजिक परिस्थितियों के बारे में उनकी जो धारणा थी, यही उनके नाटकों में वर्णित है। स्त्री शिक्षा और पदों को ही से लीजिए। अन्त में सीता आदि स्त्रियों को भवभूति अपने युग की नारी के रूप में नज़र रख रहे हैं—इसलिए इनकी शिक्षा में यह अनुमान लगाना सगल नहीं कि भवभूति के समय नारियों का शिक्षा पाना सामान्य बात थी। जहाँ तक पदों का सम्बन्ध है वहाँ तो भवभूति कथा, कालिदास के समय भी कुछ न कुछ प्रचलित था। शाकुन्तल में गीतमयी आदि के साथ शाकुन्तला नव दुष्यंत के दरबार में गई, तब वह पदों ही किए हुए थी। भवभूति ने भी महावीर चरित में स्पष्ट किया है (अंक २ के गुरु में परशुराम के आन पर राम का सीता से कथन) 'एतदपि गुरुवः। अवगुणपारमानम।'।

इनके दोना अनुवाद मूल महाकवि भवभूति की रचनाएँ हैं। महाकवि भवभूति का जन्म आठवीं शताब्दी में विद्वान्प्रदेश (वर्तमान महाराष्ट्र राज्य के अन्तर्गत) हुआ था। इन्होंने अपने माता पिता का कुछ परिचय अपने नाटकों की प्रारम्भिकता में दिया है। सहज साहित्य में इनकी गणना कविकुलपुरुष कालिदास के साथ ही की जाती है। इसमें इनके महाकवि का कुछ अनुमान हो सकता है। इनके उत्तररामचरित का कालिदास का रचनाओं से भी बँकर मानने वाले रसिक भी हुए हैं।

रामायण के कथानक को लेकर इन्होंने महावीरचरित और उत्तररामचरित इन दो नाटकों की रचना की है। प्रतीत होता है कि पहले इन्होंने जीरम्भ में महावीर चरित का रचना की पर जिज्ञाना ने उसकी विशेष प्रशंसा नहीं की। इसके बाद शृंगाररस में मालतीमाधव की रचना की और उसमें एक दृष्टांत में यह कहा कि जो लोग हमारी रचना का आनन्द नहीं करते उनको तब ही हम नहीं लिख रहे लेकिन इस विस्तृत धरती के किसी कान में कभी न कभी हमारी रचनाओं का आनन्द करने वाले अवश्य पदा होंगे। काल ने उनके इस आत्मविश्वास को अक्षरशः सच्चा प्रमाणित किया है। भवभूति ने अपने आपका व्याकरण भीमासा और याय का पण्डित (पञ्चावयवप्रमाणन) बनाया है। वस्तुतः

य विद्वान् ही नहीं, बड़े विचारक भी थे। इनके दोना नाटको के इतिवत्त से पता चलता है कि रामायण की कहानी की कुछ स्पष्ट असंगतियाँ की ओर इनका ध्यान गया और इन्होंने नई उदभावनाओं द्वारा उन्हें तत्त्वसंगत बनाने का प्रयत्न किया। उदाहरण के लिए, राम और रावण के विरोध का मूल क्या था ? इस प्रश्न का उत्तर इन्होंने इस रूप में दूँदा है कि रावण ने सीता व पाणिग्रहण के लिए प्रायश्चना की थी जिसे जनक ने बुरी तरह ठुकरा दिया।

इसी प्रकार उत्तररामचरित में इन्होंने इस समस्या को हल किया है कि यह कस सम्भव हुआ कि राजमहल में माता कौशल्या के विद्यमान होते हुए राम ने सीता को घर से निकाल दिया, और सारे राजमहल में किसी बड़ महिशा ने इसका विरोध न किया। इसका लिए इन्होंने एक ऐसे तथ्य का उपयोग किया है जिसका ध्यान बचपन से रामायण पढ़ने वाला का भी नहीं रहता। राजा दशरथ के चार पुत्रों का साथ-साथ एक कन्या भी थी जिसका नाम गीता था। वह राजा रोमपाद का गोद दे दी गई थी और उसका विवाह ऋष्यश्रुत ऋषि से हुआ था। इन्हीं जामाता व यहाँ बारह वर्ष तक चलने वाले युग में भाग खने सब रानियाँ गई हुई हैं—पूणगर्भा होने व कारण सीता वहाँ नहीं जा सकी और सीता के मनाविनोद के लिए ही राम का भी वहाँ छोड़ दिया गया है। उन बड़ माताओं के घर न होने से ही राम ऐसा अनपकारी काम कर सके।

कसी सुन्दर और पारिवारिक दृष्टि से जचने वाली उद्भावना है।

भवभूति ने मानव रूप और प्रकृति—वन, पर्वत, नदी आदि—को बड़े सुन्दर और हृदयग्राही चित्रण किए हैं। उनकी भाषा समानबहुल न होती ता ये चित्र और भी मना हारी बन जाते।

उत्तररामचरित में कृष्ण रस का अच्छा परिपाक हुआ है और भवभूति के इस काव्यकौशल को जनक रसिका ने अपनी श्रद्धाजलि अर्पित की है। श्री मधिलीशरण गुप्त ने साकेत में लिखा है

करने तू क्या रोती है ? उत्तर में और अधिक तू रोइ।

मरी विभूति है जा उसका भवभूति क्या कह बाई ?

भवभूति ने सीता और राम के दाम्पत्य जीवन की विदग्धभावना और परवसता को जितनी मार्मिकता से प्रस्तुत किया है उसने उनका नाम साहित्य में अमर कर दिया है। हज़ार वर्ष से अधिक गुज़र जाने पर भी उनकी कीर्ति पताका जसी की तमी पहना रही है।

उत्तररामचरित

इस नाटक का संस्कृत नाम 'उत्तररामचरितम्' है। यह सात अंका का नाटक है और इसका इतिवत्त सीता व निवासन व विषय में है। यह अनुवाद १९१३ ई० (१९७० वि०) में भारतीयभवन, फीरानाशान, आगरा में प्रकाशित हुआ था और अब दुर्लभ है। अनुवाद खड़ी बोली गद्य और ब्रजभाषा पद्य में हुआ है।

नाट्यविधान की दृष्टि से देखें तो अनुवादक ने नाट्य के शास्त्रीय रूप की उपेक्षा की है, शायद अनुपयोगी सम्भार पर एक गड़ का बड़ी चतुराई से निर्वाह किया है।

इस गढ़ का प्रसंग यह है

१ ३८ म राम साईं हुई सीता को देखकर उसने प्रति अपन प्रेम की वान करत
हृण कह रह है

इय गह लक्ष्मीरियममतवर्तिनयनया

रसावस्था स्पर्शो वपुषि बहुनश्चदनरम ।

अथ बाहु कण्ठे गिरिरमसणा भौत्तिकसर

किमस्या न प्रेयो यदि परमसह्यस्तु विरह ॥

— १८

(प्रविश्य)

प्रतीहारी—देव । उवटिठो (देव ! उपस्थित)

राम —अपि क ?

प्रतीहारी—आसणपरिआरओ देवस्स दुम्मुहो (आमन्त्रपरिचारको देवस्य
दुमुख)

यहां इनाक के अंतिम पद 'विरह' का सम्बन्ध अनायास ही प्रतीहारी के कथन
के साथ जुड़ जाता है और विरह देव उपस्थित बनकर कुछ ही समय बाद होन वाली
घटना—सीता विभाग का—भविष्य बन जाता है, यद्यपि उपस्थित का सम्बन्ध बाद
वाले दुमुख का सभा । अनुवादक ने इस घटिका को समझा और श्लोक का अनुवाद
करते हुए ऐसी रचना की जिसमें वियोग का अंत म आया ।

गह का यहि गहलच्छिमी पूरन मुखमा-साज ।

अमत सराई सुभग यहि इन नयनन क काज ।

तन परमन एही लग अनु चदन रसधार ।

यहि भुन सीतल महुत गल मानहु मुनियन हार ।

कछ न जावा लगत जस जहा न मुख-सजोग ।

वि-तु दुसह दुय को भयौ केवन यासु वियोग ॥

(प्रतीहारी का प्रवेश)

प्र०—उपस्थित है महाराज ।

रा०—जर कौन ?

प्र०—दुमुख, आपका गुप्तचर ।

यहां प्रतीहारी (जिस कविरत्नजी ने पुल्लिङ्ग में माना है) के प्रथम कथन में
'महाराज उपस्थित है' कथ्यात पर 'उपस्थित है महाराज' इसीलिए रखा गया है कि पद
में अंतिम पद वियोग स यह जुड़ सक—'वियोग उपस्थित है, महाराज ।' निष्ठाचार
की दृष्टि में महाराज पद का पढ़ने प्रयोग ही उचित होता ।

नात्नी का अनुवाद इन्होंने विलकुल स्वतंत्र और विस्तृत किया है—उसे मूल का
माध्य कह सकत है । आमन्त्रण का दो प्रयोग में इन्होंने अधिकतर स्थानों पर औचित्य
का ध्यान रखा है पर कहीं-कहीं चूक गए हैं । कचुकी ने राम भद्र के लिए 'भया
रामचन्द्र', 'भगवति' के लिए 'माता', 'देव' के लिए 'महाराज' तो ठीक जचत ही है,

प्राणप्यारी, नाथ आदि भी नहीं बटक्ते । पर बड़े भाई के लिए 'आय' व बदले 'महाराज' देव के लिए 'भगवान' रामचन्द्र' जैसे प्रयोग मूल की भावना व बिलकुल प्रतिकूल हैं । प्रथम जब के आरम्भ में एक स्थान पर अनुवादक से जागरण क्षण के प्रयोग का कौशल अपेक्षित था पर वहाँ उसे सफलता नहीं मिली ।

प्रसंग यह है कि सीता और राम पठे थे । कचुकी ने अष्टावक्र के आगमन की सूचना देने के लिए प्रवक्ष किया । कचुकी पुराना सेवक है जो बचपन से राम को उसका नाम लेकर पुकारता रहा है । अब भी उसे यह ध्यान नहीं कि वह वास्तव में राम अब राजा है और उसे पुकारते हुए पदोचित आदर देने की आवश्यकता है । पर वह अनुभवही राज-कर्मचारी नाम पुकार लेने पर सुरत सभस जाता है और बड़ी चतुराई से एक नया सम्बोधन करता है । विनीत गम उसे नाम लेकर पुकारने की छूट देता है पर चतुर राजपुरुष बड़ी मुन्दरता से तीसरा रास्ता निकालता है

(प्रविश्य)

कचुकी—रामभद्र ! (इत्यर्धोक्त सागन्ध) महाराज !

राम—(सस्मितम्) आय ! ननु 'रामभद्र' इत्येव मा प्रत्युपधार क्षोभत तातपरिजनस्य तव यथाम्यस्तमभिधीयताम् ।

कचुकी—देव ! ऋष्यशृङ्गाश्रमादष्टावक्र संप्राप्त ।

अनुवादक ने इस तीसरे सम्बोधन को लाने की सुन्दरता पर ध्यान नहीं दिया—कचुकी ने फिर 'महाराज' तो नहीं कहा, पर 'राम' की दो हुई छूट का भी उपयोग नहीं किया—उसने एक तीसरे शब्द 'देव' का प्रयोग किया ।

इसका अनुवाद देखिए—

(कचुकी का प्रवेश)

कचुकी—भया रामचन्द्र (हतता कहकर दातो के नीचे जीभ काटकर) महाराज !

राम—(मुसजराकर) आय ! तुम पिताजी के पुराने सेवक हो तुम्हारा मुख से 'भया रामचन्द्र' ही सम्बोधन अच्छा लगता है इसलिए तुम्हें जसा अभ्यास पड़ रहा है वसा ही कहा करो ।

कचुकी—महाराज शृङ्गी ऋषि के महा स अष्टावक्रजी आए हैं ।

इसी प्रकार ६८ के अनुवाद में, राम अपने भतीजे चन्द्रवैकुण्ठ को 'प्रियतम' कह रहे हैं । ऐसा कहना संस्कृत व्याकरण व नियम से ठीक हा सकता है पर हिन्दी में इस शब्द का प्रयोग स्त्री अपने पति या प्रेमी के लिए करती है । लक्ष्मण का सीता को श्रीमती या महारानी कहना भी ऐसे ही अटपटे प्रयोग हैं ।

रसयजना, रूपाचित्रण आदि प्रवृत्तिवर्णन के प्रमत्ता में भवभूति की मार्मिकता को कविरत्नजी ने बड़े कौशल से अनुवाद में उतारा है । कुछ उदाहरण देखिए—

संयोग शृङ्गार

मूल—

जनमनुजितमुग्धा यवसपातसेना

दक्षिणिलपरिरम्भन्समाह्वानानि ।

परिमदितमणालीदुःखलायगवानि ।

त्वमुरसि मम कृत्वा यत्र निद्रामवाप्ता ॥

—१ १४

अनुवाद—

जब मारग के श्रम ध्यापनसा, सियलाइ के आलस भाइ गई ।
मिसिली मुरभाई मनातिनि सी, बलहीन पसीननु भाइ गई ।
कछु मर तब परिग्मन सौं सुठि अग-हूराहरि खाई गई ।
सुख मानि शिषा यह चाही परी हियरा लगि मर तू भाई गई ॥

विप्रलम्भ उन्ना

मूल— दलति हृदय शाकाद्वेगाद्विधा तु न भिद्यते
वहति विवर्त कायो मोह न मुचसि चतनाम ।
ज्वलयति तनूमतर्दाह करोति न ममसात,
प्रहरति विविममच्छेत्ते न कृतति जावितम ॥

—२ ३१

अनुवाद—

प्रिय वियोग छाती पर, आवति प न दरा ।
काया तज न चेतनाहि वसुधि विवर्त अपार ।
जरति वरति प भमम ना, दो लागी तन माहि ।
हृदय विदारन निरत विधि निरदय मारत नाहि ॥

रूप-चित्रण

(संस्कृत) सीता—जहा, दलन्नवनीलोत्पलश्यामस्निग्धमसूणाभमानमासलदं
सीभाग्यन विस्मयस्तिमिततातश्च्यमानमुदरधीरनादरवृत्तिगङ्गागरामन शिखडमुग्र
सुखमङ्गल आयपुन आलिङ्गित । ११५—११६ के बीच में ।

हिंदी

सीता—जहा ! यह तो आयपुत्र का चित्र कदा हुआ है, काकपक्षा से धीमुल-
मङ्गल की छवि और भी अनाखी हा गई है प्रकुचनवलनील कमल सा श्याम इनका
चुंदर सुकुमार पृष्ठ गरीर कसा धोभाभिराम है वह दखो, पिताजी वह आश्चय के
साथ सहज ही म शकर का शरासन तोड़न वाल इन महाराज के मुकुल मजुन स्वरूप को
एकटक निहार रह हैं ।

प्रकृति-चित्रण

एते न एव विरयी विश्वमयूग—

स्तायन मत्तहरिणानि वनस्थलानि ।

जामञ्जुवञ्जुलहतानि च तायमूनि

नीरघ्ननीपनिचुलानि सरित्तटानि ॥

—२ ३

ये गिरि सोइ जहा मधुरी मदमत मयूरानि की धुनि जाइ ।
या वन मे कमनीय मयानि की साल कनोलनि डोलनि भाई ।

सोहे सरित्तट धारि घनी, जलवच्छन की नवनील निकाई ।
बजुल मजु सतानि की चारु, चुभौली जहा मुखमा सरसाई ॥

गीत

अनुवादक ने प्रथम अंक के अंत में एक गीत अपनी जोर से जाड़ दिया है। नाटकीय कथानक की दृष्टि में यह अनावश्यक लगता है। इसमें सीता वन विहार के लिए जाने में पहले मरा हाथ जारि परनाम, ऋषि मुनियन को आदि गीत गाता है। फिर भी इस गीत का वस्तु का सीता के भावी जीवन से महत्वपूर्ण सम्बन्ध है। अंक के अन्त में होने से निष्काम ध्रुवागमन के रूप में इसका सौंदर्य और उपयोगिता ही सक्ती है। इसी प्रकार के गीत भास्कर-दु ने 'मुद्राराक्षस' के अनुवाद में लिखे हैं पर उह कथानक का हिस्सा नहीं बनाया गया यद्यपि उनमें अगले अंक के कथानक की कुछ योजना अवश्य है। हमारे विचार से भारत-दु की पद्धति इससे अच्छी है जोर निष्काम ध्रुवागमन का कथानक का जश बनाना उचित नहीं। कविरत्नजी ने इसके अनिश्चित जोर किसी अंक के अंत में ऐसा गीत नहीं रखा। भरतवाक्य को गेय पद बनाया है जोर २१३ का अनुवाद आरती की तज में है।

उत्तररामचरित के इस अनुवाद की भाषा—छटी वाली जोर ब्रज—बाना साधारणतया शिष्ट स्तर की है, पर कही कही बोलचाल के प्रयोग भी मिलते हैं। मसृष्ट तत्सम शब्दों का प्रयोग प्रचुर मात्रा में हुआ है। ब्रज के पद्या में ठेठ ब्रज के प्रयोग का प्रवृत्ति भी दिखाई देती है जबकि भारत-दु में तत्सम अधिक और ब्रज कम है। हा लक्ष्मणसिंह और सीताराम में ठेठ की जोर झुकाव अधिक है।

उच्छव, जन, हराहरि, मिसिली, बखिया करना, वही समय वन रहा है, माई आदि जैसे प्रयोग अनुवाद में मिलते हैं।

मुद्गर मुहावरा का प्रयोग भी कविरत्नजी ने अनेक स्थानों पर किया है। कारे कोमुन प मयी (१४४), तू पूर दिना से है आनन् करो वेटा, जैसे प्रयोगों ने भाषा की शक्ति का घटा दिया है।

गाने की ताड़ मरोठ के उत्तरहरण बहुत ही थोड़े हैं पर ह अवश्य। मजाद (मर्यादा) बालजुमीक (वाल्मीकि जी) जैसे शब्द कही-कही गिरलाई दे जाते हैं।

अनुवाद के दोष

धुटिया पर विचार करें तो मसृष्ट भाषा का जय ठीक न समझने की भूलें कही-कही मिलती हैं जैसे गोदावरीहृदात —गोदावरी के हृन्ध से (३४ से ऊपर) अपि जीवेत्स ब्राह्मणपुत्र —ब्राह्मण का पुत्र भी जो उठा (२१० के बाद)

एक प्रमुख दोष है कविकल्पित पात्र का स्वरूप विनष्ट करना। पहले बताया जा चुका है कि महावीर चरित और उत्तररामचरित में वाल्मीकि के पुरुषधेष्ट राम को नायक बनाया गया है, ईश्वर के अवतार राम को नहीं। पर अनुवादक ने अपनी अवतार वाली आम्हा का आरोप करके 'उत्तररामचरित' के राम का स्वरूप विनष्ट कर दिया है

और उस ईश्वर का रूप दर्शाया है।

द्वितीय अंक, दशमः, १३ म रामचंद्र राम का गुणगान इन शब्दों में करता है

अवेष्टया मदस्ति भुवने भूतनाथ शरण्यो,
मामविष्यन्निह वपनव योजनाना गतानि।

त्रात्वा प्राप्त स इह तपसा सप्रसाज्ययथा तु
कवाऽप्याप्याया पुनरपगमा दडवाया वन व ॥

यहाँ पहली पंक्ति राम की सावभौम राजमत्ता का वर्णन कर रही है उनकी ईश्वरीय या अतिमानव सत्ता का नहीं। पर अनुवादक इसमें अनुवाद में ईश्वरावतार और 'भवभयहारिणी भक्ति' इन जाने बिष्णु के अवतार राम का वर्णन प्रस्तुत कर रहा है।

जगनायक नायक पूज्य प्रभो,

मण्डवज गौरि शरण्य विभा।

प्रिय पावन भावन भक्तिधनी

जिह त्रागि करें मुनि खोज धनी।

जन्मो हरि खाजत माहि अथ

अपुत्री सत योजन आइ गय।

कह गूढ जनीन मनीन गती,

कह श्रीपति तानहु लोकपता।

अपनाइवें जो मम सुद्धिकरी,

तप को यह पुण्य प्रसाद हरी।

गहि तो तनि औघ सुराज महा

वन दडक मे तब काज कहा ॥

यही प्रवृत्ति पहले मोक्षाराम भूष' में दिखाई जा चुकी है। फिर भी, कुछ मिला कर यही कहना उचित होगा कि कविरत्नजी का अनुवाद पाय भूतानुसारी, परिधम से किया गया और सरस है। भाषा गली अधिन्तर शिष्ट और सरल स्तर की है और भाषा पचास वर्ष बाद भी उसकी भाषा में पुरानेपन की विविधता नहीं खटती। कही-कहा मूल की गंध अवश्य है, पर वह इतनी अधिक नहीं कि अस्विकर हो जाए।

मालतीमाधव

भवभूति के मालतीमाधव का अनुवाद कविरत्नजी ने १९१४ ई० में शुरू किया था जो १९१७ ई० में प्रकाशित हुआ। मालतीमाधव शृंगार रस की रचना है और रूपका का प्रदर्शन नामक है। इस प्रकार में मणिपुत्र माधव नायक है और मणिपुत्रा मालती नायिका। इसमें दम एक हैं और कथावस्तु उत्साह या कल्पित है।

महाकवि भवभूति की यह द्वितीय और महावीरचरित के बाद लिखी गई रचना प्रतीत होती है क्योंकि इसमें वह प्रसिद्ध दशक आना है जो रमिकों से उत्कृष्ट आदर न पान वाले अल्प्य प्रतिमाशाचिया के गव का दुःख और अपनी प्रतिभा में दृढ़ आस्था का प्रतीक बन गया है।

य नाम कचिदिह न प्रययन्त्यवना,
 जानतु ते किमपि ताप्रति नय यत्न ।
 उत्पत्स्यते तु मम नाऽपि समानधमा ।
 बालोऽह्य निरवधिर्विपुला च पृथ्वी ॥

—१८

महावीरचरित की रचना पर इन्हें विशेष आनन्द न मिला होगा। द्वितीय रचना मालतीमाधव पर इन्हें निःसन्देह सम्मान प्राप्त हुआ होगा। अन्तिम रचना 'उत्तररामचरित' का ता' इतना मान मिला कि कभी-कभी उस काव्यशिल्प की रचनाओं से भी श्रेष्ठ कहा गया—'उत्तर रामचरिते भवभूतिर्विनिप्यते।

अनुवाद मूल के अनुसार गद्य और पद्य में है। गद्यरचना खड़ी बोली में और पद्य रचना ब्रजभाषा में हुई है। अनुवाद का सम्पन्न निदरत नहीं हरिजन सत् आसा श्री ब्रजभाषा ठेट। सुमन मालतीमाधव यह तिन कोमत कर मे भेंट ब्रजभाषा के प्रति कविरत्नजी की स्नेहभावना दर्शा रहा है। परन्तु इस समय ब्रजभाषा पद्य का साहित्य जगत में मान तेजा से गिर रहा था और खड़ी बोली पद्य उसका स्थान लेता जा रहा था। अनुवादक ने इस परिस्थिति पर भूमिका में कुछ प्रकट किया है।

इस अनुवाद में एक विषयता यह दिखाई देती है कि अनुवादन में बहुत से श्लोकों का गीत बना दिया है। इनमें से कुछ गीत तो उचित लगते हैं क्योंकि उनकी सामग्री भावव्यञ्जक है पर कुछ गीतों के लिये, प्रथम अक्षर के १८वें, १९वें और २०वें गीत लीजिए। ये मूल के १२०, २१, २२ के अनुवाद हैं। इनमें प्रधान अर्थ वस्तु मान है। गीत बनने से ये स्वतन्त्र छन्द से लगते हैं। इस वस्तु में ऐसी कोई भावप्रवणता नहीं, न रूप या प्रकृति का चित्रण ही है कि इस गीत के रूप में प्रस्तुत किया जाए। गीतों की इतनी बहुलता हुई है कि एक स्थान पर बड़ा काम-दर्दी भी गा रही है। वैसे इसमें कुछ सन्देह नहीं कि अथ और भाषा के प्रवाह की दृष्टि से अथ भावगीतों की तरह ये कविताएँ भी सुन्दर हैं—इसका एक कारण यह है कि कवि ने मूल का आधार रखते हुए भी काफी स्वच्छन्दता का अवलम्बन किया है।

रचना में मूल का अर्थ अविकल रखने का कविरत्नजी ने बड़ा यत्न किया है। रचना में कही कही शली में 'भारीपन' या पञ्चाग्रह दाप जा गया है। जोहो, अशेषभुवन द्वीपदीप भगवान् सुमनारायण इतने ऊँचे चढ़ जाए (प्रस्तावना) जैसे प्रयोग जहाँ तहाँ दिखाई पड़ जाते हैं।

नाट्यो का अनुवाद बहुत सम्बा और स्वतन्त्र हुआ है। अनुवादक ने 'मंगल मयाग' और सु-वरण शब्दों का प्रयोग करके वा-यायसूचन का बहुत स्पष्ट कर दिया है। वस्तुतः कविरत्नजी ने सोमनाथ चतुर्वेदी के ब्रजभाषा पद्य में किए गए अनुवाद को पढ़कर उसकी अपेक्षा अधिक मूलानुसारी अनुवादन करने का यत्न किया है। उम्मे इन्होंने अनुवादन के बजाय स्वतन्त्र अर्थ माना है क्योंकि कवि ने अत्यधिक स्वच्छन्दता बरतकर अनुवादन किया है। पर ये स्वयं भी स्वच्छन्द होकर लिखने का लाभ सवरण नहीं कर सके हैं और अनेक पद्य अनुवाद मूल से बहुत सम्बन्ध हाँ गए हैं।

अनुवाद-योग्य कहा तो बहुत बड़ा चढ़ा दिखाई देता है, और कहा अभावधानी और उपमा भी दिखाई देती है। इसी ३५ के बाद का भाष्यवर्धित गद्य अनुवाद-योग्यता का सुन्दर उदाहरण है। इसमें श्लेष में बड़े गये वचना का अनुवाद भी चतुराई में द्वयवक किया गया है। अभावधानी का उदाहरण दूसरा अर्ध में श्लोक बारह व बाद मालती का कथन है। यह कथन वस्तुतः पहले के वाक्या का दुहराना मात्र है। अतः इसमें यही गद्य रहने चाहिए जो पहले के वाक्यों में थे। अनुवाद में यहाँ पहले से भिन्न शब्दा का प्रयोग कर दिया है।

माधारणतया यह अनुवाद बड़ा सुन्दर और मनोहारी हुआ है। चाहे रूपवर्णन हो, चाहे प्रकृतिचित्रण, चाहे आलम्बन की चेष्टाएँ हों चाहे आश्रय का अनुभाव सबको अनुवादक ने बड़ी मायित्वा से समझा मराहा है और बड़ी रसिकता से उसको अपनी प्राज्ञता भाषा में प्रस्तुत किया है। बाँ भी छन्द कविरत्नजी के लिए कठिन नहीं। न उक्त सुन्दर उपयुक्त शब्दों की कोई कमी है। किसी किसी जगह तो अनुवाद मूल का भी मात्र कर गया दिखाई देता है (जम ३१० देखिए नीचे)। जगह-जगह सुन्दर मुद्रावरे और प्रयोग भाषा पर उनका अधिकार प्रदर्शित करत है। हा धिन् = हाय ! हाय ! निवृत्ति मान = गया 'हाइ, कि बहना = बहा तक बहू, दिष्टया = बड़ी बात जस सुन्दर प्रयोग से पता चलता है कि कविरत्नजी ने शब्दों का परिवर्तन मात्र नहीं किया, अपन की पूरी तरह ग्रहण करके उस अपनी मनोहर भाषा में मौलिक रचना की तरह प्रस्तुत किया है।

इनकी भाषा का स्तर शिष्ट और ग्रीष्म है और उसमें अपूर्णता की भाव नहीं है। मौलिकता के उदाहरण विरले हैं। कही कही शब्दा का प्रयोग भी है जस भावलीपन अगाड़ी।

दादा पर विचार करें तो दो-तीन जगह समृद्ध का अर्थ ठीक ठीक न समझने की भूल हुई है, जस 'उत्पन्न' अर्ध में श्लोक १ में पहले कामदेवी का कथन— इन मालती-भाष्य का जहाँ दूसरी बात यह कि इह गद्य में उनकी मफलता नहीं हुई जिनकी पद्य में। गद्य कई जगह समृद्ध शब्दों से ओझिल और दुर्लभ है और इस दुर्लभता का दूर करन के लिए अनुवादक ने कोष्ठकों में अथ समझाने का यत्न किया है जो बड़ा भड़ा लगता है। बहुधा गद्य से और कही-कही पद्य से भी (जैसे बहा जहा अकारण गीत बना दिए गए हैं) सवादा की नाटकीयता में कमी हो गई है और नाटक का झुकाव पाठ्य काव्य की ओर हो गया है।

इनके अनुवाद के दो उदाहरण नीचे दिए जाते हैं

मूल— अनुभव चरनेन्दुम्यायम
नियतमेव यस्य महात्मनः ।

धुमितमुत्कलिकातरज मन

पय इव म्निमिनम्य महादेवे ॥ ३१० ॥

अनुवाद— भाष्य मन गम्भीर धिर, गात समुद्र समान ।
सन्नि मालति मुख-गूण समि, सा सामी सहस्रान् ॥

जालम्बर की चेष्टारूप उद्दीपन विभावो का चित्रण—

मूल— स्निमितविकसितानामुल्लसदभूलताना,
ममणमुकुलिताना प्रातविस्तारभाजाम् ।
प्रतिनयनविपाते किञ्चिदाकुञ्चितानाम्
विविधमहमभूव पात्रमात्माकृतानाम् ॥ १३० ॥

अनुवाद— अभिलास पगो उत्तकण्ठित से अँग-अंग अनग जमावन सा ।
चिक्नाए सनेह लुनाई भरे सरसाए दुह् दिमि धावन सा ।
दग साधि कछू कछू खचि भना सर धालिति भौह कमानन सा ।
चित्तई चितचोर सँकोच भरी मम ओर अनेक प्रकारन सो ॥

श्री वागीश्वर विद्यालकार

श्रीवागीश्वरविद्यालकारने दो नाटक—कुदमाला और अभिमानाकुन्तलम—के अनुवाद किए हैं। पहला १९२२ ई० में प्रकाशित हुआ था और दूसरा १९६१ में। अनुवादक संस्कृत साहित्य के आचार्य और हिन्दी के कवि हैं और गुप्तकुल विश्वविद्यालय कागशी में ८० वर्ष तक हिन्दी-संस्कृत विभागाध्यक्ष रहें। जब आप दिल्ली में सीता राम बाजार में रहते हैं। आपकी कविताओं का एक संग्रह नीराजना नाम से प्रकाशित हुआ है। आपने संस्कृत में मौलिक नाटक भी रचे हैं और कालिदास पर एक समीक्षा ग्रन्थ भी प्रकाशित कराया है।

विद्यालकारजी के अनुवादों में तीन विशेषताएँ हैं—स्पष्टता, सन्धेय और भाषा की प्राजलता। खड़ा बोली के पद्य का जसा निखरा रूप इन अनुवादों में है उससे इनका अभ्यास और कुशलता का पता चलता है। 'दूरावय' नाटकीय पद्यों के लिए बड़ा भारी शाय है—दस दोष से इनकी रचना सबस्य मुक्त है। इसी कारण वह प्रसाद गुण से परिपूर्ण और सुरास्य लगती है। कुछ अनुवादों ने मूल का विस्तार करके बड़े-बड़े पद्य बनाए हैं। इन्होंने कहीं भी ऐसा विस्तार नहीं किया और प्रायः मूल जितने ही श्लोकों में पूरी बात कह दी है। गन्दर्बयन भी विवकपूर्ण हुआ है। कठिन संस्कृत पद्यों का प्रयोग शाकुन्तल के अनुवाद में तो कहीं-कहीं छंद आदिके अनुरोध से हुआ है पर कुदमाला में नहीं हुआ। फिर भी छोटे छोटे तत्त्वों का प्रचुर माना में प्रयोग हुआ है जिससे भाषा की व्यञ्जना को बन मिला है और रचना में बड़ा माधुर्य आ गया है।

नाट्यविधान की अपभ्रंशा और लेखकों के अभिप्राय पर इनकी सजग दृष्टि रही है। कुदमाला में आए अनेक गतिचित्र बड़ी सुन्दरता से अनूदित हुए हैं। इसी प्रकार शाकुन्तल में जहाँ चतुराई अपेक्षित थी वहाँ प्रायः वह दिखाई गई है।

अनेक छन्दों में इन्होंने अपना कौशल दिखाया है पर चौपाई का प्रयोग नहीं किया—सच पूछिए तो नाटक में यह अच्छा भी नहीं लगता। इनकी पद्यरचना तुकात है और प्रायः तुकें अनायास आई हुई लगती हैं।

इनकी भाषा एकरूप है और पात्रों की प्रवृत्ति के कारण उसमें अन्तर नहीं किया गया। सबत्र बड़ी गिण्ट परिमार्जित खड़ी बोली हिन्दी है। एक अपवाद शाकुन्तल के

अंतिम जब मैं भारत की तोतली बोली है।

संक्षेप और गम्भीरता की यह कुशलता राजा सधर्मनिह और भारतेन्दु की याद जिताता है। पर राजा साहब की भाषा ऐसी व्यवस्थित नहीं सकती थी और भारतेन्दु अपेक्षा अधिक स्वच्छ अनुवादक थे। कुछ मिलाकर, इहे आसानी से प्रथम काटि के उत्कृष्ट अनुवादका में स्थान दिया जा सकता है।

कुन्दमाला

इस नाटक का सख्त दिङ्नाग या धीरनाग कवि थे जो दक्षिण भारत का लका के निवासी थे। पर ये प्रसिद्ध बौद्ध आचार्य दिङ्नाग से सत्रथा भिन्न व्यक्ति हैं और सम्प्रदाय संगत तथा वेदमन्त्र थे। इन्होंने रामायण के उत्तरकांड से कथा लेकर सीता-निर्वासन के दिनवन पर यह नाटक लिखा है। कुछ विद्वान इस कवि का कालिदास के बाद और भवभूति से पहले हुआ मानते हैं, और कुछ भवभूति का उत्तरवर्ती बनाते हैं। कुन्दमाना और भवभूति के उत्तररामचरित का कथानक एक ही है, कुछ विविष्ट नाट्यकौशल में भी समानता है और कई जगह दोनों में पदप्रयोग भी विभिन्न प्रतिविम्ब रूप है। रघुवश का कालिदास का प्रयोग के कुछ अंश के सदृश अंश की ओर कुन्दमाना के इस अनुवाद की भूमिका में अनुवादक ने ध्यान खींचा है। इन्हें अर्वाचीन मानने वाले इन्हें ७०० ईस्वी के बाद और ११०० ई० से पहले रखते हैं। वागीश्वरजी के विचार में दिङ्नाग भवभूति से पहले हुए।

अनुवाद की भूमिका में कवि की सहृदयता और कालिदास तथा भवभूति की रचनाओं से सादृश्य दिताते हुए अनुवादक ने अपनी सहृदयता का भी अच्छा परिचय दिया है, और नारी के साथ पुरुष का अमानवीय व्यवहार की तथा सीता के साथ राम के व्यवहार की बड़ी भत्सना की है।

कुन्दमाना छह अंक का नाटक है और इसमें वरुणविप्रसम्भ शृंगार रस प्रधान है। कवि ने बड़ी सुन्दरता से राम और सीता के एकनिष्ठ प्रेम, दैववशात् सीता और राम के दुःख पान तथा अलग हो जान पर भी परस्पर दुःख आश्रय तथा चाह रखने का दृश्य को चित्रण और योजना की है। सार नाटकीय कथानक में राम आदिनिष्ठ और प्रजा रक्षक राजा तथा सीता के प्रेम में डूबे प्रेमी दिखाई देते हैं। इसी प्रकार सीता राम के प्रति गहरी शिवायत रखती हुई भी मान और प्रेम के मानसिक संध में मुलती है और इसमें प्रेम का विजय होती है। मूल लेखक ने नर नारी की प्रेमकथा में सा स्मृति पर अकारण ही राम को विष्णु बताया है। इसमें न कोई संगति है न सामकता और न प्रमग में कोई स्वारस्य ही है।

अनुवाद गद्य और पद्य में मूल के अनुसार ही हुआ है और भाषा गढ़ी बोली हिन्दी है। आमाश्रय गद्य में आय के लिए 'माईजी', आर्या (सीता के लिए सधर्मन का कथन) 'माभाजी' बड़ ह्याभाविक और उचित लगते हैं। पर राम का श्रीराम कहना मूल के प्रतिकूल है। सीता का मैं तो हार गई (यक दूध) दहाती प्रयोग है इसी प्रकार, छोदी (विरत)। पर ऐसे प्रयोग बहुत कम हैं। छंद बनने हुए हैं और कहीं-कहीं उद

तज कं पद्य भी रखे गए हैं जस १ ११ ।

इसम आए गतिचित्रा का उल्लेख ऊपर हो चुका है । इनके अनुवाद बड़ी सावधानी और बुद्धिमत्ता से किए गए हैं । १६, १३० ३८ और ४१ के अनुवाद पढ़ने से यह बात स्पष्ट हो जाएगी ।

नीचे अनुवाद के दो उदाहरण दिए जाते हैं

मूल— जादाय पबजवना मकरन्द गान
कपन्निता तमधुरान कलहसनादान ।
गीतास्तरगवणिका विकिरन्नुपनि
गगानिलस्तव मभाजनकागयव ॥

— ११

अनुवाद— ल लेकर मकरन्द गद्य अरविन्द वनो का ।
भग लिए भगीत भजु कल हमगणा का ।
गीत तरंगोच्चलित स्वच्छ धीरे दिनराती ।
करन तुम्ह प्रसन्न पवन गगा की आती ॥

(२)

मूल— एतस्मिन् भुङ्कतके लघुतर पादौ निधत्स्वाश्रत ।
शाखेय विनता नमस्व गनकगतौ महान् वामत ।
हस्तेनामग तन दम्पिणगन स्थाण सम साम्प्रतम ।
पुण्य स्मिन कमलाकरे चरणयोनिव यता क्षालनम ॥

— १३०

अनुवाद— कुदा कटक हैं—हलके हलके पर यहा धर चसना ।
नीची है यह डाल—भुका कुछ, बाए धग सम्भलना ।
दाए ठूठ सहारा ल लो अब है पृथ्वी समतल ।
धोली इसम पर कमल सर यट अतिमुन्दर निभल ॥

शकुन्तला

यह अभिज्ञानशाकुन्तल का अनुवाद है और १६६१ में प्रकाशित हुआ था । इस अनुवाद में गद्य और पद्य दोनों बड़ी बलीम हैं और मूल नाटक का पूरा भाषान्तर लिया गया है ।

भाषान्तर में अनुवाक का अच्छी सफलता मिली है । मूल के वाच्य और भाग्य दोनों अर्थों पर उसका ध्यान रखा है और व्यंग्य अर्थ का यथावत रखने का उसने बड़ा यत्न किया है । अधिकतर श्लोकों का अनुवाद उतने ही सक्षिप्त और सुगठित हिन्दी पद्य में हो गया है—एसा कर सकना बन्धा बड़ा बठिटा हाना है ।

नाट्यविधान के बारे में अनुवादक सावधान है । नान्दी श्लोक के अनुवाद से वाध्यायमुचन भी हा जाता है । पर कहीं-कहीं जहां मसृष्ट में चतुराई से अथ अस्पष्ट रखने हुए बात कही गई थी वहां अनुवाद में उतनी चतुराई नहीं दिखाई दी । उदाहरण

के लिए, जब (प्रथम अक्षर म) दुष्यंत से क्षत्रुता की सखी ने उसका परिचय पूछा तब वह सकट में पड़ गया। अपना अमनी परिचय छिपान के लिए उसने एक अस्पष्टावय वाक्य बोला जो भूठा होत हुए भी भूठा न था— भवति, य पौरवेण राजा धर्माधिकार नियुक्त सोहमाश्रयिणामविघ्नक्रियोपलस्यस्य धर्मारण्यमिदमायात । इसका सीधा अर्थ तो यह लगता है कि मुझे पुरुष का वर्तमान राजा दुष्यंत ने धर्मविभाग का अधिकार नियुक्त किया है और मैं यह देखन इस पुण्यायम म आया हू कि तपस्विना के धर्म-कर्म म कोई विघ्न तो नहीं पड़ता। पर दूसरा यह अर्थ भी बन जाता है कि पुरुष की गता (दुष्यंत के पिता) न मुझे धर्मपूजक प्राप्त करने के लिए राज सिंहासन पर आरुढ़ किया है इत्यादि जो दुष्यंत का झूठा हान क आरोप स बचा लेता है। इस संहृत कथन का बहुत क्षत्रुताई में अनुवाद किया जाए तभी वह दोनों अर्थ द सकता है। अनुवादक ने इस इन शब्दों में रखा है 'पुरुष की महाराज ने अपने राज्य म धार्मिक अनुष्ठानों की देखभाल हम हाँ सौंप रखी है, और यहां देखन के लिए हम यहां आए हैं कि आप लोग के सब कार्य निर्विघ्न तो चल रहे हैं।' यहाँ अपने राज्य में 'ग' प्रकृत अक्षर का स्पष्ट कर देते हैं, और वाक्य पढ़ने से यह लगता है कि दुष्यंत राज कर्मचारी है। इस वाक्य में झूठी और सच्ची दोनों बातें बताने का सामर्थ्य नहीं है।

छठे अक्षर के आरम्भ म मध्वार और पुनिमवाना की बातचीत क अनुवाद म प्रवृत्ति के अनुरूप भाषाशान्ति का प्रयोग हुआ है। पुनिमवाना की भाषा म अक्षर जस शब्द रखने से कथन म अधिक शक्ति और स्वाभाविकता आ गई है। यही बात सातवें अक्षर म संवदमन भरत क कथना की तात्त्विक भाषा में रखने के बारे म है। मूल म महा प्राकृत है पर तात्त्विक नहीं। यह अनुवादक की अपनी श्रुति है।

आमन्त्रणवाचक शब्दों म सप्तस अधिक उल्लेखनीय पद्य अक्षर म मधुकरिका और परभृति का कचुकी के लिए दास शब्द का प्रयोग है। मह जाय' का अनुवाद है, और बहुत ठीक बठा है।

वाक्परचना सप्त और सीधी है 'ग' अक्षर म सुंदरता है, तुर्क अधिकतर स्वाभाविक आर अनायास हैं और पद्या का अर्थ सीधा लगता जाता है। पर कही कही, सप्त में पद्यन म संहृत क कठिन 'ग' और मल के पदा का प्रयोग बड़ा खटकता है जैसा ११६ म निजान्त वरणाप्रवृत्ता, 'ग' वृत्ति की तुल्य भिन्नता है।

अनुवाद-कोशल व्याकरण और मुद्रावरे की कुछ भूलें खटकन वाली हैं। २३ स पहल 'भगवान् कुमुदामुष का अनुवाद 'भगवान् कामदेव ठीक नहीं हुआ। महा मूल का प्रयोग साथ-साथ और योगिक था, अनुवाद म रुढ़ और निरर्थक 'ग' है। पहल अक्षर म विद्वत् स मनापति का यह कथन सब स्थिरप्रतिबन्धों से वह नावत्त्वामिनविच्छेद-वर्तिमनुवर्तिष्य' प्रकृत स उत्सव अक्षर म अनूदित हुआ है। दूसरे अक्षर क आरम्भ म 'ग' की वृत्ति के लिए चिड़ीमार 'ग' उस प्रसंग म अनुचित है—वहाँ चिड़िया क नहीं, पशुओं का गिहार का प्रसंग है। १२० में पञ्चमी पक्ति का अनुवाद म दूसरी पक्ति बनाने से मोरों की हानि हुई है।

मूल यह है

अधर किसलयराग कोमलविटपानुकारिणी बाहू ।

कुसुममिव लामनीय यौवनमगेषु सनद्धम ॥

यहां देखने वाले का ध्यान सबसे पहले मुख पर और उसके ताल भाग अधर पर जाता है फिर बाहू पर, और फिर जवानी छलवाते स्तना तथा नितम्बों पर । अनुवादक ने इस क्रम पर ध्यान नहीं दिया । अनुवाद देखिए—

योवना सुमन सुहावना तनु को रहा सवार ।

अरुण अधर किमलय नया, बाहू हार सुकुमार ॥

तनु शब्द का हिन्दी में स्त्रीलिंग प्रयोग, और 'पापपूर्ण के अर्थ में 'पाप का प्रयोग पंडिताऊ लगत हैं । शृंगारलज्जा को शृंगारमिश्रित लज्जा के स्थान पर 'शृंगार सूचक लज्जा' कहना अधिक उपयुक्त होता । लज्जाबुरे काम, अपमान, शृंगार आदि अनेक बाता की सूचक है । सक्ती है—यहां वह शृंगार सूचक है । ५ २८ में कण्व के लिए शकुंतला के प्रसंग में 'जनक' शब्द का प्रयोग ठीक नहीं लगता । शकुंतला और सखियों में परस्पर तुम सबनाम का प्रयोग भी असुंदर है । १ २५ में दुष्यन्त शकुंतला को एक वचन में निदिष्ट करता है १ २८ में आदरवाचक बहुवचन में और प्रियवत्ता भी बहुवचन में कहती है ।

“याकरण की दृष्टि से आप सबनाम के साथ दा त्रिया का प्रयोग न करके 'दौजिए' कहना उचित होता ।

'मुझे मिलत को कहना, दे छोड़ो जैसे कुछ वस्तुनाबरा प्रयोग भी दिखाई देने हैं । हृदय के लिए तुम सबनाम भी बेतुका है ।

फिर भी कुल मिलाकर, अनुवाद सरल और सरस है चाहे कुलमाला के अनुवाद की सरलता इसमें नहीं जा सकी । नटी और रानी हृसपदिका के गान तथा शकुंतला के प्रेमपत्र को गय गीत का रूप देने में उनका सी-दय बढ गया है । गीत बड़े मधुर और प्रवाही बने हैं । वतालिक-गान के दो श्लोक भी गीत बनकर अच्छे लगते हैं ।

रानी हृसपदिका का गीत

चूम भवर सहकार भजरी तुम इक बार गए ।

नित नवरस के साथी, कम इस बिमार गए ?

रहन भर ये रीम कमल के क्या तुम हार गए ॥

—, ,

इमना संस्कृत रूप यह है

अभिनवमधुलानुपा भवास्तथा परिचुम्ब्य चूनमजरीम ।

कमलवसतिमानत्रित ता मधुकर विस्मताभ्यना कथम ॥

—, ,

विराज

विराज का आधिकारिक नाम उष्यवीर है और साहित्य नाम विराज । आपने

गलियाम के तीना नाटक का अनुवाद किया है। कुमारसम्भव का अनुवाद भी आपने किया है। आपकी लिखी जनेक रचनाएँ—कविता-मण्ड, नाटक और लघु उपन्यास भी—प्रकाशित हुई हैं।

अभिज्ञानशाकुन्तल

प्रकाशन अभिज्ञानशाकुन्तल का अनुवाद १९५४ ईस्वी में राजपाल एण्ड सन्स, दिल्ली, ने प्रकाशित किया था।

रचना शैली सारी रचना गद्य में है पर तीन चार पद्य रचनाएँ भी हैं। एक श्लोक जैसे का तसा रख दिया है। नादी श्लोक (११), नदी क गान (१२) तथा रानी हस्तपदिका के गान (५१) वाले श्लोक का अनुवाद पद्य में है। इनमें में पिछले दो, गान होने के कारण ध्रुवागोता में अनुवाद किए गए हैं। ये गानों गीत बड़े सुन्दर बन हैं।

भाषा सारी रचना की भाषा प्रौढ गिट्ट खड़ी वाली हिन्दी है।

अनुवाद शैली यह अनुवाद पूर्ण भाषांतर है। मूल में न कुछ अपनी ओर से जोड़ा गया है, और न घटाया गया है।

अनुवाद कौशल भूमिका अनुवादक ने अनुवाद सपहले ३६ पृष्ठ की भूमिका लिखी है जिसमें कालिदास के जन्मस्थान, काल, सौन्दर्यभावना, काव्य निपुणता और आदर्शों पर विचार किया है। जन्मस्थान के बारे में आपकी धारणा वागीश्वर विद्यालया की इस धारणा से मिलती जुलती है कि कालिदास बनखस (उत्तर प्रदेश) के आसपास के किसी स्थान पर पदा हुए थे और वही उनकी किशोरावस्था बीती थी। सौन्दर्यभावना, काव्यनिपुणता और आदर्शों के बारे में अनुवादक ने अधिक सम्मीरता से विचार किया है।

नाट्य विधान

नादी गाने श्लोक के अनुवाद में अनुवादक ने नादी की काव्याय व्यञ्जना की संवधा अपना कर दी है और एक वाक्य के लिए एक शब्द का प्रयोग करने हुए नान्दी वाक्या का वाच्य अर्थ अनुवाद में रखा है। फिर पद सम्मत्त उसका ध्यान क्या जाता ? इस अनुवाद में यह एक बड़ी त्रुटि रह गई है।

पात्रभाषा भाषा सब पात्रों की एक है और उसमें प्रवर्तित शब्द नहीं किया गया। आत्मनस शब्द के प्रयोग में तन्मय शब्दों की ओर भ्रुवाव है और ज्ञान, प्रिय, सखि आदि संस्कृत व्याकरण में संगत पर हिन्दी बोचाल में न आन वाले प्रयोग भी किए गए हैं। किन्तु यह प्रवृत्ति इतनी अधिक नहीं है कि पाठक की खटकन लगें।

रसादि रस भाव आदि की व्यञ्जना में अनुवादक का अच्छा सफलता मिली है। मूल की वारीकियाँ को समझकर उसका सरल गद्य में अनुवाद किया गया है। भयानक रस के एक पद्य का अनुवाद देखिए

मूल—

श्रीवामगाभिराम मुद्ररनुपतति म्यदो वदन्ति ।

परचायेन प्रविष्ट परपत्नभयाद भूयसा पूर्वकायम् ।

दर्भैरर्धावलीढ थमविवत्मुखभक्षिभि वीणवत्तर्मा ।

पश्योदग्रप्लुतत्वाद्विपति बहुतर स्तोत्रमुर्व्यां प्रयाति ॥

—१७

अनुवाद—

अब भी तो यह बार बार गदन मोड़कर पाँछे की आर रथ को देखने लगता है, और फिर तेज दौड़न लगता है। तीर लगन के भय से इसके शरीर का पिछला भाग अगल भाग में समामा जा रहा है। दौड़ने की शक्ती से इसका भुज खुल गया है और उसमें से अभ्रचक्षी घास के तिनके रास्ते में गिरते जा रहे हैं। देखो, अपनी तीव्र गति के कारण इसके पाव धरती को तो जरा देर को ही छूते हैं, नहीं तो यह जाकाग ही आकाश में उड़ा जा रहा है।—पृष्ठ ४२

भापा शैली विराज की भाषा शली को आदर्श कहा जा सकता है। शिष्ट सखी मोरी का यह सुन्दर नमूना है। न इसमें कठिन तत्सम शब्दों का प्रयोग है, न उद्गू है, न काव्य में अनुपयुक्त बोलचाल के गवारू शब्द हैं। वाक्य छोटे, सरल और माधुर्य से पूर्ण हैं और शब्द तदभव या सरल तत्सम तथा बोलचाल और काव्य में प्रचलित वग के हैं। विशेष रूप से इनके दो गीत तो बड़े स्वाभाविक और मधुर बने हैं। नदी के प्रीप्सन्तु के गान का भाषा प्रवाह दर्शाए—

सिरस के फूल बड़े सुकुमार ।

छादनी की विरणा से तनु भरी है जिनमें सुरभि अपार ।

भ्रमर आते करते रसपान बताते जरा चूमकर प्यार ।

उन्हीं से सलनाए अत्यन्त सख्य अपना करतीं शृंगार ॥

—पृष्ठ ४०

इसका संस्कृत रूप यह है

ईपच्छुम्बितानि भ्रमर सुकुमारतरङ्गसरसिखानि ।

अवतसयन्ति दयमाना प्रमत्ता शिरीषकुसुमानि ॥

—१४

अनुवाद-कौशल और संस्कृत को ठीक न समझने की नुटिया इस अनुवाद में बहुत कम है। कौशल की नुटि का एक स्थल यह है

मून—

राजा—(आश्चर्यसे) कथमिदानी निवदयामि ? कथं वा आत्मापहार करोमि ?

भवतु एव तावन्नेना वक्ष्य—(प्रकाशमें) भवति । यं पौरवेण राजा धर्माधिकारे नियुक्त सोहमाश्रमिणामविघ्नत्रियोपालम्भाय धर्मारण्यमिदमायात ।

—प्रथम अंक

अनुवाद—

राजा—(मन ही मन) इस समय अपना परिचय दे द, अथवा अपने आपका छिपाए की रस ? जच्छा, इह इस प्रकार बताता ॥ (प्रकट रूप से) भद्रे, मुझे महाराज दुष्यन्त न धर्मविभाग में अधिकारी नियुक्त किया है। इसमें मैं यह जानने के लिए कि

आधुनिकवादिता की धमनियाओं में कोई विघ्न-बाधा तो नहीं यहाँ तपोवन में आया था ।

इस प्रसंग के महत्त्व पर वाणीश्वर विशालवार के अनुवाद के मित्रमित्र में प्रकाश डाला गया है ।

मृत्याञ्जन कुन मिलाकर यह अनुवाद आज की शिष्ट प्रीठ सखी बोनी की सुन्दर रचना है । भाव और रस की व्यञ्जना अनकार और वस्तु मयके अनुवाद में चतुर्दाई और सफाई दिखाई दनी है । मामूली त्रुटियाँ होते हुए भी यह रचना मस्त्रताञ्जन से बहुत कुछ यची हुई है और प्रदाहमयी मधुर हिन्दी भाषा का सुन्दर नमूना है । इसकी सङ्कष्टता का एक सवेत इस तथ्य में मिलता है कि इस अनुवाद रचना का अभिनय हदोरे में १९६० में किया गया था ।

रामेय राघव

राम राघव ने, जिसका राशिनाम टी० एन० बी० आचार्य था, का मस्कृत नाटका मृच्छकटिक और मुद्राराक्षस, का अनुवाद किया है । आपन गेक्सपीयर के कई अंग्रेजी नाटका का भी अनुवाद किया है । १९६३ ई० में आपका देहांत हो गया । आपकी मौलिक रचनाओं में कविता, कहानी उपन्यास, निबंध आदि विविध सम्पुष्ट हैं ।

मृच्छकटिक

प्रकाशन मृच्छकटिक का प्रकाशन सितम्बर, १९४७ में हुआ था और उससे चार छह महीने पहले की अवधि में यह अनुवाद किया गया होगा । प्रकाशक है राजपाल एण्ड सन्स दिल्ली ।

रचना-शैली मूल नाटक की रचना गद्य और पद्य दोनों में है और पद्य का हिस्सा बहुत काफी है । अनुवाद सारा गद्य में हुआ है क्योंकि 'हमारा उद्देश्य गूढ़क की रचना से परिचय कराना था, (भूमिका) । केवल आरम्भ में नाटकी के दो दृश्यों और अन्त में भरतवाक्य का अनुवाद पद्य में हुआ है । इनमें से भी नाटकी का दूसरा पद्य अनियमित पद्य है ।

भाषा अनुवाद की भाषा साहित्यिक अच्छी बाली हिन्दी है । मूल नाटक में मस्कृत के अतिरिक्त चार प्राकृत—शौरसेनी, आवन्ती, प्राच्या और मागधी तथा तीन अपभ्रंश—गोवारी, चाहाली और टक्की—का प्रयोग हुआ है । इन आठों भाषाओं का अनुवाद साहित्यिक अच्छी बाली हिन्दी में है ।

अनुवाद शैली अनुवाद की गली भाषांतर दोनों है—मूल नाटक का पूरा पाठ्य हिन्दी में किया गया है । तथा या सचार्थ में अनुवादन में कोई परिवर्तन या हर फेर नहीं किया ।

अनुवाद-शैली

भूमिका अनुवादक ने तोरह पृष्ठों की भूमिका लिखकर मूल नाटक का परिचय दिया है। इसमें लेखक ने नाटक के महत्त्व और उसके कारण, संक्षिप्त कथा, तथा उसके रचनाकाल पर अपने विचार और उसके सबसे जाने के बारे में अपनी टिप्पणियाँ दी हैं।

संस्कृत नाटका में प्रयुक्त 'अपटीक्षेपण' और यवनिका शब्दों के बारे में अनुवादक का कहना है कि 'अपटीक्षेपण' का अर्थ है 'बिना पर्दा गिराए हटाए और यवनिका शब्द का सम्बंध यवन या यूनानियों से जोड़ना असमय है—यूनानी लोग तो नाटक में पर्दों का प्रयोग ही नहीं करते थे यवनिका शब्द जवनिका शब्द का स्फुटतर मात्र है और इसका अर्थ है जल्दी गिरने वाला पर्दा।

नाट्य विधान

मूल मूल्यांकन में नाट्यी की पदसंख्या अनियमित है। यहाँ स्थापना बीज और पात्रों के सूचन द्वारा हुई है—अभिरूपपति व्रत इस प्रकरण की कथा का बीज है। राजा पालक मन्त्रेय तथा चारुदत्त का भी आशुप या प्रस्तावना में सूचन है। वाक्यांशमूलक कथाद्वारा है—प्रथम पात्र मन्त्रेय का प्रवेश सूत्रधार के कथन पर अपना उत्तर देते हुए होता है। बीज और पात्र का सूचन अनुवाद में निर्दोष है। पर मन्त्रेय के प्रवेश के सूचन में अनुवाद असफल रहा है।

एभो चारुदत्तस्स मित्त मित्तेओ० (एव चारुदत्तस्य मित्र मन्त्रेय) को 'वह आ रहा है मन्त्रेय—चारुदत्त का मित्र०' कर दिया है। 'वह' का प्रयोग न तो प्रसंग में जमता है और न मूल के अनुसार ही है। यहाँ वह के स्थान पर यह होना चाहिए था।

इसमें आशुप नपथ्य में से मन्त्रेय का वचन सुनाई देता है आप किसी और ब्राह्मण का बुला लें। ठीक यही वाक्य मन्त्रेय के मुख से मंच पर सुहरवाना उचित था पर अनुवादक ने यह बदल दिया है—वहाँ है मैं तो कह चुका। इससे नाट्यविधान के बारे में अनुवादक की उपेक्षा सूचित होती है।

प्रयुक्ति मूल नाटक में पात्र अपनी प्रवृत्ति के अनुसार भाषा बोलने वाले रखे गए हैं।

सूत्रधार, नगी रदनिका, मदनिका वसन्तसेना, इसकी माता, बेटी कणवूरक और चारुदत्त की पत्नी धूता गांधनक और श्रेष्ठी—यस्यारह पात्र शीरसेनी प्राकृत बोलते हैं।

वीरक और चंदनक की भाषा आवती प्राकृत है, विदूषक की प्राच्या प्राकृत और सवाहक, गजार का वसन्तसेना का और चारुदत्त का चेट, मिथु और चारुदत्त के बच्चे की भाषा मागधी प्राकृत है। अपभ्रंश बोलने वाला मगजार सवारी अपभ्रंश बोलता है दन्ता चांडाल चाणवी और मायुर तथा चूतकर ढक्की। अनुवाद में प्रवृत्ति में भाषाभेद नहीं किया गया है।

पर गकार की भाषा का 'ग' हिंदी में भी कायम रखकर अनुवाक न मूल की शली का प्रभाव पड़ा कर दिया है।

आमरण दाग क अनुवाद में अनुवाक न अधिकतर सस्वृत गद्या का सस्वृत रूप में ही प्रयोग किया है। दुष्ते, रदनिने, आयपुत्र विद्वान, वसतसेने ह क्षीणकटि, भाव—ये सब सस्वृत में ही उचित लगने वाले सम्बोधन है।

पतासा स्थानक भावी घटना का सूचक पताका स्थानक अनुवाद क अंक १, पृष्ठ ४३ पर आता है, पर अनुवादक मूल (पं ४५, ४६) का ठीक ठीक समझने में सफल नहीं हुआ।

प्रसंग यह है कि जब पीछा करते हुए दाकार स वचन के लिए वसतसेना जनजाने ही चारुत्त के घर घुस गई तब उसने अपने बड़ा भाग का यह कारण बताया कि मैं एक गहना धरोहर रखना चाहती हूँ। इसपर, चारुत्त ने विदूषक मन्त्रेय से कहा कि गहना लो। मन्त्रेय ने गहना लेकर वसतसेना का ऐसा आशीर्वाद दिया जैसे वह गहना मन्त्रेय की भेंट में मिला हो। चारुत्त ने उसे टोककर कहा जरे मूय यह तो धरोहर है। इस पर भवकिया मन्त्रेय ने जवाब दिया अगर ऐसा है तो चार लो जाए (इसकी यह धरोहर)। चारुत्त जगली बात कह रहा है कि जहर ही यह सौदा हुआ। मन्त्रेय और चारुत्त के ये दो वाक्य एक दूसरे में इस प्रकार गुप्त जाते हैं—

मन्त्रेय—अगर ऐसा है तो चोर ले जाए

चारु०—जल्दी ही

मन्त्रेय—इसकी यह धरोहर

चारु०—सौदा हुआ।

कुछ ही समय बाद चार सचमुच धरोहर चुरा लेता है।

इस प्रसंग का मूल अर्थ सस्वृत में यों है

“विदू०—(गृहीत्वा) स्वस्ति भवत्ये।

चारु०—पिंड मूल। पास सत्त्वयम्।

विदू०—(अपवाय) यद्येव तदा चाग्निपत्न्यताम्

चारु०—अचिरंणव कालन

विदू०—एयोऽस्या अत्माक विद्याम्

चारु०—नियानयिष्ये।’

अनुवाक न इस स्वरूप में रखा है

विदू०—(रसर) आपका क्याण हा।

चारु०—धिवकार है र मूय। जर यह तो धराहर है।

विदू०—(अवयमस्व गा) तो क्या है। भव हा चार हा ल जाण।

चारु०—रुद्र नोघ हो

विदू०—(वाक्कर) क्या इनका यह आभूषण हमारी विद्या धराहर है ?

चारु०—मैं मैं र नोघ हुआ।’

रस

मृच्छकटिक म शृङ्गार रस अगो है और हास्य जादि अग रूप म विद्यमान है ।
अनुवाद म शृङ्गार का एक उदाहरण यह है

चार०—मित्र ! उसकी निंदा न करा । यह घोर वर्षा करने वाला दुर्दिन संवडा
वप तक रहे और बिजली ऐस ही चमकती रहे । मुझ जैसे निधन को दुर्लभ प्रियतमा
वसनसना का आलिंगन इसीके कारण तो मिला है । उसी मनुष्य का जीवन धन्य है मित्र !
जो घर आई कामिनी के वर्षा से भीगे शीतल अमा को अपने अमा से जातिगित करता
है ।—पृष्ठ ११८

दसका मूल यह है

वपशतमस्तु दुर्दिनमनिरसधार शतह्रदा स्फुरतु ।
अस्मद्विधदुलभया यदह प्रियया परिप्लवत ॥

—५४८

अपि च वयस्य ।

धन्यानि तेषां खलु जीवितानि य कामिनीनां गृहभाग्यतानाम ।
आर्द्राणि मघोदकशीतलानि शान्नाणि गानेषु परिप्लवजति ॥

—५४९

दोना अवतरणा का मिलान करने से स्पष्ट हो जाएगा कि अनुवादक ने मूल अर्थ
का अक्षत रखा है और शृङ्गार रस की 'यजना मूल के समान ही करने म सफलता पाई
है ।

हास्य रस अधिकतर विदूषक के आश्रय से है । विदूषक के वचना का अनुवाद
सब जगह सुन्दर नहीं हो सका । दास्या पुत्र का जगह-जगह दासीपुत्र नीचपुत्र दासा
का बंटा अनुवाद हुआ है । वस्तुतः यह वेतुका अनुवाद है । 'दास्या पुत्र' कबल गाली के
रूप म, परिहास के लिए प्रयोग किया गया है । इसका शाश्वत लगाना परम्परा विरुद्ध
है । जो सचमुच दासी का पुत्र है उसे 'दास्या पुत्र' नहीं 'दासीपुत्र' कहा जाता है ।

अलंकार और वस्तु के अनुवादा म भी भूलें मिलती हैं और उनकी संख्या पचास-
साठ तक नही । पर २११ पृष्ठ के अनुवाद मे कुछ भूलें होने से अनुवादक के काय की
महत्ता कम नहीं होती, उसकी असावधानी का कुछ पता अवश्य लगता है ।

भाषा शैली

दस अनुवाद की भाषा प्रौढ मार्हिियन खड़ीवाला है और रचना सगुत दृढ़ है ।
शास्त्र-मूह म संस्कृत तत्त्वम गव्दा की अधिकता है जो संस्कृत नाटक के अनुवादा म कुछ
स्वाभाविक है । वही वही मुहावरेदार प्रयोग भी भाषा की सुन्दरता बना रह हैं जम
'आज कल किया (पृष्ठ ६६) मरा मन भी उमड़ रहा है (पृष्ठ १२३) । अधिकतर
वाक्य छाट नमय और साधक हैं । फिर भी नाटकीय गवाण की दृष्टि से दमें तो गली
निर्णय नहीं । संस्कृत के अनेक विरोधना का, जो छोटे से समास वाचक रूप म होन

हैं, हिन्दी में विशेषण ही बनाकर रखने से कही-कही वाक्य सम्ब और निर्मित हो गए हैं। उदाहरण के लिए पृष्ठ ८१ पर शर्विनरु का कथन।

दोष

सम्स्कृत का ठीक-ठीक न समझने के उदाहरणों की संख्या बहुत अधिक है। 'अथवा का पक्षांतर अथ न अनुवादक न कही भी अनुवाद नहीं किया। वंशिकी का अथ वंशज ब्रिया व स्थान पर वंश्यों के व्यापारनियम लगाया है (पृ० १८) 'धरटलम्बुक उव का अथ दाम काल की तरह किया है (पृ० २०) सही अथ था 'द्वैकली के पीछे बंध परस्पर की तरह।

दाम्या पुत्र का अनुवात् 'दासी पुत्र करना संस्कृत के मुहावर का न समझना है। पृ० ६५ पर हीम क छौर की पद्धति अनुवादक की समझ में नहीं आई और उसने 'हिणु तल की मुगधि' लिखकर काम चला लिया है। 'तपस्वी' के बारे में अथ न 'तपस्वी' ही रखा है।

पृ० ६२— 'घाडा क वाला की बाबा जा रहा है।' यहाँ बाधा के स्थान पर बाटा होना चाहिए।

नियम शिवाट (पृ० १२५) और भूठ (पृ० ७ १११) (भूठ) शब्द स्त्रीलिंग में प्रयुक्त किए हैं।

अलंकार कही कहा अगम्य में आया जनकार नष्ट हो गया है। पृ० ६६ पर चारुत्त के प्रथम कथन में एक अंत यह है—'वनगज के पने दात की नाक सा यह उगति-शाल चंद्रमा। यहाँ उपमा बिगड़ गई है। 'दात की नाक' से नहीं 'अग्रभाग से चंद्रमा की उपमा दी गई थी—चंद्रमा की बकिमा के कारण। नोक बकिमा की सूचक नहीं है। इसी प्रकार पृ० १०७ पर, घट के कथन में 'अगर का पद परिवर्तन' ठीक नहीं। 'अगर वाल पदों का हाना चाहिए।

औचित्य वसंतसेना की चेटी का वसंतमना का नाम नहीं लेना चाहिए। पर अनुवादक ने उसके मुंह से वसंतमना का नाम कहलवाया है (पृ० ६७) जो औचित्य की दृष्टि से ठीक नहीं।

भूतमाकन

प्रस्तुत अनुवाद में संस्कृत की ठीक ठीक न समझ पान के कारण बहुत सी गलतियाँ अवश्य हैं पर अनुवादक ने अधिकतर अनुवाद अच्छा किया है। उसका माया-गली पर संस्कृत का प्रभाव है पर वह हिन्दी में छप जाता है। रचना संगत है और उसमें घाडा हर फेर करके उसे सेलने के माध्यम नाटक के लिए उपयुक्त बनाया जा सकता है।

मुद्राराक्षस

प्रकाशन शंकर रायव का दूसरा अनुवाद मुद्राराक्षस है। यह अनुवाद पहली

रचनाशैली मूल के गद्य और पद्य दाना का अनुवाद गद्य में हुआ है। पर नाट्य के दोना श्लोको, तीसरे एक में दाना वतालिका के गाए हुए चार श्लोको और भरतवाक्य का अनुवाद पद्या में किया गया है। इन प्रसंगा का पद्य में अनुवाद अनुवादक की इस धारणा का परिणाम प्रतीत होता है कि ये अद्य भेद्य हैं और इसलिए उनका अनुवाद भागाया जा सकता चाहिए। नाट्य के दूसरे श्लोक के अनुवाद में चार पक्तियाँ रहाने अपना आर में जोड़ दी हैं।

भाषा मार अनुवाद की भाषा साहित्यिक खड़ी बोली हिन्दी है। पद्य भी इसी भाषा में है।

अनुवाद शैली यह अनुवाद भाषा भाषा तर ही है जिसमें मूल नाटक का यथा-वत हिन्दी में किया गया है।

अनुवाद-कौशल

भूमिका अनुवादक ने मूल नाटक का परिचय देने और महत्त्व बताने के लिए चौथी पंक्ति में एक भूमिका लिखी है। इसमें भारतेन्दु हरिश्चन्द्र का अनुवाद की चर्चा करके लखन ने लिखा है कि भारतेन्दु ने श्लोका का अनुवाद ब्रजभाषा के पद्यों में किया था। 'मैंने इसी कारण मुद्राराक्षस का आधुनिक शैली में अनुवाद करने की चेष्टा की है जिसमें पद्य के स्थान पर गद्य का प्रयोग किया है।' (भूमिका पृष्ठ ६)।

अनुवादक की धारणा है कि मूल नाटक की रचना चन्द्रगुप्त द्वितीय के समय चौथा पाँचवीं शताब्दी में हुई है (पृष्ठ ५)।

अनुवादक ने मुद्राराक्षस की कथा की समस्यात्मक बताया है (पृ० १४) और 'सम्भवतः यही कारण है कि भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने हिन्दी के नवयुग के उदये में इसका महत्त्व प्रतिपादन करने के लिए इसका अनुवाद किया था (पृष्ठ १४)।

अनुवादक की सम्मति में नाटक का नायक चाणक्य है चन्द्रगुप्त नहीं, और राक्षस प्रतिनायक है (पृ० १३)। वस्तुतः अनुवादक ने वर्तमान काल की प्रधान पात्र का नायक सम्भन की प्रवृत्ति को नाटक पर आरोपित कर लिया है। उसने इस बात पर ध्यान नहीं दिया कि चाणक्य जागिर जीकर ही है जिसे राजा किसी भी समय बर्खास्त कर सकता है। नायक यह होता है जिसे फल प्राप्त हो। निःसन्देह चाणक्य का अपने लिए धर्मार्थ-काम की आवश्यकता नहीं। वह निष् की तरह 'धन जाय न धरती इस शका से धरते पग अपने जा ममान (पृ० १७) है, जो लोकमंगल के लिए यत्नशील है। इसलिए उस कोई फल मिलता भी नहीं।

नाट्य-विधान

नाट्य नाट्य के श्लोका का अनुवाद पद्य में किया गया है और दूसरे पद्य में चार पक्तियाँ अथवा हिस्सा अपनी ओर से जोड़ना पड़ा है क्योंकि श्लोक की सामग्री अनुवादक ने आधे पद्य में ही समाप्त हो गई। यह अनुवादक के कौशल की कमी की वही जाणगी।

मूल नाट्यी अष्टपदा है। पहले श्लोक में मातृपद या अवात्तरवानम हैं, और दूसरे में एक। अनुवाक में इस बारीकी की उपेक्षा हुई है।

स्थापना महा स्थापना में 'शूरयद्' (१६) से बीज-मूलन किया गया है। इस श्लोक का अनुवाक बिलकुल नहीं समझा। यह भयानक राहु अपूर्ण चन्द्र का धनपूवक प्रमत्ता चाहता है (पृ० १६) निखर और फिर अगल नपम्य वचन में चन्द्रगुप्त शत्रु का प्रमाण करके उसमें मारा प्रमाण मिटटी कर दिया है। इस प्रसंग का दुष्यक वनान की आवदयकता पर उसका बिलकुल ध्यान ही नहीं गया।

पात्र-प्रवेश चाणक्य मूनधारक वाक्य का पकड़कर मन पर जाता है। महा चाणक्य में मूनधारक कथन के बाद आ वाक्य जाता है वही मून वाक्य वह मन्त्र पर आकर बालता है। अनवादक ने हर बार भिन्न वाक्य बनाया है। इससे मन की साधकता की गति हुई है। पहले 'मर जीवित रहते', फिर 'मर रहते हुए और तीसरी बार 'मर जीवित और स वाक्य आरम्भ हुए हैं (पृष्ठ १६-२०)।

वीर्यग प्रथम अब के गुण में चाणक्य के गिण्य और यमपट के गान वान चर में हुई यातचीत नासिका कीष्मण ह। चर ऐसे शब्दों का प्रयोग करता है जिनमें दो अर्थ निकल सकते हैं। वह कहता है

"जानातु तावत् वस्य चन्द्रो न भिमत इति — पृष्ठ ३५।

यहां 'चन्द्रो' शब्द बाद और चन्द्रगुप्त नाम का अर्थ दे मकना है। पर यदि चन्द्रा के ध्यान पर 'चन्द्रमा' शब्द का प्रयोग किया जाए तो उससे 'चन्द्रगुप्त' अर्थ उतना सीधा नहीं निकलता। अनुवादक ने 'चन्द्रमा' शब्द का प्रयोग किया है

"ता क्या कहें भी जान सचत है कि चन्द्रमा किस अच्छा नहीं लगता ?"

(पृष्ठ २५)

प्रवृत्ति सम्भृत नाटक का भाषा भेद अनुवाक में नहीं नहीं दिया गया। नवल साहित्यिक खड़ी बोली का प्रयोग किया गया है।

आम-गण शब्दों के प्रयोग में अनुवाक में संसृष्ट होती ही अपनायी है। सखे, बरस, शीघ्रोत्तरे, वहीनर, आदि शब्दों का प्रयोग पठिताक है, और वहीनर' जैसे प्रयोग हिन्दी मुहावरों के विपरीत हैं।

पताकी-स्थानक अनुवादक ने पताकास्थानका के अनुवाद में कुछ कुशलता नहीं दिखाई। उदाहरण के लिए,

चाणक्य—(विता में स्वगत) क्या दुरात्मा राक्षस अब पकड़ में आ जाएगा।

सिद्धायक—आय, पकड़ लिया।

चाणक्य—(मह्य स्वगत) राक्षस का पकड़ लिया। (प्रगट) भद्र किम पकड़ लिया ?

सिद्धायक—मैं आय के शब्दों के सत्त्व का पकड़ लिया। अब कायसिद्धि के लिए जाता हूँ—पृष्ठ ३२

यह अनुवाद बहुत उपयुक्त नहीं हुआ। संसृष्ट में यहीन शब्द था। अंतिम वाक्य में हमका अनुवाद वेमुहावरा हो गया है जो मोठे से परिवर्तन से ठीक हो सकता

या ।

असादि भाव रस की व्यञ्जना की दृष्टि से अनुवाद साधारणतया सुन्दर हुआ है । उदाहरण के लिए,

राक्षस—(घबड़ाहट के साथ शस्त्र खींचकर) कौन मेर रहते हुए कुसुमपुर की घेर मक्ता ह ? प्रवीरक ! प्रवीरक ! अनुभरो को प्राचीरा पर हर ओर खड़ा करो, शत्रु के हाथिया को कुचल देने वाले अपन हाथिया को द्वार पर खड़ा कर दो । मरने और जीने की चिन्ता छोड़कर शत्रु विनाश करने के इच्छुक पुण्य कीर्ति चाहने वाले मेरे साथ बाहर निकलें ।

इसका मूल यह है

राक्षस—(शस्त्रमावृष्य समभ्रम) ममि स्थितं कं कुसुमपुरमुपरोत्स्यति ?
वीरक ! प्रवीरक ! निप्रमिदानोम—

प्राकार परितः शरासनवर निप्र परिश्रम्यता ।

द्वारेषु द्विरद प्रतिद्विपघटाभेक्ष्य स्थीयताम ।

मुक्त्वा मृत्युभयं प्रहृतुं मनसः शत्रोबले दुबल ।

तं निर्मातुं, मया सहकमनमो, येषामभीष्टं यथ ॥

—२१५

इसके अनुवाद में मूल के उत्साह भाव की सशक्त व्यञ्जना हुई है । पर अभिनय संकेत के अनुवाद में थोड़ी त्रुटि रह गई है । समभ्रम का अनुवाद 'घबड़ाहट के साथ' बहुत सगत नहीं । उत्साह में घबड़ाहट का क्या काम ? यस्तुतः सभ्रम का अधिक उपयुक्त अनुवाद 'हड़बड़ाहट' होता ।

भाषा शैली अनुवादक की रचना और शब्दचुनाय प्रौढ़ और शिष्ट बगैर हैं । वाक्यांश में संस्कृताकृपना नहीं आया और जहाँ मूल रचना की गौड़ी रीति का कारण बड़े वाक्य अनुवाद में रखे गए हैं वहाँ भी वह स्पष्ट और सीधे है । तत्सम शब्दसमूह ही प्रधान हैं पर बोलचाल के प्रयोगों से भी अनुवादक का अच्छा परिचय है । ये लो (पं० ३०), मदा वयो (वयस्य कस्मिन्निमित्ते) (पं० १६) जैसे बोलचाल के प्रयोग अनुवाद की शुद्धता बढ़ाने में सहायक हुए हैं ।

दोष अनुवाद में मूल की ठीक ठीक न समझने की गलतियों की संख्या बहुत है । प्रस्तावना का क्रूरग्रह श्लोक अनुवादात्क ठीक नहीं समझ सका और उसका अनुवाद (पं० १६) चलाया हो गया । खेद का वाचक 'अहह' शब्द को अनुवादात्क हसी का वाचक समझा है और उसका अनुवाद ह ॥ ह किया है (पं० ३६) । 'नान्यथं अवलोक्य अनुवात्क' में 'अचानक' दखकर (पं० ३३) है, अस्मच्छरीरमभिद्राग्ध 'वह नित्य हमारा विरोध करना है (पं० ३२), इत्यादि ।

१११ के अनुवाद में अगण्य रूपक अलंकार को उपमा न बदल देने में—'रमणिया की मी निमात्रा—अनुवात्क भड़ा हो गया है (पं० २१) ।

भाषा में प्रिय जस प्रयोग, जो प्रचलित हिन्दी में कोई नहीं बोलता नाटकीय संवादात्क में कुछ कृत्रिमता सात है ।

मूल्यांकन कुल मिलाकर रागेय राघव के दोनों अनुवाद अच्छे हैं। उनकी शैली शिष्ट होते हुए भी सरल और प्रवाहमयी है, और मूल भाषा की परछाई बहुत कम है। नाट्यविधान और भाव व्यञ्जना की अधिकतर बारीकियाँ का पकड़ने और हिन्दी में उपयुक्त रीति से प्रस्तुत करने में उन्हें सफलता मिली है। अनुवाद गद्य में है और समसामयिक नाटक की भाषा शैली के अनुरूप है। चुटिया वाली होत हुए भी उनकी अनुवाद रचनाएँ हिन्दी साहित्य की श्रीवृद्धि में सहायक हैं।

या ।

रसगदि भाव रस की व्यञ्जना की दृष्टि से अनुवाद साधारणतया सुंदर हुआ है । उदाहरण के लिए,

‘राक्षस—(धवडाहट के साथ शस्त्र खींचकर) कौन मेरे रहत हुए कुसुमपुर का घेर सकता है ? प्रवीरक ! प्रवीरक ! धनुबरो को प्राचीरा पर हर ओर खड़ा करो, शत्रु क हाथियो को कुचल देन बाल अपने हाथिया को द्वार पर खड़ा कर दो । मरने और जीन की चिन्ता छोड़कर शत्रु विनाश करने के इच्छुक पुण्य कीर्ति चाहने बाल मेरे साथ बाहर निकलें ।’

इसका मूल यह है

राक्षस—(शस्त्रपाट्य ससम्भ्रम) मयि स्थित क कुसुमपुरमुपरोत्स्यति ?
वीरक ! प्रवीरक ! निप्रमिदानीम—

प्राकार परित सरासनधर निप्र परिश्रम्यता ।

द्वारेषु द्विरद प्रतिद्विषयटाभेत्सम म्धीयताम ।

मूर्त्वा मृत्युभय प्रहृत् मनस शत्रोबले दुबले ।

ते निर्यातु, मया सहकमनसो यपामभीष्टयश ॥

—२१३

इसका अनुवाद में मूल के उत्साह भाव की संशक्त व्यञ्जना हुई है । पर अभिनय संकेत के अनुवाद में थोड़ी त्रुटि रह गई है । ‘ससम्भ्रम’ का अनुवाद ‘धवडाहट के साथ बहुत मगत नहीं । उत्साह में धवडाहट का क्या काम ? वस्तुतः सम्भ्रम का अधिक उपयुक्त अनुवाद ‘हड़बड़ाहट’ होता ।

भाषा शैली अनुवादक की रचना और शब्दचुनाव प्रीठ और गिष्ट का है । वाक्या में संस्कृताऊपना नहीं आया और जहाँ मूल रचना की सौड़ी रीति का कारण बड़े वाक्य अनुवाद में रले गए हैं वहाँ भी व स्पष्ट और मीचे हैं । तत्सम शास्त्रसमूह ही प्रधान है पर बोलचाल के प्रयोगों में भी अनुवादक का अच्छा परिचय है । ये लो (पृ० ३०), भाषा कथो (कथय कस्मिन्निमित्ते) (पृ० १६) जैसे बोलचाल के प्रयोग अनुवाद की सुन्दरता बढ़ाने में सहायक हुए हैं ।

दोष अनुवाद में मूल की ठीक ठीक न समझने की गलतियों की संख्या बहुत है । प्रस्तावना का क्रूरग्रह श्लोक अनुवादक ठीक नहीं समझ सका और उसका अनुवाद (पृ० १६) बर्णा हुआ गया । छंद के वाचक ‘अहं शास्त्रोऽनुवात्क’ हसी का वाचक समझा है और उसका अनुवाद ‘ह ह ह किया है (पृ० ३६) । नाट्यन अवलोक्य शत्रुवात्सल्यम अचानक देयकर (पृ० ३३) है ‘अस्मच्छरीरमभिद्राग्ध’ वह नित्य हमारा विरोध करता है (पृ० ३२), इत्यादि ।

१११ के अनुवाद में अग्ररूप रूपक अलंकार को उपमा में बदल देने से—रस गिया का सा दिशाज्ञा—अनुवात्क बढ़ा हो गया है (पृ० २१) ।

भाषा में प्रिय जिस प्रयोग, जो प्रचलित हिंदी में कोई नहीं बालता, नाटकीय संवादा में कुछ तृप्तिमाना सात है ।

मूल्यांकन कुल मिलाकर रामय रामय के दोनों अनुवाद अच्छे हैं। उनकी शली शिष्ट हात हुए भी सरन और प्रवाहमयी है, और मूल भाषा की परछाई बहुत कम है। माट्यविधान और भाव व्यञ्जना की अधिकतर बारीकियाँ का पकड़न और हिन्दी में उप-युक्त रीति से प्रस्तुत करने में उन्हें सफलता मिली है। अनुवाक गद्य में है और समसामयिक नाट्य की भाषा शला के अनुरूप है। चूटिया वाली हात हुए भी उनकी अनुवाद रचनाएँ हिन्दी साहित्य की थीकटि में सहायक हैं।

पाचवा अध्याय

अभिज्ञानशाकुन्तल के पांच अनुवादों का तुलनात्मक अध्ययन

पांच अनुवाद

अभिज्ञानशाकुन्तल के दस अनुवाद मिलते हैं जो विभिन्न समयों में हुए हैं। मेवाज कवि ने शाकुन्तलोपाख्यान नाम से शाकुन्तल की सम्प्लित कथा लिखा जो जिस अनुवाद नहीं कहा जा सकता। एक अनुवाद धौकल मिश्र का किया हुआ है। इसका पहला आधुनिक हिन्दी अनुवाद राजा लक्ष्मणसिंह का किया हुआ ही समझना चाहिए जो सारा खड़ी बोली गद्य में पहले १८६३ में प्रकाशित हुआ था। इसके बाद १८८८ में न० वि० १८ का अनुवाद प्रकाशित हुआ और १८८९ में राजा लक्ष्मणसिंह का खड़ी बोली गद्य और अजभाषा पद्य में किया हुआ अनुवाद निकला। तरह-वगैरे बाद १९०२ में ज्वाला प्रसाद मिश्र का अनुवाद प्रकाशित हुआ पर उसका कोई विशेष महत्त्व नहीं। फिर १९३७ में बलदेव शास्त्री का खड़ी बोली गद्य पद्य में किया हुआ अनुवाद निकला। १९५४ में विराज का, १९५८ में इन्दुशेखर का और १९६१ में वागीश्वर विद्यालकार का अनुवाद प्रकाशित हुए जिनमें से पहला खड़ी बोली गद्य में और शेष दो खड़ी बोली गद्य-पद्य में हैं। इनमें से राजा लक्ष्मणसिंह (भारत-दुकाल), और पिछले चार अनुवादों की तुलनात्मक आलोचना करने का यहाँ प्रयत्न किया जाएगा।

इस प्रसंग में सबसे पहले इस बात की ओर ध्यान जाता है कि शाकुन्तल का अनुवाद करने की ओर अनुवादकों का उत्साह १९५४ तक भी बहुत कम रहा। यद्यपि १९३७ में बलदेव शास्त्री ने इसका एक अनुवाद प्रस्तुत किया पर अन्य अनुवादकों इस प्रयत्न की ओर नहीं बढ़े। इसका प्रमुख कारण यह दिखाई देता है कि राजा लक्ष्मणसिंह का अनुवाद इतना उच्च-काटि का और लोकप्रिय था कि उस तक पहुँचना अशक्य समझ कर अनुवादकों को इस ओर बढ़ने का हौसला न हुआ। बलदेव शास्त्री ने जो अनुवाद किया भी, वह राजा लक्ष्मणसिंह के अनुवाद के माँग से अपना माम भिन्न रखकर किया — आपने पद्य में अज भाषा का स्थान पर खड़ी बोली का प्रयोग किया। दूसरी ओर १९५४ १९६१ के आठ वर्षों में इसने तीन अनुवाद प्रकाशित हुए।

अनुवादकों में पांचा अनुवादक संस्कृत, हिन्दी, और भारतीय काव्यपरम्परा के अच्छे विद्वान हैं। राजा लक्ष्मणसिंह ने मेघदूत, रघुवंग आदि और भी हिन्दी-अनुवाद साहित्यरमिका की नोट किए थे। बलदेव शास्त्री ने वेणीसहार (१९३२) और मुद्राराक्षस

(१८४३) के साथ-साथ भास के आठ नाटकों के अनुवाद और किए हैं त्रिम से सान—
प्रतिभा योगधरायण, प्रतिभा, स्वप्नवासवदत्ता पंचरात्र ऊरुभग, मध्यम व्यायाग और
दूतवाक्य छप चुके हैं और चारुदन अभी अप्रकाशित है। शास्त्रीजी ने यजुर्वेद का भी
पद्यानुवाद यजुर्गीत के नाम से किया है। विराट के अनुवादों में विजयमोक्षी (१८५७)
भातविक्रान्तिमित्र (१९५७) और कुमारमम्मव भी हैं। आपका भौतिक कविता संग्रह
और नाटक भी प्रकाशित हुए हैं। इन्दुशेखर सस्कृत साहित्य के अध्यापक रहे हैं और
आपने विजयमोक्षी का अनुवाद भी किया है। बागींदर विद्यालंकार आजीवन सस्कृत
साहित्य तथा हिन्दी साहित्य का अध्यापन करते रहे और अध्यापनकाय से अवकाश पाने
पर आपने यह अनुवाद किया है। कुन्दमाला का अनुवाद आपने १९२२ में किया था।
सस्कृत और हिन्दी में आपकी भौतिक रचनाएँ भी हैं।

पांच अनुवादकों की पष्ठभूमि से पता चलता है कि वे शाकुन्तल का अनुवाद
करने की क्षमता में सम्पन्न थे। सबको विषयवस्तु का अच्छा पान भी था और अनुवाद
का अभ्यास भी।

रचना शैली १८५० ई० से साहित्य की विषयवस्तु, भाषा और शान का
झुकाव स्पष्ट रूप से एक दिशा में हुआ गया था जिसे आधुनिकता शब्द से कहा जा सकता
है। आधुनिकता का साहित्य की भाषा पर यह प्रभाव पड़ा कि ब्रजभाषा का स्थान
पश्चिमी हिन्दी या उर्दू बोली ने ले लिया। रचना शैली में गद्य का आविर्भाव हो गया
और विषयवस्तु में राजनीतिक सामाजिक समस्याओं का स्थान मिलन लगा।

राजा राधमणिसिंह के अनुवाद से ये तीनों बातें सामने आती हैं। आपने अनुवाद
में सही बोली की गद्य रचना रखी। जहाँ तक विषयवस्तु का प्रश्न है यह पूछा जा सकता
है कि उन्होंने शाकुन्तल जैसे पुराने नाटक को प्रस्तुत करना क्या आवश्यक समझा।
इसका उत्तर यह है कि शाकुन्तल का अनुवाद उन्नीसवीं शताब्दी में भारत की राष्ट्रीय
श्रैष्ठ्यता का दावा करने वाले स्वरो की गूँज का सूचक है। इसे पुनर्जागरण की लहर भा
गहने हैं पर वस्तुतः यह लहर राष्ट्रीयता की आधुनिक यूरोपीय धारणा की लहर थी।
इसलिए अनुवाद के लिए 'शानुन्ता' का चुनाव भी आधुनिकता की ओर ही प्रवृत्ति
सूचित करता है।

पहले राजा साहब ने सारी रचना गद्य में की थी। उस समय साहित्य में गद्य की
भाषा ब्रज ही थी। राजा साहब के अनुवाद के प्रकाशन के बाद भारतेन्दु ने जो अनुवाद
प्रकाशित हुए उनमें गद्य ब्रजभाषा में अनूदित हुए थे। सम्भाव्यतः इन रचनाओं से ही
प्रभावित होकर राजा साहब ने भी सस्कृत गद्य भाग का ब्रजभाषा के गद्य में अनूदित
करके, २६ वष बाद, १८८६ में पुनः नवीनरूप में प्रकाशित किया। यह दूसरा संस्करण
पहले से भी अधिक लोकप्रिय हुआ।

विराट को छाहकर गण तीन अनुवादकों ने सही गद्य गद्य की ही रखी।
पर बावजूब शास्त्री और इन्दुशेखर के पद्यों में ऐसे उदाहरण बहुत हैं, जिनमें छन्द में
सफाई नहीं आई। छन्द का चुनाव करने में उससे जोचित्य पर भी विशेष विचार नहीं
किया गया। बागींदर विद्यालंकार के पद्यों में सफाई भी है और छन्द के चुनाव में विवेक

भी पर कही-कही ऐसे तत्सम शब्दों का प्रयोग करने से प्रसादगुण की हानि हो गई है जो साधारण हिंदी पाठक नहीं समझता। अनुवादक ने पादटिप्पणियाँ में सरल हिन्दी पद्यायवाचक देकर स्वयं अपनी उस विवक्षता को स्वीकार किया है। विराज गद्य में अनुवाद करने का कारण पद्य में मफाई लाने के परिश्रम से भी बच गए हैं और कठिन तत्सम शब्दों का प्रयोग करने के लिए भी मजबूर नहीं हुए। पर छंद के अभाव में आपकी रचना भाव-योजना में तान और सय की महायता से अधिकतर रह गई है।

अनुवाद शैली गली की दृष्टि से चार अनुवाद तो अविकसल भाषांतर अनुवाद हैं। बलदेव शास्त्री ने कुछ स्थल छाड़ दिए हैं या उनका रूपांतर कर दिया है और नीचे टिप्पणी देकर मूल को जशाल बताया है। काव्य रचना के अनुवाद में अतिवृत्ति कता का यह प्रदर्शन निद्वज्जनाचित नहीं लगता। भरतमुनि ने शृङ्गार को उज्ज्वलवप कहा है। जो अश्लील है वह शृङ्गार से भिन्न वस्तु है। शास्त्रीजी उस विद्वान की कसम से निकले एम शब्द भ्रम पत्र करते हैं। प्रतीति हाता है, शास्त्रीजी रचना को छानोपयोगी बनाने और विद्यालया में प्रवेश दिलाने की चिन्ता से आच्छन्न थे।

अनुवाद-शैली भूमिका विराज और इंदुशेखर ने अपने अनुवादों का आरम्भ में विस्तृत भूमिकाएँ देकर मूल लेखक का परिचय कराने और रचना का मूल्य बताने का यत्न किया है। बलदेवजी का अनुवाद के साथ कवीभासा की लिखी भूमिका है जिसमें अनुचित रचना की सराहना की गई है। पहली दो भूमिकाएँ विस्तृत और उपयोगी हैं यद्यपि मौलिक शाध की दृष्टि से वे बहुत महत्वपूर्ण नहीं। उन्हें पढ़ने से पाठक को कालिदास और उसकी रचनाओं के विषय में प्रचलित अनेक विचारों और मतों का पता चल जाता है।

नाट्य-विधान

नाट्य नाट्य पद्य का अनुवाद में जो पांच अनुवादकों ने पद्य में ही रखा है, विराज को छोड़कर और सब ने सूक्त-बुक्त से काम लिया है। विराज ने कवि की प्रौढ़ि, अध्याय व्यास और समास की शक्तियों के महत्त्व पर ध्यान नहीं दिया—कालिदास का 'याम्य' शब्द के अर्थ का समास नहीं म रखा दिया है। या 'सृष्टि सप्तपुराणा अनुवाद में मलिन हो गया है। यह सलिल शब्द और इसी प्रकार पद्य के दूसरे पद का यायसूचन में भी अस्मय है और नाट्य वाक्या या पद्य की संख्या वाले नियम की भी उपेक्षा के सूचक है। ये अनुवादकों ने यह सरल रास्ता नहीं अपनाया और उन्हें मूल के ही समान व्यंजन अनुवाद करने में मफलता मिली है चाहे वाक्यसंख्या के नियम का पालन न भी हो मका है। जम लक्ष्मणसिंह का अनुवाद में जिसमें आठ की जगह नौ वाक्य हो गए है।

प्रयोगातिशय प्रस्तावना में एष राजव दुष्यंत सारमेणातिरहसा कहकर मूलधार में नाटकीय पात्र की स्थापना की है। यहां सबेन निवृत्तर्ती पात्र की ओर रहना चाहिए वंगवान् हरिण की ओर नहीं। यह कौटिल्य लक्ष्मणसिंह और बलदेव शास्त्री की पद्य में बिलकुल नहीं आया, और दृष्टान्त भी अच्छी तरह इसकी वारीसी नहीं समझ मर। लक्ष्मणसिंह ने लिखा

ज्या राजा दुष्यन्त को लायी यहै कुरंग ।

इसम एष अर्थात् यह शब्द राजा के बजाए कुरंग के साथ लग गया है। यही दृग्य

बलदत्त नाम्नी ने रखा है

जम नप दुष्यन्त को यह कुरंग गतिमान ।

—पृष्ठ ५

इ दुनोकर न गया

हुए जावपित ज्या दुष्यन्त

दखकर भगता जह मृग मान ।

—पृष्ठ ३

यन्त भी मूल का विशेषता उपनिष ही हा गई है ।

वागीश्वर विद्यातकार न इस या सारठे म किया है

तुमने गा सारग राग खीच मुमको किया ।

जैम तीज कुरंग ने राजा दुष्यन्त का ॥

—पृष्ठ ७

हमारे निचार म यह अनुवाद अविक भूसानुसारी होता

राग तुम्हारा ले गया खीच मुझे यह संग ।

इस राजा दुष्यन्त का जैत दूत सारग ॥

प्रवृत्ति पात्रभाषा पात्र की सामाजिक आदि स्थिति के अनुसार उसकी भाषा की विविधता करने की ओर अनुवादका ने कोई ध्यान नही दिया। केवल वागीश्वर विद्या तकार ने सातवें अंक में सवदमन के बाल तानने रखकर उस प्रवृत्ति के अनुरूप वनान का यत्न किया। छठे अंक के आरम्भ में पुलिस् और मछुए के संवाद में बलदत्त शास्त्रा का छाहकर और अनुवादका का ध्यान उसे प्राप्ति बनाने की ओर गया है, पर इसके लिए इ होने भाषा में बदलाव केवल गली में औचित्य का समावेश किया है।

आम्रण-शब्द पात्रों अनुवादका ने आम्रण शब्द का आधुनिक रूप देने का यत्न किया है, पर लक्ष्मणसिंह का छाहकर गीत चार के अनुवाद में पदाग्रह दाप भी दिखाई देता है। लक्ष्मणसिंह ने सारथी द्वारा दुष्यन्त के लिए कहा गए 'आमुमन' शब्द का अनुवाद जहाँ महाराज किया है, वहाँ एक महत्वपूर्ण सामाजिक तथ्य का उद्घाटन हो गई है। 'आमुमन' शब्द बड़ा छाटे के लिए कहा गया है। सारथी का पर बड़ा गौरव पूर्ण होता था और सारथी युद्ध विद्या में निष्णात अनुभवों और वयावर्द्ध लग हाता था। उनके मुख से युवक राजा के लिए 'आमुमन' शब्द ही शोभा देना था। इसी स्थान पर 'महाराज' शब्द का प्रयोग सारथी और दुष्यन्त के सम्बंध में प्रचलित सामाजिक आचार को विवृत कर देता है।

आर्ये हला भद्रे, वस्ते जम प्रयाग वतमान बाल के चारों अनुवादों में मिलते हैं। राजा लक्ष्मणसिंह ने इस तरह प्रयोग न करने प्रसंगानुसार हिंदी बोलचान और व्याकरण से अनुमात्रित रूप आर्या, अजी, अजी, अजी आदि प्रयोग किए हैं।

रसादि

रस-व्यञ्जना में सफलता की दृष्टि से लक्ष्मणसिंह, वागीश्वर विद्यालङ्कार विराज, इन्दुशेखर और बलदेव शास्त्री इसी श्रेणी में रखे जा सकते हैं। लक्ष्मणसिंह की ब्रजरचना और वागीश्वर की खड़ा बोली हिन्दी की रचना प्राञ्जलता में एक दूसरे से होड़ लगा रही हैं। विराज की रचना गद्य में होने के कारण तान-स्वय से जानेवाली तरलता उभर नहीं आ पाई है। इन्दुशेखर की पद्यरचना में बहुधा वाक्यान्वय अधूरा अनुभव होता है। यही बात बलदेव शास्त्री की रचना में भी है।

शृंगार रसव्यञ्जक एक पद्य के अनुवाद के उदाहरण नीचे दिए जाते हैं (बलदेव शास्त्री ने यह अंश छोड़ दिया है—गायद सदाचार के विचार से)। मूल पद्य यह है (मयाहि) मुहुरगुलिसयताधरोष्ठ प्रतिपेधाक्षरविकलवाभिरामम्।
मुखमसंबिधति पद्मलास्या कथमप्युनमित न चुम्बित तु ॥

—१२७

राजा लक्ष्मणसिंह

बार बार अगुरीन तैं लीने हाठ दुराय।
नाहि नाहि मीठो वचन, बोली मुख मुरकाय।
ता छिन मृगननी बदन मैं कछु लियी उठाय।
प अधरामृत पान को समरथ भयी न हाय ॥

—पृष्ठ ६७

वागीश्वर विद्यालङ्कार

रख रज अगुली ढक लिया निचला हाठ लताम।
नही 'नही कहती सगी वह कसी अभिराम।
मुह कंधे की ओर था फिर फिर जाता धूम।
कुछ ऊंचा भी कर लिया नही मका पर चूम ॥

—पृष्ठ ५१

विराज

जब वह गुदर पलका वाली गङ्गातला अगुलिया से अपने हाठ को ढककर बार बार नहा, नही कहती जा रही थी और स्मलिये और भी अधिक सुन्दर लग रही थी, उस समय मैं उससे कंधे पर रखे हुए मुख को जस-तम ऊपर की ओर ता दिया कि तु चूम नहा पाया। (पृष्ठ ८२)

इन्दुशेखर

अंगर पर घर अगुली हूँ बार।
निपेधाक्षर कहता अभिराम।
उठाय तो पर सका न चूम।
भुका मुझ का बदन लताम ॥

—पृष्ठ ३८

रूप-वर्णन

मूल—

अनाघ्रात पुष्प विमलयमलून कर रहे—
रत्नविद्ध रत्न मधु नवमनाम्बादितरनम ।
अवड पुष्पाणा फलमिव च तद्रूपमनघ ।
न जाने भाक्तार कमिह समुपस्थास्यति विधि ॥

—पृष्ठ १०

लक्ष्मणसिंह

वह तो निरदोषिल रूप लिया बिन सूख्यो मनो कोई फल नयो ।
नव पल्लव के नखहू न लग्यो कोई रत्न बिधा जा बिध्या न गया ।
फल पुन्नन को है जसड बिधा मधु है सन क बिन म्बाद नयो ।
बिधना मत मोहि न जानि पर ताहि चाहत कौन के भागि दया ।

—पृष्ठ ४२

पागीश्वर विद्यालकार

फूल किसी से गया न सूधा, पल्लव बिन ताड़ा छबिमान ।
रत्न अर्नबिधा मधु वह अभिनव जोकि किसी स गया चवान ।
है अखण्ड पुष्पो का फल-सा उसका विमल रूप निष्पाप ।
नही जानना कौन, जिम विधि देन को है वह उपहार ॥

—पृष्ठ ३७

बलदेव शास्त्री

है फल जो सूधा नहीं किसलय नहीं नखछिन जा,
नव मधु नहीं चाखा जिसे, है रत्नवर नहि भिन जा ।
वह पुष्पफल से पूरा माना रूप निमल है बना,
ससार म जान न किसी पूरा होगी कामना ॥

—पृष्ठ ३३

इन्दुनोसर

रूप उम बाना का निर्दोष,
बिना सूधा ज्या सुभग प्रसून ।
रत्न, वह जिसम हुआ न छिद्र
पत्र ज्या नख स रहा अतून ।
नयामधु बघा न जिसका स्वाद,
मुक्तका फल ज्या सुखद अपार ।
न जान किम भोक्ता को देव
करगा अर्पित यह उपहार ॥

—पृष्ठ २३

विराज

राजा—धीरे धीरे मन में तो रह रहकर यह बात आती है कि वह ऐसा फूल है, जिसे किसीने जभी तक सूँघा नहीं है। ऐसा नवपल्लव है जिसे किसीने नाखून से कुतरा नहीं है। ऐसा नया मधु, जिसका किसीने स्वाद तक नहीं चखा है। वह निभल सौन्दर्य अखण्ड पुष्पा के फल के समान है। न आने बिघाता उसने उपभोग के लिए किस भाग्य शाली को ला खड़ा करेगा। (पं० ६५)

यहाँ मूल में मालापमा अलङ्कार अंगरूप है जो रूपचित्रण कर रहा है। प्रधान व्यंज्य अथ मतिभाव है। पहली तीन पक्तियाँ में आश्रित या विशेषण वाक्य हैं अन्तिम पक्ति में प्रधान या विशेष्य वाक्य है। विधि इह (अस्मिन् अन्धे रूप) न जान क भाक्ता रम समुपस्थास्पति' इस प्रकार अन्वय है।

लक्ष्मणमहि न वस्तुवचन की गली उपमा से उत्प्रेक्षा में बदल दी है पर रूप का उभार सबसे कम नहीं हुआ। बागीचर विद्यालङ्कार और इन्दुनेखर में मालापमा रखते हुए ही बड़ा स्पष्ट और सुन्दर चित्रण किया है। बलदेव गार्गी का अन्तिम पक्ति गिधिल है, तीसरी पक्ति में उपमा का स्थान उत्प्रेक्षा ने ले लिया है। विराज की रचना में वाक्यों की व्याकरण की दृष्टि से पूरा रखने के आग्रह ने नीरसता ला दी है।

प्रकृति-चित्रण

प्रकृति चित्रण के अनेक चित्र गानुन्तल में मिलते हैं। पहले अब में हरिण के डर-धर भागने का जो चित्र है वह पाचा अनुवाद में से यहाँ दिया जाता है
मूल—

श्रीवामज्जामिराम मुहुरनुपतति स्पन्दन बद्धदृष्टि ।
पञ्चार्धेन प्रविष्ट गिरपतनभयादभ्रयसा पूर्वकायम् ।
दर्भरघावलीट श्रमविवृतमुखभ्रगिभिः कीणवर्त्मा ।
पङ्गोऽप्रप्लुतत्वाद विपतिबहुतर स्तोत्रमव्यां प्रवानि ॥

—१७

सम्मर्णाह

फिर फिर सुन्दर श्रीवा मोरत । दग्धन रथ पाछे जा धारत ।
बद्धहुँ डरपि वान मति लाग । पिछनी मात समेटत आग ।
अधरार्थी भग दाभ गिरावत । यन्त्रित खुले मुख से बिखरावत ।
तन मुन्नाच लखो तुम अबही । घरत पाव घरता जब तब हा ॥

—१८ १

पागीचर विद्यालङ्कार

गन् घुमा घुमा के बाकी पीछे आन हुए—
रथ पर एकटक दृष्टि को गढ़ाया है।
गर लाने के डर इसका अधिकतर—
पिछना गरीर भाग आगे घसा जाता है।

अभिमान शानुल्लस व पाच अनुवादा का तुलनात्मक अध्ययन

२४१

थक्कर खुल पड़े मुख स विगड रहे—
आधे य चबाए कुश राह बगराता है।
व्याम मही उड रहा प्राय छू मही का बही—
दखिण छलागें नसी विवट लगाता है ॥

इन्दुनेयर

—पृष्ठ ७

बहुवार ग्रीवा माण मुन्तर दखता रय जा रहा।
शरभीत, पिछल भाग का जाग छिपाता जा रहा।
श्रम स खुल मुख स बहो अकुर गिराता जा रहा।
छूता धरा का किन्तु नभ म ही उछनता जा रहा ॥

बलदेव शास्त्री

—पृष्ठ ३

है लखता रय ओर ही, फिर फिर ग्रीवा मोड।
शर भय से आगे रहा, पिछता बदन सिक्कोड।
श्रमवश मुख स जा गिरा, माग बिछा कुश-जाल।
मगता भू पर अल्प ही, जाता नभ उत्ताल ॥

विराज

—पृष्ठ ५

अब भी तो यह बार-बार गदन मोडकर पीछे की ओर रय का देखन लगता है और फिर तेज दौड़ने लगता है। तीर सगन के भय स इसके शरीर का पिछला भाग अगले भाग म समाया जा रहा है। दौड़ने की बकान से इसका मुख खुल गया है और उसम स अधचवी घास के तिनक रास्ते म गिरते जा रह हैं। दखो अपनी तीव्र गति के कारण इसक पाव धरती को जरा देर का ही छून हैं नहा ता यह तो आकाश ही आकाश म उड जा रहा है। (पृष्ठ ४१ ४२)।

पाचा म दमों का दवने म पता नगना है कि लदमणमिट का चीपाड छद मूल के शादूलविक्रीडित व प्रवाह को व्यक्त नहा कर पाता। इम दक्षि म वागीश्वर विद्यालकार का सवया अधिक समय और सगन बना है। गतिचित्र म लय का स्थान बडा मरुत्व-पूर्ण हाता है। उमका दृष्टि म दखें ता इन्दुनेयर व मार पछ म लय मध्य है जबकि शादूलविक्रीडित म पाच व आरम्भ म विमम्बित बीच म द्रुत और अन म मध्य लय हाती है। असम दनक कयन का प्रवाह गियित सगना है। बनदव शास्त्री व पछ म पहले मध्य फिर द्रुत और अन्य म विमम्बित लय है जा प्रसंग और मल गाना का दृष्टि म अद्यत है। विराज न तप पर ध्यान नर्प निया।

बिना रूप म तुलनात्मक लय इस प्रकार दिखाई जा सकता है

मूल—

विलम्बित

द्रुत

मध्य

लक्ष्मणसिंह

प्रथम चरण में

द्रुत

मध्य

द्रुतविलम्बित

वागीश्वर विद्यालंकार

प्रथम चरण में—

मध्य

विलम्बित

द्रुत

मध्य

इन्दुशेखर

प्रथम चरण में—

मध्य

मध्य

बलदेव शास्त्री

प्रथम चरण में—

मध्य

द्रुत

विलम्बित

इस प्रकार एक वागीश्वर विद्यालंकार की रचना के चरण ही ऐसे हैं जिनमें मूल गान्धर्वविन्यास का लयक्रम विलम्बित द्रुत मध्य विलम्बित द्रुत मध्य दिखाई देता है, यद्यपि इसमें ताल की दृष्टि में सम का अंतर हो गया है। लक्ष्मणसिंह की रचना में चौथे स्थान के विलम्बित में गुरु गुरु पर विलम्बित द्रुत मध्य लयक्रम आ जाता है पर अन्त फिर द्रुत पर करना पड़ता है। इन्दुशेखर ने मध्यलय रखी है जो गति का वेग निरूपित करने में समर्थ नहीं। बलदेव शास्त्री ने अन्त में विलम्बित लय रखी है और आरम्भ में मध्य। वेग के निरूपण में इसका प्रभाव मूल से प्रतिकूल पड़ता है। विराज ने तो लय पर कोई दृष्टि ही नहीं रखी।

पदायवस्तु व विन्यास की दृष्टि में भी वागीश्वर विद्यालंकार का पद्य मूल के अधिन निरुद्ध है। लक्ष्मणसिंह व अन्तिम चरण 'घरने पाव घरती जब तब ही में वारक चिह्न व अभाव के कारण जय म कुछ अधूरापन है, और 'विन्यास बहुततर' विलकुल छूट गया है। इन्दुशेखर का भी अन्तिम चरण अशुद्ध है— किन्तु उतना साधक नहीं लगता। यही स्थिति बलदेव शास्त्री व चौथे चरण में दिखाई देती है— जाता नभ उतान

उतना प्राज्ञ नही बन सका । विराज के अंतिम वाक्य में भी शिक्षितता लगती है—'नही तो यह ता म दो बार' तो का प्रयोग सुन्दर नहीं प्रतीत होता, और 'नही ता' का अर्थ भी कुछ जघना नहीं ।

अनेकार

उपमा अलंकार का एक उदाहरण लीजिए—

मूल—

गच्छति पुर क्षीर धावति पश्चादसस्तुत चेत ।
चीनाकुवमिव केतो प्रतिबान नीयमानस्य ॥

—१३०

संक्षेपार्थ

तम ता आग चलत हे मन नहि संग लगत ।
उडत पतका पाट ज्या मारत साही जात ॥

—पृष्ठ ३१

धामीश्वर विद्यासकार

आगे चलती सन्तु चित चल—
भाग रहा पीछे की ओर ।
लिचता हे प्रतिकूल पवन से—
जस ध्वज-कुल का धोर ॥

—पृष्ठ ५

इन्दुशेखर

लौटता पीछे चल चित ।
दौडता आगे किन्तु क्षीर ।
ध्वजा का चीनी रेशम वस्त्र ।
फहरता ज्या प्रतिकूल समीर ॥

—पृष्ठ १६

बलदेव गारुडी

मन पीछे जनमान-सा भगता जाग मान—
चलता, चलस केतु-पट उडता ज्या प्रतिबान ॥

—पृष्ठ २४

विराज

मरा गरीब मछलि आगे की ओर जा रहा है, परन्तु मरा बेबस मन पीछे का आर ही दौड रहा है अम बापु के प्रवाह के विरुद्ध जान बाते भण्डे का रगमा वस्त्र पादों की ओर ही लौटना है । (पृष्ठ ५०)

बालिदा का उपमा अलंकार प्रसिद्ध है । प्रस्तुत कथन में मन उरमेय है और

रेशमी वस्त्र उपमान है अनुवत अतिशय लाघव और चाक्षत्य साधारण घम है और इव उपमावाचक शब्द है। पर सारे वाक्यांश की दृष्टि से देखें तो जाग की ओर चल रह् शरीर वाले दुप्यंत का शकुंतलागत अभिलाषा से पीछे की ओर भागता मन उपमेय है और जाग की ओर ल जाए जा रहे भण्डे का प्रतिकूल वायु से पीछे की ओर जोर लगाता कपड़ा उपमान है। इस प्रकार यह साग उपमा है।

इसके अनुवाद में लक्ष्मणसिंह का पद्य शिथिल है—‘मन नहि सग सगात गीर घायति पश्चादसस्तुत चेत म बड़ा अंतर है। मूल में ‘जाग चलना और पीछे का भागना ये दो पदार्थ बड़े महत्वपूर्ण हैं। बागीश्वर विद्यालंकार का इसका अनुवाद बड़ा सुंदर और मूलानुसारी बना है, यद्यपि तनु शब्द का लिंग उद्धान संस्कृत का रम्य है। इन्दुनेखर तो विलकुल उलटी बात कह गए हैं—उनके अनुवाद में चित्त पीछे ‘लौक्यता है और शरीर जाग ‘दौड़ता है। बलदेव शास्त्री का अनुवाद सुंदर बन पड़ा है चाहे उसमें ‘घलता दूसरे चरण में रखने के कारण अघातरकवाचकत्व दाप आ गया है। बिराज के अनुवाद में पहला सारा वाक्य उपमेय और दूसरा सारा वाक्य उपमान बन गया है जो मूल की योजना में भिन्न है।

निन्दना अलंकार

मूल—

राजा—अहं हि

माक्षालिप्रियामुपगतामपहाय पूव ।
चित्रार्पिता पुनरिमा बहु मयमान ।
आतोवहा पथि निकामजलामतीत्य ।
जात मले । प्रणयवान मृगतृष्णिकायाम ॥

—६१६

राजा लक्ष्मणसिंह

दुप्यंत—हाय ।

जब प्यारी मो समुल्ल आई । करी अधिक मैं न ठिठुराई ।
चित्र लिखी अब लखि लखि बाका । फिर फिर आदर देत न थाका ।
बहती नदी उतरि जिमि बाई । मगतण्या का धावत होई ।
मो गति आनि भइ अब मरी । होति पीर पछतात धनरी ॥

—पृष्ठ १२१

बागीश्वर विद्यालंकार

राजा—

आई स्वय प्रियतमा तब थी निमाली ।
प्यारी हइ अब मुझे तसवीर माली ।

अभिमान गातु तल व पाच अनुवादा का तुलनात्मक अध्ययन

२४४

मैं माग म जलभरी सरिता गवाके ।
पीछे रहा भटक हू मगनृष्णिका व ॥

विराज

—पृष्ठ १०३

राजा—(गहरी साग छाड़कर) मरी भी क्या दशा है । पहले मैंने साक्षात् आई हुई प्रिया को तो त्याग दिया और जन् उसका इस चित्र का इतना आनंद कर रहा हू । यह ठीक एसा ही है जिस माग म वहती हुई जल म भरी नदी को छाड़ आन व वाग मरीचिका व पीछे भागने लगा हाऊ । (पृष्ठ १३३)

इदुगैवर

राजा—(निश्वास छाड़कर)—

आई स्वय जब प्रेयमी तब त्याग था उसका दिया ।
पर अब उमी के चित्र का मैंने समादर है किया ।
जल से भरी सरिता सखे । जया छोड़कर मैं राह म ।
मानो लगा हू भागने मगनृष्णिका की चाह म ॥

वतदेव शास्त्री

—पृष्ठ ८०

राजा—म सचमुच—

आई प्रिया पहले स्वय अपमान तब मैं निया ।
फिर चित्र म खीचा इस सम्मान है मैं न दिया ।
अत्यंत-सलिला बाहिनी को बीच ही म छोड़ के ।
वरता प्रणय मगनृष्णिका म मुह प्रिया स मोड व ॥

—पृष्ठ ११७

मूल म सारा श्लोक एक वाक्य है । अ वय क अनुसार उसका रूप यह है
मखे । जह हि पूव साक्षात् उपगता प्रियामवहाय पुन चित्रापिताम इमान बहु
म यमान पयि निरामजला लोकोवहा अनीत्य मगनृष्णिकाया प्रणयवान जात ।
इमम पूव साक्षात् उपगता प्रिया अपहाय चित्रापिता प्रिया बहु मयमान —

इस प्रकृत पद्या का पयि निरामजला लोकोवहा अनीत्य मगनृष्णिकाया प्रणयवान जात
—इम अमृतन पद्या म सम्बन्ध नहीं तनवा पर प्रकृत पद्या का उपमय जोर अप्रकृत
को उपमान बनाए तो दोना का सम्बन्ध बन जाता है । जत यह पदाय निरामना अलकार
है । यहा महा प्रधान वाक्याय है ।

अनुवादा म से वतल वागीश्वर विद्यालवार और वलन्व शास्त्री का यह
पनसार निबान म सुरुवात मिली है । पर दोना ने इमे वाक्याय निदाना बना लिया है ।
आई स्वय प्रियतमा तब थी निराली, प्यारी हुई अब मुझे तमवीर खाली का वाक्याय
यहा प्रकृत है जोर मैं माग म जलभरी सरिता गवाके, पीछे रहा भटक हू मगनृष्णिका
के अप्रकृत वाक्याय है ।

१ निराला—ममनृ वलन्व व उनादिकारक —आशु प्रकाश (१० ६७)

बलदेव शास्त्री ने इस वाक्याथ निदर्शना तो बनाया है, पर इनकी रचना में निरर्थक दोष आ गया है। चौथी पंक्ति में 'करता प्रणय मगनणिक्काम' यहाँ बल-वार और मूल कथन दोनों समाप्त हो गए हैं। परन्तु पादपूर्ति के लिए इन्हें 'मुह प्रिया से मोह के रखना पड़ा—यह बात तो पहली पंक्ति में आ ही चुकी थी—आई प्रिया पहले स्वयं अपमान तक येन किया।'।

राजा लक्ष्मणसिंह को इस अलंकार के अनुवाद में सफलता नहीं मिली। उन्होंने 'बहती नदी उत्तरि निमि काइ' में 'जिमि का प्रयाग करने इस वाक्य उपमा बना दिया है। निम्नक दाप यहाँ भी आ गया है—हाति पीर पछतात घनरां न तो मूल में है और न यह कहने की आवश्यकता ही रही है।

विराज ने इस निदर्शना का वाक्यगत श्रौती उपमा में बदल दिया है। यह ठीक ऐसा ही है जैसे लिखन से प्रकृत और अप्रकृत के सम्बन्ध का अभाव न रहा इसलिये निदर्शना यहाँ नहीं रही। 'जसे के प्रयाग के कारण यह श्रांती उपमा है। निदर्शना का सौंदर्य यहाँ उपमा से अधिक था।

अर्थांतर मास

मूल—

आपरितापाद विदुषा न साधु मय प्रयागविनाम ।

बलवदपि शिक्षितानामात्ममप्रत्यय चेत ॥

—१०

राजा लक्ष्मणसिंह

नाटक करतब तब भली रीझ सजन समाज ।

नातर सीछेहू घन दुचित रहत इहि काज ॥

—पृष्ठ ६

बागींघर विद्यालंकार

नहीं मानता मैं अभिनय को तब तक सफल और निर्दोष—

उमे देखकर विद्वाना का जब तक हाँ न जाए परितोष ।

कितना ही मिसलाए कोई कितना ही करले अम्याम ।

किंतु परीक्षा के जबमर पर, रहता नहीं आत्मविश्वास ॥

—पृष्ठ ६

विराज

जब तक अभिनय का देखकर विद्वाना को सतोष न हो जाए, तब तक मैं अम्याम को सफल नहीं मानता। अभिनयज्ञों को चाह किंतना ही क्या न मिला ला, किंतु उन्हें अपने ऊपर विश्वास हो ही नहीं पाना। (पृष्ठ ४०)

इंदुगेखर

नहीं सफल वह जान प्रमान ।

जा बुधजन को करे न तुष्ट ।

शिक्षित होने पर भी मन म ।
अविश्राम रहता है दुष्ट ॥

—पृष्ठ ७

बलदेव शास्त्री

अभिनय विद्या वह नहीं रोझें नहीं मुजान ।
अतिशिक्षित जन हृदय भी निज म नहीं प्रमाण ॥

—पृष्ठ ७

मूलपद्य म अद्यान्तरायास असकार है—प्रथम पक्ति के विरोधापक कथन का ममयन दूसरी पक्ति के सामान्यायक कथन से किया गया है ।

लक्ष्मणसिंह, इन्दुनाथ और बलदेव शास्त्री के अनुवादा में प्रथम कथन भी सामान्यायक है और द्वितीय भी । मूल कथन का व्यक्तिक अंग इनमें दूर हा गया है । यह व्यक्तिक अंग नदी के पूववर्ती वाक्य को देखते हुए आवश्यक हो या । इसका हट जान से मूल कथन के बल म कभी हा गई है ।

बागीश्वर विद्यालकार का पद्य कुछ सम्बा होने पर भी अधिक साफ और स्पष्ट है । आपने 'शिक्षितानाम' शब्द के दोना प्रस्तावित अब समटे हैं— सीखे हुए और 'मिताए हुए' ।

किराज न भी मूल का अनुसरण किया है ।

चस्तु

मून—

गुधूपस्य गुम्जन कुर प्रियमन्वीर्वास्ति सपत्नीजने ।
पत्न्युर्भिप्रवृत्ताऽपि रोषणतया मास्म प्रतीप गम ।
भ्रूयिष्ठ भव दन्तिना परिजन भाग्येऽनुत्सेविनी ।
यान्त्यव गहिणीपद भुवतय वामा कुलस्माधय ॥

—४१८

लक्ष्मणसिंह

गुधूपा गुम्जन की बीजो । मखी भाव सोतिन म लाजो ॥
भरता मन्वि कर अपमाना । कुपिन हाइ गहिपा जनि माना ॥
मिठभापनि दासिनि सग रहिया । बडे भाग पै गव न लहियो ॥
या विधि तिय मेहिनि पद पावै । उत्तटी चलि मूल दोष कहाव ॥

—पृष्ठ ८

बागीश्वर विद्यालकार

मास समुर की सेवा करना सीता का सम्बन्ध सा मान,
चलना स्वामी करें निरादर, तू करना फिर भी सम्मान ।
हाना परिजन पर उदार अनुबूत भाग्य पर मत अभिमान ।
करना ऐसी स्त्रिया नविया, उत्तटी कुल की सफट जान ॥

—४१८

इन्दुशेखर

गुरजी की सेवा भोतो का करना सखिया सा सम्मान ।
मत विरोध करना भर्ता का, हुआ मले ही हो अपमान ।
नही भाग्य पर इठाना तुम परिजन पर रहना समुत्तार ।
ऐसी ही कहलाती गृहिणी कुलकलकिनी वामाचार ॥

—पृष्ठ ५१

बलदेव शास्त्री

गुथूपा समुरादि की प्रिय सखी यवहार हो सौत में ।
भर्ता क्रुद्ध कभी तुम्हें भिड़क दे, उसटी न जाना कभी ।
मीठी सेवक बग में न मन में सौभाग्य का गव हो ।
हैं होती इस रीति से सुगृहिणी विपरीत पीडा महा ॥

—पृष्ठ ७२

विराज

वेटी तुम यहा में अपने पति के घर जाकर बड़े बूढ़ा की सेवा करना । सौता के साथ प्यारी सहेलिया का ना बताव करना । पति कुछ बुरा भला भी कहे, तो क्रोध में आवर उससे लड़ मत पटना । सेवका के साथ दया और उदारता का यवहार करना । अपने सौभाग्य पर कभी बहुत धमक न करना । इस प्रकार का विनीत आचरण करने वाली युवतियां पनि के घर में आवर गृहिणी बनती है और जा इससे उनटा चलती हैं वे घर को उजाड़कर ही रहती हैं । (पृष्ठ ६८)

यहा विधिरूप चम्पु प्रधान वाकपाथ है । पांचों सद्गर्भों का मिलान करने पर वागीश्वर विद्यालकार और लक्ष्मणसिंह की रचनाएं अधिक मनोहर हैं पर वागीश्वर की रचना में अधातरक वाचकत्व दाप दो बार है । दूसरे चरण का चलना पद पहल चरण के सौता का सखिया सा मान के साथ लगाना पड़ता है । इसी प्रकार चौथे चरण का 'करना' पर तीसरे चरण के 'अनुकूल भाग्य पर मन अभिमान' के साथ जाड़ने पर ही अध पूरा हाता है । इन्दुशेखर की रचना इस दृष्टि से बड़ी सुंदर है । यदि अन्तिम चरण के पिछले अंग कुलकलकिनी वामाचार को के अधिक अच्छी तरह सभल पान ता निर्दोष रचना बन जाती । वामाचार शब्द वाम है आचार जिसका वह इस अर्थ में प्रयुक्त हुआ है । अनुवादक थोड़े और धीरेज से इस सरल और प्राजल बना सकता था ।

विराज का गद्य स्पष्टता के चक्कर में बहुत स्पष्ट लम्बा और, इसीलिए, अनाट कीय हो गया है । बलदेव शास्त्री का रचना सुंदर है और मूल वाले ही छन्द शादूल विनीडित में है पर वह थोड़ा चम्पु हुआ है ।

मक्षेप में ये पांचा रचनाएं रसादिनी व्यञ्जना की दृष्टि में सुंदर हैं । लक्ष्मणसिंह का गली आज कुछ पुरानी लगती है । इन्दुशेखर न कही-कही जल्दबाजी करके रचना मौल्य का हानि करती है । बलदेव शास्त्री की रचना सरल पर कहा-कही अधूरा अनुभव हाता है । विराज में टीकानुवाद को पुन आ गई है । वागीश्वर विद्यालकार की रचना भी सुंदर है शली भी नई और आधुनिक है ।

भाषा गैली

एक राजा सम्मर्णसिंह को छोड़कर शेष चार अनुवादक एक ही युग के हैं। इन चारों की गली में बहुत काफी समानता दिखाई देती है। पद्यप्रयोग की दृष्टि से देखें तो राजा लक्ष्मणसिंह का भुक्ताव तदभव और सरल तत्सम पदा की धार रहा है। बाण के अनुवाद में तत्सम पदा का अनुपात अधिक दिखाई देता है। राजा साहू के श्रियारूपा में 'रखियो,' 'लोजा जय प्रयोग' मिलते हैं। इनकी रचना में 'मिठभाषिनि' जस समास भी है जिनमें हिंदी और संस्कृत शब्दों को मिलाकर एक कर दिया गया है। वाक्य इन्होंने छोटे छोटे रखे हैं। 'मैंने' के सदा 'तने' (पृ० १०२), 'तू ही' के लिए 'तुही' आजकल सिर्फ हिंदी में नहीं चलते।

बनदेव शास्त्री और उनके बाद के तीन अनुवादकों की भाषा गैली सिफ्ट प्रौढ़ है। नाट्यविविधता का ध्यान नहीं रहा पर भाषा सुगंध और सरल है। तत्सम शब्द प्रचलित शब्दमूह में ही लिए गए हैं और दुर्लभ तथा कठिन नहीं हैं। मुहावरों का प्रयोग बहुत कम है, इसलिए भाषा में कुछ कृत्रिम साहित्यिकता रहती है।

निष्कर्ष

मक्षेप में ये पांच अनुवाद उच्च कोटि के हैं और हिन्दी भाषा का गति की अच्छी व्यंजना करते हैं। अनुवादक विद्वान और दाना भाषाज्ञा की प्रशंसा के योग्य हैं। संस्कृत और हिन्दी का साहित्यिक परम्परागत से भी उनका अच्छा परिचय है और हिन्दी में रचना करने का अभ्यास भी साधारणतया उच्च कोटि का है। नाट्यविधान, रस व्यंजना, अन्वय, वस्तु और भाषा गैली—इन सब दृष्टियों से ये अनुवाद सफल रचनाएँ हैं। यह ठीक है कि इनकी रचना में वाक्यों की अभिनवोपयोगिता पर विशेष ध्यान नहीं दिया गया पर इनका कारण हिन्दी में मंच का अभाव या हिन्दी मंच से अनुवादकों के सम्पर्क का अभाव है। यदि मंच स्वामी चाहता पाच में से पछ्च चार अनुवाद तो आसानी से खेलने योग्य बनाए जा सकते हैं।

लक्ष्मणसिंह के अनुवाद में भाषा की कोमलता और माधुर्य बिना ध्यान खोजने की। शेष चार अनुवादों में से बाणेश्वर विशालकार के अनुवाद में जिनका प्रमाण गुण और गणना की नतीजा तीन में गैली आ सका।

छठा अध्याय अनूदित नाटक और रंगमंच

संस्कृत से अनूदित नाटका व सम्बन्ध में एक जा रैप यह किया जाता है कि उनकी भाषा गली अभिनय की दृष्टि से अनुपयुक्त होती है। यह भी कहा जाता है कि संस्कृत नाटक का रंग शिल्प पश्चिमी रंगमंच से प्रभावित आधुनिक नाट्यपद्धति से बहुत भिन्न है कि वे स्वयं भिन्न प्रकार की सांस्कृतिक भाषा तथा बौद्धिक पृष्ठभूमि वाले देशों के लिए रचे गए थे, कि दुभाग्यवश उनमें अधिकांश उपलब्ध रूपों में रंगकर्मियों ने नहीं, साहित्यकारों ने भी नहीं संस्कृतपण्डितों ने किए हैं जो भौंड गन्ध-मग्न और अन्यथा से अधिक उपयोगी नहीं (देखिए—भाषा नमासिक दिल्ली सितम्बर १९६३ थी नेमिचंद जन का संग्रह, नाटक का अनुवाद)।

रंगशिल्प भाषा शैली और भाषांतरण—इन तीनों दृष्टियों से अभिनय-योग्य अनुवादा की हिंदी में कमी नहीं है। जहां तक रंग शिल्प का सम्बन्ध है प्राचीन और आधुनिक रंगमंच में जो अन्तर है उसका उल्लेख करना पड़ता है। संस्कृत नाटका के लिए उपयोगी रंगमंच कितना सरल और सीधा है यह नीचे एक आधुनिक इंजीनियर का विचार प्रस्तुत करके सिचाया गया है। मंच और शिल्प की अन्य अपेक्षाओं में से ऐसी कोई भी नहीं है जिस जाज के मंच पर न प्रस्तुत किया जा सके। इस सम्बन्ध में एक उल्लेखनीय बात यह है कि संस्कृत के मूल नाटक बराबर आधुनिक मंच पर चले जा रहे हैं। १९६४ की जनवरी में दिल्ली में प्राच्यविद्या सम्मेलन के अवसर पर अभिमान शास्त्रालय में संस्कृत रूप का अभिनय प्रस्तुत किया गया था जो सफल रहा था। नई दिल्ली में १९५४ ई० में मुद्राराक्षस का संस्कृत में अभिनय हुआ था और उमरी अच्छी प्रशंसा हुई थी। फिर क्या कारण है कि उसी मंच व्यवस्था में हिन्दी मंच प्रबंधक संस्कृत से अनुमित हिन्दी नाट्य खेलन से कतराता है?

भाषा गली की दृष्टि से सबसे सुन्दर अनन्ति नाटकों की भी कमी नहीं है। भारतेंदु, चवनग मिश्र, वागीश्वर विद्यालंकार आदि के अनुवाद इस दृष्टि से बहुत अच्छे हैं। नाटकीय संवादा की दृष्टि से जहां आवश्यक हो, वहां संवाद-लेखक हेर पर कर मंजता है।

यहां यह कहना अनुपयुक्त होगा कि यदि हमारे मंच प्रबंधक अधिक उत्साह भूम-भूम और जास्या से काम लें तो इन नाटकों का सबसे अनभिनेय कहकर इनकी उपयोग न कर देंगे। यह समझना या कहना कि नाटक में पद्य का प्रयोग उसे बाध्य बना

दता है, नाटक की वास्तविकता का अमान प्रकट करता है। इसमें कुछ भी सन्देह नहीं कि अनुवाद को अभिनयोपयोगी बनाने के लिए अनुवादक का अभिनय और मंच से परिचय सामंदायिक है। साथ ही अनुवाद करते समय मंचाभ्यासिता का हर समय ध्यान रखना भी आवश्यक है। परन्तु यह धारणा भ्रान्त है कि संस्कृत नाटक का सफल अनुवाद कोई अपेक्षित मंच प्रवर्धक ही कर सकता है। सचाई यह है कि मंच के लिए हर नाटक का कुछ न कुछ टांक ठाक करना आवश्यक होता है। अभिनय की दृष्टि से भाषा की जनक बमजोरिया बबल रिहसल करन पर सामन आ सकती हैं। इन कठिनाइयों का कारण अनूदित नाटकों की बिना परीक्षा किए उन्हें रंगमंच के लिए अनुपयोगी घोषित कर देना कहा तक उचित है ?

इस अध्याय में हमने संस्कृत रंगमंच, जापानिक रंगमंच तथा अभिनय अनुवादों पर कुछ विचार प्रकट किए हैं। उन्हें पढ़ने पर स्पष्ट हो जाएगा कि न तो अनुवाद बुरा है न रंग गिल्फ की कठिनाई है—अमली कठिनाई लगन और साधना की कमी की है।

संस्कृत रंगमंच

नाटक का वाच्य से मुख्य अंतर ही यह है कि नाटक रंगमंच पर अभिनय करके सहृदय वर्ग के समक्ष प्रस्तुत किया जाता है। संस्कृत नाटकों के अभिनय की निरक्षर ही बड़ी समृद्ध परम्परा रही है। उड़ीसा की बराबर पहाड़िया में जा प्राचीन नाट्यमह मिलता है उसमें इस परम्परा की कुछ भलक मिलती है। भरत के नाट्यशास्त्र में तो नाट्यमंडप या रंगमंडप का विस्तृत विवरण उसके द्वितीय अध्याय में मिलता ही है।

परन्तु भारतीय नाट्यपरम्परा का बहुत स्पष्ट रूप पिछले एक हजार वर्ष में नहीं मिलता। इसी का यह परिणाम हुआ है कि भरत के नाट्यशास्त्र में दिए गए विवरण की व्याख्या भी व्यावहारिक अनुभव के आधार पर न होकर सद्धांतिक और कुछ अंग तक कल्पनात्मक आधार लेकर ही होती रही। आज इस बात की बड़ी आवश्यकता है कि जा कुछ प्राचीन ग्रंथों में लिखा है उसपर श्रद्धा रखते हुए व्यावहारिक प्रयोग द्वारा उनकी टीका व्याख्या प्रस्तुत की जाए। व्यावहारिक प्रयोग में हम यह भी पता चलता कि हम अपनी आज की परिस्थितियों में उनसे क्या सीख सकते हैं और उसे अपने लिए किम प्रकार उपयोगी बना सकते हैं।

नाट्यशास्त्र के अनुसार मंच तीन आकृतियों में होते हैं—सम्पूर्ण या आयताकार (विकृष्ट) वर्गाकार (चतुरस्र) और त्रिकोण (त्र्यस्र)। इनमें से त्रिकोण मंच अनुपयोगी, वर्गाकार राजाओं का और सम्पूर्ण देवताओं का बताया गया है। वर्गाकार मंच सर्वोत्तम रहता है क्योंकि उसमें बोना गया कथन आसानी से सुनाई देता है। आचार्य अभिनवगुप्त की व्याख्या के अनुसार, विकृष्ट, चतुरस्र और त्र्यस्र—इनमें से प्रत्येक का तीन तीन आकार हात हैं—ज्यष्ठ (१०८ हाथ), मध्यम (६४ हाथ) और अवर (२० हाथ) (१ हाथ = १२ फुट)। हम सम्भवतः प्रा० ख्री० सुव्वाराव ने, जो द्रानियरिंग शास्त्र और संस्कृत साहित्य दोनों का विद्वान है, व्यावहारिक दृष्टि से कुछ विचार किया है।

आपने बताया है कि मूलपाठ से यह जथ लेना ठीक नहीं कि प्रत्येक प्रकार का मञ्च तीन जाकारा का होना है। वस्तुतः त्रिकृष्ट ही ज्येष्ठ है, चतुरस्र मध्यम और त्र्यस्र कनीय। दानानिक दृष्टि में दस ता ध्वनि ७५ फुट से अधिक लम्बे स्थान में अवश्य प्रति ध्वनि पता करन लगती है। त्रिकृष्ट मञ्च की लम्बाई ६६ फुट होती है जिसमें ध्वनि व्यत्यय प्रतिध्वनि के कारण ठीक सुनाई नहीं दगी। त्र्यस्र मञ्च के छोटा होन के कारण मम ध्वनि की प्रतिध्वनि उत्तनी देर रहता है कि नवोत्पन्न ध्वनि को अस्पष्ट कर देती है। चतुरस्र मञ्च में पहल उत्पन्न ध्वनि तथा प्रतिध्वनित ध्वनि और पीछे उत्पन्न ध्वनि में ४८ फुट का अंतर रहता है और प्रतिध्वनि उत्तनी देर नहीं रहती जितनी देर वह त्र्यस्र मञ्च में रहती है। इसलिए चतुरस्र मञ्च को केवल मध्यम जाकार का मानना चाहिए—प्रत्येक जाति के मञ्च के तीन तीन जाकार मानना सगत नहीं।

इस प्रकार ६४ हाथ या ६६ फुट लम्बा वर्गाकार मञ्च चतुरस्र कहलाता था जो मध्यम जाकार का होता था, और ज्येष्ठ तथा कनीय से अधिक अच्छा रहता था। ज्येष्ठ जायताकार और १०८ हाथ या १६२ फुट का होता था और कनीय या छोटा समबाहु त्रिभुज ३२ हाथ या ४८ फुट का होता था।

मञ्च का विभाजन

नाट्यमञ्च के द्वा बराबर हिस्से किए जाते थे। पूर्व की ओर जाधा हिस्सा दशका के लिए रहता था और पश्चिम की ओर वाले हिस्से के फिर दो बराबर हिस्से करके अगल हिस्से में रगपीठ और पिछले में नपथ्य गह रमते थे।

रगपीठ समतल होता था और नक्षत्र पञ्चांग की ध्वनि ध्वनि बनाने की दृष्टि से तर्की का बनाया जाता था। इस पीठ के नीचे पट्टाशक, अर्थात् चार आयत बनाने वाली लकड़ियाँ और दो विकर्णों की लकड़ियाँ का ढाँचा बनाकर लगाया जाता था जिससे यह नक्षत्र का जाघात को अच्छी तरह सह सके। त्रिकृष्ट या जायताकार मञ्च के रगपीठ के द्वा बराबर भाग किए जाते थे जिनमें से अगल का रगपीठ कहते थे और पिछले का रग पीठ। पिछला हिस्सा अगल से कुछ ऊँचा होता था। इसी व्यवस्था के कारण यह मञ्च द्विभूमिक कहलाता था। मञ्च की छत गलगुहाकार अर्थात् बीच से ऊँची, होती थी। इस व्यवस्था से ध्वनि का प्रसार अच्छा होता है।^१

प्रो० डी० सुब्बाराव की उपयुक्त 'याम्या से संस्कृत रगमञ्च बड़े सरल और बर्णानुसारी रूप में हमारे सामने आता है। हमारे देश की साम्प्रतिक संस्थाओं को वस्तुतः नाट्य मञ्च बनवाकर इन विचारों की परीक्षा करनी चाहिए और आधुनिक भारतीय रगमञ्च का विशुद्ध रगमञ्च की नवेल मात्र बनाने की प्रवृत्ति का निरन्तराहित करना चाहिए। प्राचीन नाट्यमञ्च की जो विशेषताएँ आज भी उपयोगी हो सकती हैं, उनको सामन लाकर बनाया दिया जाना चाहिए।

१ प्रो० डी० सुब्बाराव, नाट्यशास्त्र (सांस्कृतिक आरिष्ट्य सीरीज), Vol I, द्वितीय संस्करण १९६६, का Appendix 6

हिन्दी रगमच

हिन्दी रगमच का आरम्भ हिन्दी प्रदेश के लोक रगमच से ही दिखाई देता है। प्राचीन सस्कृत रगमच की परम्परा से इसका सम्बन्ध जमी अनुसंधान का विषय है। डा० दशरथ अम्भा आदि अन्य विद्वानों ने रास, लीला, स्वाग आदि लोक-नाटकों का हिन्दी के आरम्भिक नाटक माना है जो लोकमच पर खेले जाते थे।^१ इन नाटकों को जिन रगमचों पर प्रस्तुत किया जाता था, उनका कोई निश्चित स्वरूप नहीं था। डा० अम्भा के अनुसार, इनके अभिनय में रगमच का कोई महत्त्व नहीं था, और बेशुभूषण तथा प्रभावहीन गौण समझे जाते थे।^२

हिन्दी रगमच का दूसरा रूप पारसी थियेटर का मच था। यह पारसी रगमच कोई स्थायी रगमच नहीं था। १९वीं सदी ईस्वी के अन्तिम आरम्भ में बम्बई के कई पारसी व्यापारियों ने थियेटर कम्पनियाँ बनाई थीं जो दश मंचों में भ्रमण करती हुई हिन्दी नाटकों को दिखाया करती थीं। इनमें ऐसे मचों की रचना की जाती थी जिसे सरलता से समझकर दूसरे स्थान पर ले जाया जा सके। मचों के कक्षों में बंठा रहता था और प्रत्येक मंच पर एक पर्दा पड़ा रहता था। ये कचरे एक-दूसरे के पीछे होते थे। एक दृश्य के लिए उपयुक्त सजा एक कक्ष में की जाती थी। प्रत्येक एक कक्ष का पर्दा हटाकर नाटकों के क्रमिक दृश्य दिखाए जाते थे।

पारसी थियेटरों की रूढ़ि का स्तर बहुत नीचा था और नाट्यकला की दृष्टि से उनमें पास कुछ भी नहीं था। पारसी थियेटरों का घटिया स्तर देखकर भारतीयों का मन कुछ गीकिया नाटक मञ्चलियों में परिणत रूढ़ि के मचों की स्थापना का यत्न किया। लाहौर, अमृतसर और कानपुर में कुछ नाटक खेले गए पर इस मच की जड़ें गहरी न जा सकीं और बहुत अल्पकाल जीकर ही समाप्त हो गया।

बीसवीं शताब्दी में स्कूल-बालकों में और हिन्दी-संस्थाओं में सम्मेलनों पर अनेक नाटक अभिनीत हुए हैं, पर ये प्रयास भी किसी पुष्ट हिन्दी रगमच की भाँति नहीं जा सकते जिसपर हिन्दी के नाटक नियमित रीति से खेले जा सकें।

आज का रगमच पाश्चात्य रगमच ही है जिसपर वैज्ञानिक साधना से प्रकाश आदि का प्रबंध बहुत अच्छा हो जाता है। आधुनिक रगमच का एक रूप खुला रगमच है जो किसी भी मंचान में स्टेज बनाकर लगाया जा सकता है। हमारे देश में खुला रगमच बहुत प्रचलित हो गया है, पर इसपर बड़े नाटकों के अभिनय का सुन्दर प्रबंध करना कठिन होता है।

आधुनिक रगमच का नवीनतम रूप परिग्रामा रगमच है। यह कुछ व्ययनायकता है पर इसमें अभिनय व्यापार की निरंतरता बनाए रखने में सुविधा होती है और दृश्यों को मंच सज्जा की प्रतीक्षा नहीं करना पड़ता।

जबलपुर में १९६३-६४ में इस मच का प्रयोग किया गया था जो बड़ा सफल

रहा था। लकड़ी का बना हुआ वृत्ताकार मंच चार भागों में बाटा गया था और चारों खंड वारी-वारी से दशका के सामने लाए जा सकते थे। इसके लिए, मंच को घुमाने का यांत्रिक प्रबंध था।

जहां तक संस्कृत नाटकों के हिंदी अनुवादों के अभिनय का प्रश्न है, यह धारणा भ्रांत है कि आधुनिक रंगमंच पर इनका अभिनय नहीं हो सकता। कोई भी नाटक इस मंच पर दिखाया जा सकता है यद्यपि कभी-कभी नाटक विशेष की आवश्यकता के अनुसार मंच में हल फेर या नये पथ किए जा सकते हैं। नाटक के अभिनय में मुख्य बात रम्यजनना है। कसा भी मंच हो यदि उसपर अभिनय करने पर व्यंजन हो जाती है तो वह मंच उपयोगी है।

यही धारणा लेकर इंदौर की एक शौकिया नाट्यमंस्था 'नाट्यभारती' ने कालिदास के तीनों नाटकों के विराजकृत अनुवाद मंच पर प्रस्तुत किए और उन्हें अच्छी सफलता मिली।

नाट्यभारती की स्थापना १८ अगस्त १९५५ का इंदौर में हुई थी। इस संस्था का उद्देश्य हिंदी और मराठी रंगमंच तथा अभिनयकला का संवर्धन करना है। संस्था अपने इस उद्देश्य की पूर्ति लिलिथ थियेटर के माध्यम से करती है जिसे इस संस्था की प्रयोगशाला कहा जा सकता है। यह थियेटर आधुनिक तथा क्लामिकल नाटक प्रस्तुत करता है और अब तक ६०० नाटक प्रदर्शित कर चुका है।

लिलिथ थियेटर के ३५० दशक-संस्थ है जो कम से कम दस रुपया वार्षिक चढ़ाव देते हैं। इन मददों में अधिकतर शिक्षक कलाकार विद्यार्थी, पत्रकार मनीष, माहिर कलाकार, गणिषिया आदि हैं।

अनूदित नाटकों में अभिनेयता

मंचकाल के अनुवाद अभिनय का सम्यक् रक्खर नहीं किए गए थे। आधुनिक काल में १८६३ में लक्ष्मणसिंह का 'गुल्लु' ललनाटक भी अभिनय की दृष्टि में अनूदित नहीं प्रनीत होता। उन्होंने स्वयं, स्थान-मंचन को ध्यान में रखकर इसे अभिनय योग्य बनाने का कोई निर्देश नहीं दिया है। पर उस अनुवाद का अभिनय निःसंदेह किया जा सकता है। उसमें बालकाल के मंगल गीतों का प्रयोग छंदो-छंदो वाक्य उपयुक्त सम्बोधन गीत और लम्बे वाक्यों का बहुत कम प्रयोग होने के कारण इसका अभिनय में उपयोग कठिन नहीं होना चाहिए। इसका अर्थ है कि इसकी भाषा गीतों में उतना निष्कार और प्रौढता नहीं दिखाई देती।

फिर भी निम्न रंगमंच पर इस अनुवाद के खेने जाने की कोई जानकारी नहीं मिलती। इस प्रसंग में यह उल्लेख मनोरंजक होगा कि इस हिंदी अनुवाद के प्रकाशन से छठ वर्ष पूर्व १८५७ में 'गुल्लु' ललनाटक के बंगाली अनुवाद का अभिनय कलाकृति में बाबू आशुतोष देव के मंचन पर हुआ था।^१ सम्भव है कलाकृति की इस साम्प्रतिक हलचल का प्रसार भी 'गुल्लु' ललनाटक के हिंदी अनुवाद की प्रेरणा देने में सहायक हुआ हो। कलाकृति

म उसी वष ढणीसहार और विक्रमोपनी भी बगला म खेले गए थे ।^१

भारत-दु हरिश्चन्द्र

भारत-दु हरिश्चन्द्र व अनुवाद दखने स पता चलता है कि उनम नाटककार की सच्ची प्रतिभा था, और उनन अनूदित और मौलिक नाटक मंच पर खेलन व लिए हो सिले गए थ । भारत-दु न पहल एक बगला नाटक विद्यासुन्दर का हिंदी अनुवाद १ ६८ में किया था । इसक बाद उहान मस्कन नाटिका 'रत्नावली का अनुवाद किया । इसक केवल प्रस्तावना भाग और एक पृष्ठ आगे का अनुवाद मिलता है ।

१८७० म भारत-दु जी न 'पाण्डु निडम्बन' का जो अनुवाद किया उसे पढ़न मे पता चलता है कि उसका अनुवाद अभिनय करने की दृष्टि रखकर ही किया गया था । यह रचना प्रबोधचन्द्रोदय के केवल सासरे अंक का अनुवाद है । भारत-दु न अपनी मूक धूम से सारे नाटक का केवल वह अंग छोट लिया है जो अत्यधिक मनोरंजक है और मारे नाटक से अलग करव अभिनीत करन पर भी दृग्गण्य का मनोरंजन कर सकता है । इस अंक की क्या तो बहुत घाड़ी है, पर इसम विभिन्न मता व पाण्डु की साधुआ की अच्छी पाल सारी गई है । यह अंक हास्यरस के आताम्बन प्रस्तुत करता है । आत्मिकता का आह्वान करने वाल साधु नारी और मरिचा म कितनी आसानी स माग भ्रष्ट हो जात है—यह इस अंक का मुख्य विषय है ।

भारत-दु ने जन और बौद्ध साधुआ की भाषा खड़ी बाला सिद्धी नहीं रखी । जन की भाषा राजस्थानी है और बौद्ध की तानली हिन्दी । यह योजना हास्य रस की दृष्टि स बड़ी उपयुगी है । जैसे ही दशक बौद्ध भिक्षु को मोतली बोली म ससार के सारे भाषा की कामना करत मुनता है, वह एक बार तो पाथ और उसरे कम की असंगति के कारण और दूसरा ओर उसकी तानली बोली के कारण हसने हसने सोट पाट हो जाता है ।

यह अंग रंगमंच पर नि सदेह सफलता स खसा जा सकता है । पर इसकी विषय वस्तु आजकल व सामाजिक वातावरण म अभिनयनीय नहीं गिनी जाएगी । मन मतान्तरा ने भद् टपा का अभिनय द्वारा उपहास करना भारतीय युग प्रवृत्ति के विपरीत है । इस देग म मत मतान्तरा का बौद्धिक आचार पर खण्डन करने की तो स्वतंत्रता अवश्य है पर दूसरे मता का उपहास करने की स्वतंत्रता नहीं है । राजनीतिक अवस्थाए भी इस प्रवृत्ति व विरुद्ध ^२ ।

तीसरा अनुवाद धनजय विजय है । इसका कथानक महाभारत स लिया गया है और भारतीय दशक का सुपरिचित है । अभिनय की दृष्टि मे देखें तो यह व्यायोग कालज व छात्रा क अभिनय-योग्य है । एक अंक की छोटी-सी रचना होने के कारण इसका अभिनय अधिक स अधिक २०-२५ मिनट म समाप्त हो जाएगा । इसमे प्रतीहारी की छोड़कर ओर कोई स्त्रीपात्र नहीं है और बीर रस तथा उसके सचारी भावा की व्यञ्जना है । हिंदी साहित्य का अध्ययन करने वाल छात्रा क लिए भारत-दु की सरल व्रजभाषा के पद्य भी

सुबोध हाय । ब्रजभाषी प्रदेश में तो जनसाधारण भी इसका आनन्द ले सकेंगे ।

इसकी घटना में ये सात मंच दृश्य हैं—

१ (प्रस्तावना में) सूत्रधार पारिपाश्विक तथा अजुन,

२ विराट का अमात्य उत्तर और अजुन

३ अजुन और उत्तर,

४ रगदीप पर—अजुन और उत्तर,

रगदीप पर—इन्द्र, विद्याधर और प्रतीहारी, दुर्योधन बहुत थोड़ी देर के लिए

५ इन्द्र विद्याधर, प्रतीहारी

६ अजुन और उत्तर

७ पावो पांडव उत्तर और राजा विराट

यह नाटक खेलने के लिए अधिक से अधिक सात अभिनेताओं की आवश्यकता है । एक अभिनेता अजुन, और दूसरा उत्तर बनेगा । शेष पांच में से चार चौथे दृश्य में इन्द्र विद्याधर, प्रतीहारी और दुर्योधन को भी पाट कर सकते हैं सूत्रधार पारिपाश्विक (दृश्य १) अमात्य (दृश्य २) भी बन सकते हैं तथा अंतिम दृश्य में चार पांडवों के रूप में भी उपस्थित हो सकते हैं । सातवा आदमी विराट बनेगा ।

व्यायोग में वणनात्मक अर्थात् आखा देखा मुझ वणन सुनाने का कार्य अधिक है । मुझ में विभिन्न अस्त्रों का प्रयोग विविध रंगों के प्रकाश की योजना करके आसानी से प्रस्तुत किया जा सकता है । यह प्रकाश-योजना पार्श्वों से की जा सकती है ।

इन्द्र विद्याधर और प्रतीहारी दिव्य पात्र हैं शेष सब अदिव्य अर्थात् मनुष्य हैं । दिव्य पात्रों का रामलीला की तरह उनके पौराणिक आश्रय की योजना करके व्यञ्जक बनाया जा सकता है । अदिव्य पात्रों का स्वरूप तो साधारण ही है ।

यह व्यायोग इतना छोटा है कि इसमें बीच में गीत या नृत्य रसक की आवश्यकता नहीं है । पहले दो पद भारतेन्दु ने भरव राग में अनदित किए हैं । पहले में प्रातःकाल का वणन है और दूसरे में शरद ऋतु का । ये दोनों संगीत पद्धति से गाए जाएं तो नाटकीय चित्र वातावरण बनाने में सहायक होंगे । नाटक की समाप्ति पर जो भरतवाक्य रखा जाता है वह भारत दुने अपनी समकालीन परिस्थितियों को देखकर लिखा है । इसे परिचित किया जा सकता है यद्यपि इसका अधिकांश अब भी वैसा ही साधक है जैसा इसके अनुवाद के समय था । संस्कृत नाटक का भरतवाक्य या तो छोड़ देना चाहिए और या भारत दुने वाला भरतवाक्य हटाकर संस्कृत वाले का हिन्दी अनुवाद वहां माना चाहिए । संस्कृत वाला भरतवाक्य साधारण सदगुणों की आगता मात्र है ।

मुद्राराक्षस इस नाटक का अनुवाद निश्चय ही खेलन की दृष्टि रखकर किया गया था । अनुवाद के अंत में दिए गए उपसंहार (क) के आरम्भ में अनुवादक ने लिखा है 'इस नाटक में आदि अंत तथा अन्तों के विधायकस्थल में रंगमाला में ये गीत गाने चाहिए । (भारतेन्दु नाटकावली भाग १, पृष्ठ ३६३)

इस नाटक में सात अंक हैं जिनमें पात्रों की संख्या इस प्रकार है

प्रस्तावना	२
अंक एक	५
अंक दो	७
अंक तीन	८
अंक चार	१०
अंक पांच	११
अंक छह	४
अंक सात	६

पात्रों की कुल संख्या ३० है जिनमें से १६ पात्र केवल एक-एक बार या दो-या दो बार के लिए मंच पर आते हैं। गेप ११ पात्रों में से भी अधिक दिखाई देने वाले पात्रों की संख्या सात में अधिक नहीं है। अभिनय की दृष्टि में यही सात पात्र अधिक महत्वपूर्ण हैं—चाणक्य, राम, मलयकु, भागुरामण, सिद्धाचक, क्षपणक और चन्द्रगुप्त। इस प्रकार सात अच्छे अभिनेता उपलब्ध हों तो युद्धाराधन का हिंदी अभिनय हो सकता है।

वेपादि आह्वान की अधिक कठिनाई इसमें नहीं है। मूल संयोजक व अपने वणना से पात्रों के स्वरूप और स्वभाव पर प्रकाश डाल दिया है। चन्द्रगुप्त और मलयकु राजवेष में हैं, चाणक्य ३०-३५ वर्ष का युवक है और सादी धाती में दिखाया जा सकता है। राक्षस लगभग ४५ वर्ष का और अधिक भांगर वेष में होना चाहिए। क्षपणक सफेद कपड़े पहनने वाला साधु है। भागुरामण सनिकाचित वेष में होगा।

मंच-मञ्चा की दृष्टि में दर्शकों को पहले अंक में चाणक्य के घर का दृश्य है जिसका अंगन स्वयं कवि ने तीसरे अंक में बड़ी स्पष्ट रीति से दे दिया है। दूसरे में रामस का सैनिक शिविर में निवास दिखाया गया है। तीसरे में राजमहल है। चौथे और पांचवें में सैनिक शिविर का दृश्य है। छठे में नगर के बाहर एक निजन बाटिका है और सातवें में नगर के बाहर का स्थान मध्यस्थल के रूप में है।

इस प्रकार सात में से तीन दृश्य सैनिक शिविर के हैं, दो नगर के बाहर निजन के एक चाणक्य का कुटी का और एक राजमहल का। मीमांसातीन परिस्थितियों के आधार पर राजमहल का मंड बनवाया जा सकता है। गेप में आज और तब की परिस्थिति दोनों में कोई विशेष अन्तर नहीं होगा—केवल पात्रों के हथियार वेष आदि काल संगत होने चाहिए।

उपसंहार (क) में अनुवादक ने ११ गीत लिए हैं। इनमें से पहला मंगलाचरण के रूप में सबसे पहले गाने के लिए है। इसमें राम तथा कृष्ण रूप परमेश्वर की स्तुति है। साधारण भारतीय देश की भावना के साथ यह गाना बड़ा संगत है। उसके बाद पांच पांच मिनट बाद गाने के लिए दूसरा गाना रखा गया है जो प्रस्तावना के बाद गाया जाएगा। इसके बाद हर अंक की समाप्ति पर, नया अंक शुरू होने से पहले गाने के लिए एक गाना दिया गया है।

इन गानों की दो विशेषताएँ हैं। एक तो यह कि प्रत्येक गाना अपने-अपने बाद आगे गाया अंक की कथावस्तु के विषय में है, और दूसरी यह कि हर गाना अलग-अलग धुन में है जिससे निर

सत्ता दूर होती है। अतः मं गाने के लिए जो तीन गीत हैं, उनमें से दूसरा (पूरी अमी की कठोरिया सी चिरजीओ सदा बिबटारिया रानी) आज के किसी अभिनय प्रदर्शन में गाने योग्य नहीं है। शेष दो गीत भगवान की स्तुति और भारत बंदना के हैं और सुंदर हैं।

कपूर्वमंजरी इस सट्टक का अनुवाद भाषा शैली की दृष्टि से तो अभिनय के लिए अनुपयुक्त नहीं कहा जा सकता, पर उसकी विषयवस्तु और वातावरण वर्तमान युग की सिफ्ट रूचि से बहुत दूर है। भूल रूप में यह नरय नाटिका है। नृत्य के साथ इसकी वस्तु बड़ी मनोरंजक होगी। अनेक स्थल ऐसे हैं जहाँ पहलिया सी बुझाई गई है। उदाहरण के लिए पहले अंक में विदूषक और विचम्पणा की चर्चा-चर्चा के कुछ अंश। पर एक दो को छोड़ कर शेष पहलिया या पर्यायाक्त आसानी से समझ में आ जाते हैं। इसकी भाषा इतनी चटपटी और सजीव है कि हमें अभिनय की सफलता में कुछ भी संदेह नहीं। इसके दशम का वातावरण भी सरलता से प्रस्तुत किया जा सकता है।

संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि भारतेन्दु के अनुवाद अभिनय के लक्ष्य से किए गए थे। उनका अभिनय भारतेन्दु की नाटक मंडली ने किया भी होगा पर इसके बारे में कोई विश्वसनीय जानकारी हमारे पास नहीं है। भारतेन्दु ने अपनी मौलिक नाटिका श्रीचंद्रावली की प्रस्तावना में सूत्रधार में ये शब्द कहलाए हैं

सूत्रधार आ, तुमने अब तक न जाना आप मेरा विचार है कि इस समय मैं अपने एक नये नाटक की लीला करूँ क्योंकि संस्कृत नाटकों का अपनी भाषा में अनुवाद करके तो हम लोग अनकं धार गेल चुके हैं फिर बारम्बार उहीके खेलने को जी नहीं चाहता। (भारतेन्दु नाटकावली प्रथम भाग पृष्ठ १५६)।

इसमें स्पष्ट प्रतीत होता है कि ये नाटक खेले गए थे। भारतेन्दु की भाषा शैली, अनुवाद शैली और अभिनय के समय गान के लिए रचित मौलिक गीतों से भी इस धारणा की पुष्टि होती है। इनके अनदित नाटकों में मेघनजय विजय और मुद्राराक्षस आज की सिफ्ट युगरूचि में अनुकूल हैं और ये दोनों सफलता से खेले जा सकते हैं। संस्कृत मुद्राराक्षस का अभिनय १९५४ में दिल्ली में हुआ था और बड़ा सफल रहा था। कोई कारण नहीं कि हिंदी में भारत दु द्वारा प्रस्तुत यह अनुवाद सफल न हो।

वचनमित्र

भर्तृहरि निवेद भर्तृहरि निवेद, जसा कि इसके नाम से स्पष्ट है वराह्य का पोषक नाटक है। यह नाटक कालाहाकर में जाज थियेट्रिकल कम्पनी के खेलने के लिए १९१२ ई० में अनदित हुआ था। श्री वचनमित्र ने इसका अनुवाद करते हुए यह विचार व्यक्त किया था कि इसका अभिनय सफलता से किया जा सके। इसके लिए उन्होंने दो उपाय किए। एक तो इसकी भाषा बड़ी सरल और हल्की रखी पर वह सिफ्ट बोलचाल से दूर नहीं गई। दूसरा काम आपन यह किया कि भूलनाटक के दशकों की सत्कालीन पाण्डेय मंच के नाटकों की तर्ज पर गीतों में अनदित किया। इन दोनों उपायों से यह रचना सचमुच अभिनयोपयोगी बन गई। यद्यपि इसके सांस्कृतिक अभिनय, और उसके प्रभाव या परिणाम के बारे में हमारे पास कोई विश्वसनीय सूचना नहीं है पर यह निश्चय

से कहा जा सकता है कि यह नाटक आज के मंच पर मफन हो सकता है।

इस नाटक में बस ता नियमानुसार पांच अंक हैं पर पांचों अंक बहुत छोटे छोटे हैं। साग नाटक एक घंटे में खेला जा सकता है, और संगीत योजना द्वारा उसे डेढ़ घंटे का अभिनेय नाटक बनाया जा सकता है।

कथावस्तु वरामय विषयक है जिसमें धार्मिक प्रवृत्ति के लोग और माधारण गृहस्थ विषेण रुचि रखते हैं। राजा भरथरी की बहुत प्रचलित लोक कहानी दण्डी की सुपरिचित होन से भी इस नाटक का अभिनय आकर्षक हो सकता है।

इस नाटक में मुख्य अभिनेता चार हैं—राजा, रानी, मंत्री और योगी। गौण अभिनता ६ से १० तक रखे जा सकते हैं। द्वितीय अंक की बटिया और पुष्प तीसर में कचुकी, मनो और योगी बन सकते हैं जिससे गौण अभिनताओं की संख्या ३ से ७ तक रह जाती है। अनिविधित सग्या राजा के अनुसर वग या परिजन के कारण है।

मंच सज्जा की दृष्टि से इसमें राजमहल (अंक १ और २), शमशान (अंक ३), और उपवन (अंक ४ और ५)—ये केवल तीन दृश्य हैं जो आसानी से प्रस्तुत किए जा सकते हैं। वेप भी साधारण प्रयत्न से बनाए जा सकते हैं क्योंकि सब पात्र वगगत हैं।

सत्यनारायण कविरत्न

उत्तररामचरित सत्यनारायण कविरत्न का किया हुआ 'उत्तररामचरित' का अनुवाद भाषा गौली की दृष्टि से मूल मङ्कृत नाटक की अपेक्षा कहीं अधिक अभिनेय और आस्वाद्य है। गद्य और पद्य दोनों बड़े सुवाच और सरल हैं। शब्द समूह सुपरिचित सरसम शब्दों और तद्भव शब्दों का है। वाक्यरचना भी यही हुई है। वाक्य अभिनय के लिए बहुत बड़े नहीं हैं। सम्वादन शब्द भी सूक्ष्म सूक्ष्म से रचे गए हैं। कथानक सुपरिचित और हृद्यप्रायक है।

पर इस नाटक के अभिनय में एक बड़ी कठिनाई है। वह कठिनाई वस्तुतः अनुवाद में न होकर मूल नाटक में ही है। इस नाटक में काय-यापारकम और वस्तुवचन अधिक है। नाटक की सजीवता काय-यापार पर ही निर्भर होती है। वस्तुवचन काय और काय की गति का निर्मित करके दशक की उत्सुकता और कुतूहल को मद कर देता है। इस नाटक के लम्बे वचन—वृत्ति, वन पुनर्न नयी आदि के मनोहर चित्रता प्रस्तुत करने हैं पर वे इतिवृत्त के अंश होकर रचना के नाटकीय प्रभाव को धुंधला देते हैं। कविरत्न जी ने बहुत स दलोका की गीता का रूप देकर मनोरञ्जकता बढ़ाने का यत्न किया है। वस्तुतः गीत नाटक की रञ्जकता तो बढ़ा करता है पर वह कायव्यापार का ध्यान नहीं ले सकता। हमारी धारणा यह है कि इस नाटक का अविकसल रूप कुछ लम्बा है। मारे नाटक को मंच पर प्रस्तुत करने के लिए एक दिन काफी नहीं। मंच के सन्ने में कठिनाई न होने पर भी नाटक में कायव्यापार की कमी होने के कारण अभिनय से साधारण दण्ड के मन का रोव रखना कुछ कठिन काम है। फिर भी स्कून कालिदास में इसका अभिनय अनेक बार हुआ है।

वागीश्वर विद्यालकार

कुदमाला वागीश्वर विद्यालकार का किया हुआ इस नाटक का अनुवाद अभिनयापयोगी है। इसका कथानक वही है जो उत्तररामचरित का, पर नाटकीय इतिवृत्त में भिन्नता है।

इसमें मंच पर अधिक देर रहने वाले पात्रों की संख्या आठ है—सीता, सखी, राम लक्ष्मण, वाल्मीकि विदूषक कुश लव। परिणामतः नौ या दस अभिनताओं से यह नाटक खेला जा सकता है।

इसके पहले पांच अंकों का घटनास्थल वन तपोवन और आश्रम है। एक ही मंडप मामूली हेर फेर करने पर इनका काम दे सकता है। केवल अंतिम अंक में यज्ञभूमि का दृश्य है। इस प्रकार एक ही मंच सज्जा मारे नाटक के लिए उपयुक्त है। केवल छोटे मोटे परिवर्तन करके स्थान का व्यवस्थित उभारना और सूचित करना अपेक्षित है।

टैक्नीक की दृष्टि से छाया दृश्य की योजना इस नाटक में है। 'गायतल' में कुछ कुछ यही योजना छठ अंक में सानुमतों के लिए की गई है। आज के युग में यज्ञयज्ञ की मंच पर व्यवस्था करना कुछ कठिन नहीं। 'गायद' पारदर्शक प्लास्टिक या नाटलीन का दहन आवरण का प्रतीक बनकर काम दे सकता है।

भाषा 'गली' की दृष्टि से इस अनुवाद की दा बड़ी महत्वपूर्ण विशेषताएँ हैं। एक तो यह कि इसमें गद्य के साथ साथ पद्य में भी खड़ी बोली हिन्दी का प्रयोग है। दूसरी विशेषता यह है कि हिन्दी भाषा के बड़े सरल और सुवाचक शब्दों का प्रयोग किया गया है। पद्य बड़े सरल सुवाचक और प्रवाही हैं। गद्य भी आज्ञास्वी और प्रभावात्पादक है। सातवें अंक में वाल्मीकि का एक कथन इस प्रकार है

वाल्मीकि (शोध में) उदार हृदय ! महाकुलीन ! विवक्षाल ! राजन ! महाराज जनक द्वारा तुम्हें सीधी गङ्गा देगङ्गा द्वारा स्वीकार की गई, अरुंधती द्वारा जिसका मंगल किया गया वाल्मीकि न जिनके गुह्य चरित्र की घोषणा की, अग्नि न जिनकी पवित्रता की परीक्षा ली कुश लव की जननी, भगवती यमुधरा की पुत्री उस सीता को केवल कुछ झूठी प्रफवाहों के कारण छोड़ देना तुम्हें कहा तक उचित है ?

(पृष्ठ ६५)

तीसरे अंक से पद्य का एक उदाहरण

राम—

विससय कोमल पाणि प्रिया का पकड़ प्रेम से अतिशय !

करता सध्यासमय रसीली प्रणयकथाएँ सुखमय !

टहल रहा था—पर दब गया—फूट पड़ा था पानी !

नदी विनारे उस विहार की आता याद वहानी ॥

—पृष्ठ ३१

प्रथम अंक में एक पद्य यह है

हुई गंगा की इन शीतल सरीरा का मिहिरवानी ।

जगाई नाम्य स मरी, उठी फिर जा महारानी ॥

—पृष्ठ ७

ऐसी सरल प्राञ्जल भाषा इस भाव भर नाटक के अभिनय के लिए बड़ी उपयुक्त है। मंच सज्जा, अभिनेताओं की सज्जा और कयास पूरे परिचय के कारण भी यह नाटक हिन्दी भाषी जनसमाज के मनोरंजन और समाप्तादन का अच्छा माधन बन सकता है।

विराज

विराज के लिए मानविकागिनिमित्र के अनुवाद का १९६१ में काटौर में अभिनय हुआ था। १९६२ में अभिनेतागणु तल और विक्रमोक्तियों के हिन्दी अनुवाद के कुछ अंश अभिनीत हुए। ये दोनों अभिनय इसी दौर की गीतियाँ संस्था नाट्यभारती द्वारा प्रस्तुत किए गए थे।

नाट्यभारती के प्रमुख संचालक तीन व्यक्ति हैं—राहुल बारपुत्र, विष्णु चिंचालकर और धारा डिक। इन तीनों की मान्यता मराठी है। ये ही अभिनय में प्रमुख अभिनेता और निर्देशक भी होते हैं। महिला पात्रों में कभी विष्णु जी की पुत्री तारागाई होती हैं और कभी समय पर जा भी मिल जाए उस तयार कर लत हैं। चिंचालकर जी मंच निर्माण, मंच-प्रवस्था, सज्जा सज्जा प्रसाधन आदि संचालित हैं। निर्देशन का मुख्य दायित्व राहुल बारपुत्र निभाते हैं, प्रमुख नट या अभिनेता की भूमिका बाधा डिक।

इन नाट्यमस्या के सत्र कार्यक्रम इसके अपने सदस्यों के सम्मुख होते हैं। सभी संस्था संस्थान सहित और सुसिद्धित हैं जिनमें अधिकतर उच्च सरकारी अधिकारी, या कालिदास के अनुयायी और साहित्यकार हैं।

नाट्यभारती के बारे में जानकारी देने हुए दयामूर्त सायनी ने हम लिखा है
“दण्ड ने तीनों ही नाटकों को पसंद किया। अभिनय और प्रस्तुतीकरण की दृष्टि से वास्तव में निर्णय थे। राजपाल के महा (इन अनुवादों के प्रकाशक राजपाल एण्ड सन्स दिल्ली) से जिस रूप और भाषा में छप है, उसी रूप में बिना किसी परिवर्तन के इनका प्रस्तुतीकरण हुआ था। एक बात भी नहीं बदला। बारपुत्र के शब्दों में The stage and cast was adopted in strict accordance to the printed word”

अनुवाद की भाषा के सम्बन्ध में श्री सायनी ने उसी पत्र में आगे लिखा है
“अधिकतर दण्ड की ओर स्वयं निर्णय प्रभिनय मंडल का भी तीनों नाटकों की भाषा प्राणवत, ओजस्वी और प्रवाह पूरा नहीं लगी—” “It was a mechanical paraphrasing of Sanskrit text

मंच-प्रवस्था के सम्बन्ध में आपन लिखा है मंच की दृष्टि में उन्हें कोई कठिनाई नहीं हुई। ये लोग और स्वयं मैं भी मंच को निर्जिव यांत्रिक रचना नहीं समझते। मंच तो किसी भी नाटक के अनुरूप बनाया जा सकता है और अभिनेता किसी भी तरह की भाषा और विषय को उचित परिचय करके प्रस्तुत कर ही सकते हैं।

इन तीनों नाटका के अभिनय में मुख्य अभिनेताओं के नाम और उनकी भूमिकाएँ ये थीं

राकुतल में

दुष्यंत—राहुल वारपुत्र,
राकुतल—सुमन धर्माधिकारी
प्रियवदा—तारा विद्यालकर
निर्देशक—बाबा डिके ।

मालविकाग्निमित्र में

अग्निमित्र—राहुल वारपुत्र
धारिणी—सुमन धर्माधिकारी,
मालविका—डा० वसुधरा कालेवार,
कौशिकी—सुमन दाडेकर
विदूषक—वसंत रंग
निर्देशक—बाबा डिके ।

विश्वामोक्षशीप में

पुरुषोत्तम—राहुल वारपुत्र
उवशी—निमला दाणी
विदूषक—अरुण डिके ।

निष्कर्ष

संस्कृत से अनूदित अनेक हिन्दी नाटक मंच पर अभिनय के योग्य हैं, पर बहुधा मंचप्रबंधक इनकी आर-पान नहीं देते और उन्हें आधुनिक रंगमंच के अनुपयुक्त बताते हैं । भारत-दुर्ग के अनूदित नाटक अतः हरि निर्वेद का बचने-गमिष्ठ कृत अनुवाद, बागीश्वर विद्यालवार का कुन्दमाला का अनुवाद और अन्य अनेक अनुवाद भाषा शाली की दृष्टि में निश्चय ही अभिनय योग्य हैं । मंच का सवाद लेखक सवादा को कुछ ठीक ठान कर लेता अनेक अनुवाद सफलता में मंच पर खेले जा सकेंगे ।

भातवा अध्याय

अनुवादों का योगदान और मूल्यांकन

अनूदित नाटकों का हिन्दी साहित्य में जो महत्वपूर्ण स्थान है, उसके योगदान का उचित मूल्यांकन नहीं हुआ। चार दृष्टियों से इनका हमारे साहित्य में बड़ा गौरवपूर्ण स्थान है

- १ सांस्कृतिक दृष्टि से,
- २ वाच्यचतना की दृष्टि से,
- ३ हिन्दी गद्य की विकास परम्परा की दृष्टि से,
- ४ हिन्दी नाट्य परम्परा का दृष्टि से

१ हमारे सांस्कृतिक आदर्शों की निधि

महत्तम प्राचीन भारतीय जीवन के सांस्कृतिक आदर्शों का सच्चा प्रतिबिम्ब हैं। इनका अनुवाद से आज का युग में भी हम उन आदर्शों से बड़ी प्रेरणा मिलती है और अपनी आवश्यकताओं के अनुसार हम उनका उपयोग कर सकते हैं। इन सांस्कृतिक आदर्शों में कुछ मुख्य आदर्श ये हैं

- (क) वर्णाश्रम धर्म,
- (ख) धर्म के जीवन का व्यापारिक सत्य—भगवान का अमूर्त रूप
- (ग) राजा प्रजाजनान
- (घ) प्रेम का प्रकृतिरूप—वनि पत्नी का प्रेम

क वर्णाश्रम धर्म

आर्य मनीषियों ने जीवन पर दो दृष्टियाँ से विचार करके उसका वर्गीकरण किया था। गुण कम और स्वभाव का आधार पर वर्ण या जीवन काय की वर्णना की गई थी, और आयु की परिणति का आधार पर चार आश्रमों की व्यवस्था रखी गई थी।

सत्र वर्ण का ज्ञान या जाति कहते हैं। यह सत्र प्रयोग बड़ा आम है। वर्ण वास्तव में बड़ी चीज थी जिसे आजकल बैरीयर या जीवनकाय या वेणा कहते हैं। जब समाज अधिक परिष्कृत अवस्था में होता है तब उसमें स्वभावतः बुद्धिजीवी, सत्ताजीवी धनजीवी और श्रमजीवी ये चार विभाग हो जाते हैं। इनकी आज अनेक भाषा दंगा में इटलियन, ग्रेनमट, बिजनेस और सेवर कह दते हैं। पर ये हैं मर्यादा स्वाभाविक।

प्राचीन भारत में किसी समय वर्णों की बड़ी हितकर व्यवस्था थी। इसके अनुसार वंशव्रत के रूप में हाहा या अधिकार के रूप में नहीं।^१ सबसे ऊँचा व्रत ब्राह्मण का व्रत गिना जाता था। प्रत्येक सामयिक समाज में ब्राह्मण व्रती का स्थान सर्वोपरि होगा यह व्रती आत्मिक और बौद्धिक सामर्थ्य का सजाना होना चाहिए। ब्राह्मणत्व वस्तुतः अधिकार नहीं था व्रत था। ब्राह्मण वह था जो सत्य और विद्या के आगे धन को तुच्छ समझता था। इसीलिए पराक्रमी क्षत्रिय और धनपति वश्य उसे अपने से ऊँचा मानते थे। मनुस्मृति में मान के पाँच क्रमिक आधार बताए हैं विद्या, धर्म, आयु, व धन-बाधक और धन।^२ पहला स्थान उसका है जो विद्या का धनी है। आयु आदश के अनुसार जो व्रत था, वह धीरे धीरे अधिकार सम्पन्न जाने लगा और यह अधिकार जन्म से प्राप्त माना जाने लगा।

संस्कृत नाटकों में इन वर्णों के व्रत पत्र को उभारा गया है। महाकवि कालिदास का शाकुन्तल तथा जयव्रती ब्राह्मण की गरिमा का दर्शन कराने के लिए ही लिखा गया है। पहले अंक में ऋषियों का हरिण की रक्षा के लिए कहना और राजा का तुरन्त उसे आदर पूर्वक स्वाकार कर लेना सामाजिक व्यवस्था के इस पक्ष का महत्त्वपूर्ण निरूपण है। इन ब्राह्मणों का तज से राजा सुपरिचित है। वह इन्हें अवहेलना की दृष्टि से नहीं देखता। उनके मन में उनके लिए सचमुच बड़ा आदर है और यह इनके सच्चे महत्त्व की समझता है। दूसरे अंक में जब राजा विदूषक से तपोवन में जान का उपाय पूछता है और विदूषक उसके राजकीय अधिकार की चचा करता है, तब दुष्यंत उसकी बात अस्वीकार करता हुआ इन ऋषियों की वास्तविक महिमा की ओर उसका ध्यान खींचता है

और वंश से लेते नप, सा धन विनशन जाग।

छाने अक्षतप को अमर भेत जु तपसी लाग ॥^३

—लघुनखसिंह, पृष्ठ ४४

इसी प्रकार क्षत्रिय का व्रत दुष्टों के दमन का है। जहाँ से पुकार आती है वही व्रती क्षत्रिय सबसे जाग दियाई जाता है। शाकुन्तल में दुष्यंत अपने राज्य के ऋषियों की यज्ञ रक्षा के अतिरिक्त इन्द्र के अनुओं से लड़ने के लिए तुरन्त प्रस्थान कर देता है। पुरुष रत्न अपरिचित उवशी का आनानाद सुनते ही उसकी रक्षा के लिए दौड़ पड़ा। (विक्रमो वशीय) राम ने ब्राह्मण पुत्र की अकाल मृत्यु का निवारण करने के लिए सक्का मील की यात्रा कर डाली (उत्तररामचरित), विराट नगर के ग्वालों की गायों का अपहरण सुन कर अर्जुन और कुमार उत्तर रथ सजाने निकल पड़े (धर्मत्रय विजय), गरीव ब्राह्मण

१ अत्रमिति कम नाम वंशोनामि सन् । निवृत्तिक्रमा धारयन्तीति मतः ।

निष्कन् २ १३) वर्णों वर्णादे । निष्कन् २ ३ ।

२ वित्तयधुवय कर्म विष्णु भवन पचना ।

७२१नि मान्यस्थानानि गरायो यधुत्तरम् ।

३ यदुत्तिष्ठति वर्णैर्मयो नशाया धर्मि त एवम् ।

तप पदभागमधयय ददत्तारण्यशः दिन ॥

वे पुत्र को मोत के मुह में पड़ता दस भीम, उसका स्थान पर, स्वयं राक्षस के साथ चर पडा (मध्यम व्यायोग)। इस पात्रो के चरित्रों से जिस उत्साह की व्यञ्जना होती है वह सामाजिक मनुष्य की दृष्टि में मरदा बदनीय रहता।

वर्ण सम्प्रदायी धारणा के जड़ता जान के बाद जन्म से वर्ण की मायता चल पड़ी। मनीषी नाटककारों का ध्यान इस स्थिति के अनौचित्य की ओर गया। उन्होंने समय-समय पर इसके विरुद्ध आवाज उठाई। मृच्छकटिक न लिखा

विट—कुलीन होम से कुछ नहीं होता।

स्वभाव की श्रेष्ठता ही मनुष्य का श्रेष्ठ बनाती है अच्छी भूमि से उत्पन्न हान पर भी बरूल का पद काटे ही उगाता है।^१ (अनु० माहर्षि राक्षस पृष्ठ १४८)

यही चेतावनी वर्ण के इन शत्रुओं में बणीसहार के वक्ता ने दी

मैं सारथी, सुत सारथी का ओर कोई हूँ तथा।

पुत्रपाथ करना काम है, कुल भाग्य कर मैं सबया ॥^२

—अनु० बन्धुवैराग्य पृष्ठ ३७

इस प्रकार वर्ण के जड़ीभूत रूप की अवहलना भी संस्कृत नाटककारों ने प्रदर्शित की है।

आधुनिक व्यवस्था का आय सामाजिक जीवन का दूसरा आधार माना गया है। यह आधुनिक-व्यवस्था इस रूप में सदा सबन मौजूद रहती है कि मनुष्य का आरम्भिक जीवन विद्याध्ययन में बीच का अर्थोपाजन और बाद का पठन-पाठन या धार्मिक चिंतन में व्यतीता है। जाजकल अर्थोपाजन का काल बहुत सम्भाव्य चलता है—जीवन की आवश्यकताओं के कारण।

आधुनिक जन्म प्राचीन विभाजन का आधार भी दत्त या कृतव्य ही था अधिकार नहीं। अपने अधिकार का दावा करने के स्थान पर हर व्यक्ति का अपने आधुनिक के कर्तव्य का निष्ठा से पालन करना होता था। इस प्रकार हर मनुष्य का तरह की कृतव्यनिष्ठाओं से बंधा होता था—एक अपने जीवन दत्त की और दूसरी अपने आधुनिक-दत्त की।

मनुष्य के उत्तराधुनिक चरित्र में कुल और लव का ब्रह्मचर्य आधुनिक का रूप चित्रित किया है। मृच्छकटिक का धारण्य कामकला निष्ठाओं गुणी और दानीयन्त्र्य का आदेश है। माकुन्तल के ऋषि काश्यप यानप्रस्थ का जीवन बिता रहे हैं।

जीवन के इस आण चढ़ते हुए रूप का महत्त्व कानिनासने माकुन्तल में कण्व के मुह से इस प्रकार बहलाया है

१ विट—

किं कुलेनोदितं शालमवारं कारणम्।

भवति सुतरी मया सुवनं कथयिष्यामि ॥

—मृच्छ० पृष्ठ २६

२ मृता वा युतपुत्रो वा भो वा को व भवत्य न्।

नैवाद्यं कुलं जन्म मयाप्य तु पौरुषम् ॥

—अनु० ३ ३७

बहुत समय तक, सकल मही के पति के महिषी पद का मान—
 पा अपने अनुपम दीप्यती सुत का करव राज्य प्रदान,
 उसको दे परिवार भार सब, पति व सग, होकर उपराम—
 आएगी इस शांत तपोवन में फिर तू करने विधाम ॥^१

इसीकी प्रतिध्वनि 'बुद्धमाला' के इस पद्य में है

केवल एक धनुष के बल यह भूमण्डल अपना कर।
 सौ मृगा से भाग स्वर्ग का सुंदर सरल बनाकर।
 रघुवशील भुवनभार पुत्रा को चौपेन म।
 मोक्षसिद्धि के लिए सदा से आते हैं इस वन में ॥^१

और 'उत्तररामचरित' में यह विचार इस प्रकार आया है

राजपाट दे निज सुतनि श्यामि जगत जजाल।
 बुद्ध समय वन को गये सुरज बस भुवाल।
 वही अमल आरण्यगत पावन पुण्य समाज।
 बाल काल ही में धरयो तुमने श्री महाराज ॥^१

प्राचीन वर्णाश्रम धर्म का यह आदर्श हिंदी पाठका के सामने संस्कृत नाटका के अनुवादा से बहुत अच्छी तरह आता है और हम अपने व्यक्तिगत तथा सामाजिक जीवन का व्यवस्थित करने और व्रतमूलक बनाने की प्रेरणा देता है।

(ख) परमसत्ता और व्यक्ति

यज्ञिन के जीवन का चरम लक्ष्य सबव्यापिनी परम सत्ता का साक्षात्कार है, उसका सारा कायकलाप इस सत्ता के भान से अनुप्राणित रहना चाहिए तभी वह सुख और आनंद पा सकता है—यह भावना रखन के कारण संस्कृत नाटककारों ने अपने नाटका के आरम्भ में नादीदलाक द्वारा या नाटकीय अंग में परमात्मा का स्मरण दंगका को कराया है। यह प्रवृत्ति मानव जीवन के यथाथरूप को देखन-समझने की क्षमता प्रकट करती है।

आज का नाटन यथायवादी होने का दावा करता है पर फिर भी वह इस ससार व्यापी यथाथ की उपेक्षा करता है कि आज भी परम सत्ता में आस्था सबसे अधिक व्यापक आस्था है। ईसाई जगत में सबसे अधिक बिकने वाली पुस्तक बाइबिल है, भारत में धार्मिक पत्र 'वन्द्याण' सबसे अधिक छपता है। इन तथ्या से ससार के दो सबसे अधिक विस्तृत धर्मों के प्रति मानवजाति की प्रवृत्ति प्रकट होती है। यह बात बिल्कुल अलग है कि विभिन्न आस्थाओं के अनुसार परम सत्ता का रूप क्या है।

संस्कृत नाटककारों ने लाव-जीवन और परमसत्ता को एक दूसरे में गूँथ दिया है। शाकुंतल के नादीदलाक में ससार के भौतिक रूपा को कल्याणमय परमेश्वर का गरीर

१ अनु० वागीश्वर विद्याकर पृष्ठ ३३

२ अनु० वगैश्वर विद्याकर, पृष्ठ ५०

३ अनु० सत्यनारायण पृष्ठ १३

ब्रह्मा गया है। जल को 'स्रष्टा की आदि स्रष्टि' कहकर याद किया गया है, अग्नि और होता, सूर्य और चंद्र, आकाश, वायु और पृथ्वी—इन आठ वस्तुओं को मंगलमय शिव का प्रत्यक्ष रूप बताया गया है। वालिदास के एक अन्य नाटक मालविकाग्निमित्र में परमात्मा का मंगलकारी रूप इस प्रकार निरूपित हुआ है

पूरी करें भक्त की कामना सब,
लेकिन स्वयं है गजबमधारी।
हैं अधनारीश्वर किंतु फिर भी
सबसे बड़े वह यति ब्रह्मचारी।
जग को सभाते निज अष्ट मूर्ति से,
नइसकाज हकिंतु अभिमान भारी।
समाग दीखे इस हेतु वह शिव
भेटें तमोवृत्तिया सब तुम्हारी ॥^१

पहले वाक्य में भक्तिग्रह, दूसरे में इन्द्रिय-संयम और तीसरे में विनयशीलता के जिन तीन गुणों का उल्लेख हुआ है, वे प्रत्येक समाज सेवक के जीवन की सफलता का आधार हैं। महात्मा गांधी ने इन तीन गुणों का चरम रूप दिखाई देता है—तभी वे देश की तमोवृत्ति और जड़ता को दूर करके उसमें चेतना का संचार कर सके।

मुद्राराक्षस के लेखक ने इसी भावना को इस प्रकार प्रकट किया है

पाण्डुराहार सा जाई पताल न,
भूमि सब तनुशोक के मारे।
हाथ नचाडवे सो नभ म
इत वं उत टूटि पर नहि तारे।
देवन सो जरि जाहि न सोक
न खोलत मन कृपा ठर धारे।
या थल वं बिनु कष्ट सो नाचत,
छव हरी दुख सब तुम्हारे ॥^१

सामाजिक मंगल की आकांक्षा से वाय करने वाला म इतना धीरज और जात निग्रह होना चाहिए।

यही मंगल भावना सत्यनिष्ठता वाली विष्णुभक्ति के रूप में प्रवाधचंद्रोदय का प्रतिपाद है। महाकवि आस ने भगवान को मानव रूप में देखते हुए उत्तरा सौन्दर्य और शक्ति का रूप प्रस्तुत किया है। वेणीसहारा के कर्ता ने राधा और कृष्ण के अनुराग से संसार के बन्धुओं की कामना की है। परन्तु आपने भगवान की सत्ता के इस अमूल्य रूप की ओर भी देशक का ध्यान दीक्षा है

विनष्ट भेद समाधि के स्नेही आत्मविहारि।
सत्य निष्ठ सत जान स निष्ठ अविद्याहारि।

और राम की अपनी दगा उनके इस आत्मगत वचन से प्रकट होती है
 जिसलक्ष कामल पाणि प्रिया का पण्डप्रेम मे अतिशय ।
 करता सव्या समय रसीली प्रणयकयाए सुखमय ॥^१

और

रो रो प्रिया वियोग म दुखी हुए य नन ।
 उठे हाम के धूम स और हुए वचन ॥^२

‘संनवासावदत्ता’ में भी पति पत्नी के परस्पर अनुराग का यही चित्र मिलता है। परन्तु ‘मृच्छकटिक’ में जहाँ एक ओर पतिपरायणा धृता का आदर्श चरित्र है, वहाँ दूसरी ओर स्वच्छन्द प्रेम की अनुपामिनी वसन्तसेना और चारुदत्त के चरित्रों को आधार बना कर प्रेम के इस महत्त्वपूर्ण तत्त्व का निरूपण किया गया है कि प्रेम हृदय का व्यापार है, धन का नहीं। इसमें इधर तो वसन्तसेना है जिसका परम्परागत पेशा ही धन लेकर प्रेम का प्रदर्शन करना था और उधर है चारुदत्त जो कभी बहुत धनी होने पर भी आज सबथा निधन हो चुका है। पर चारुदत्त की सत्यनिष्ठा वसन्तसेना का हृदय खींच लेती है और वह बड़े-बड़े धनियों की कामना का धन वह रमणीय इस अविचल चारुदत्त के चरणों में आत्म-समर्पण कर देती है और इसकी पत्नी बन जाती है। चरित्र के आगे भौतिक सम्पत्ति की तुच्छता का यह जादू मानव समाज के लिए सदा महान बना रहेगा।

इस प्रकार पति पत्नी की घनिष्ठता और अनयता के व्यञ्जन उदात्त प्रेम का आदर्श संस्कृत नाटकों के अनुवादों से हमारे सामने आता है।

कुल मिलाकर यह कहा जा सकता है कि संस्कृत नाटकों ने हमारे सामने प्राचीन भारतीय जीवन के कुछ महान आदर्श प्रस्तुत किए हैं। इनमें वर्णाश्रमधर्म का महत्त्व, परमात्मा का सत्ता में आस्था, प्रजा के प्रति राजा का कर्तव्य और पति-पत्नी प्रेम का उदात्त रूप हमारे समक्ष प्रस्तुत होता है। इनके अतिरिक्त अन्य अनेक आदर्श जैसे स्त्री शिक्षा का महत्त्व, बड़े भाई का मान, पारिवारिक संगठन की महिमा, अन्ततः पुण्य का अभ्युत्थ और पाप का नाश, इन नाटकों के द्वारा हमारे जीवना और विचारों को प्रेरणा देते हैं।

२ काव्य-चेतना

हिन्दी साहित्य की अनमान प्रवृत्तियाँ हैं जिस काव्यचेतना के दग्ध होने हैं वह संस्कृत की काव्यचेतना से बहुत भिन्न प्रकार की है। आज का लेखक बहुधा आचार-शास्त्र या समाज-शास्त्र के अन्तर्गत विचारणीय बातों को और ऐंद्रिय संवेदना का अधिक महत्त्व पूरा मानता है। भाव और रस का नहीं। वह बौद्धिकवाद विवाद को भाव्य का उपादान समझता है और अपने विचार प्रस्तुत करके ही अपने को सफल कवि मानता है। मानव जीवन के स्थायी भावों को जो जीवन के गम्भीर और चिरंतन पक्षों की आधारशिला हैं, यह निरर्थक सृष्टिमान मानन लगा है।

संस्कृत नाट्यशास्त्रकारों ने अपने व प्रधान में नाटक का अंगी रंग शृङ्गार

१ अनु० बंगालकर वि० १३१ पृष्ठ ३६

२ अनु० १६१, पृष्ठ १०

और वीर को माना था। इस भावना का आधार ये सृष्टि नाटक, और इन नाटकों में इन्होंने रस बनाने का कारण यह था कि ये जीवन की दो सबसे महत्वपूर्ण आवश्यकताओं का प्रतिनिधि हैं। शृङ्गार रस मानव जाति की व्यवस्थित सृष्टि का आधार है और वीर रस मानव समुदायों की रक्षा का मूल है। जीवन के दो आधारभूत स्वरूपों भाव और रति या प्रेम और उत्साह या गम्भीरता से रक्षा के लिए प्राण के मोह का त्याग। इन दोनों की अपने हृदय में आनंद के साथ अनुभव करने वाला कवि ही शृङ्गार और वीर रसों को व्यक्त रचना की सृष्टि कर सकता है। जिस चेतना का जीवन के इन दो मूलभूत पक्षों का गहरा अनुभव नहीं है वह अपनी रचनाओं से पाठकों को बड़ा तक अनुप्राणित कर पाएगा, यह विचारणीय है।

संस्कृत नाटकों के लेखकों में शृङ्गार और वीर रसों के आनन्दना और आश्रयों की गम्भीर चेतना दिखाई देती है। शृङ्गार के आलम्बन आश्रयों में हमें उदाहरण मिलते हैं शकुन्तला दुष्यन्त, और सीता राम। वीर रस के आश्रयों में अर्जुन भीम और राम के उदाहरण लिए जा सकते हैं।

शकुन्तला में शकुन्तला स्वभावशायी तटस्थ है। उसका जीवन स्वास्थ और प्राण से भरपूर है। दुष्यन्त तेजस्वी और प्रभावशाली युवक है। वसन्त ऋतु का अंत हुआ है। मुंदर कुसुमा जोर लताओं से सुसोभित उपवन में दोनों की बैठ होती है और नैसर्गिक सृष्टि-कामना उन दोनों की मंदा के लिए एक बना देती है पर यह ऐक्य समाज और धर्म में अनुमादित रूप में ही होता है। परस्पर स्वीकृति से होने वाले गायक विवाह की धममुझा उनका सम्बन्ध पर अंकित हो जाना के बाद ही मानसिक रतिभाव समागम के प्रियारम्भ रूप में परिणत हो पाता है।

उपर्युक्त प्रतापी राजा दुष्यन्त किसी प्रकार का सांसारिक प्रलोभन प्रस्तुत नहीं करता। वह अपने आपको एक साधारण राजकमचारी ही बताता है। यह ठीक है कि उसका सच्चा रूप बाद में शकुन्तला से छिपा नहीं रहता, पर शकुन्तला का हृदय मन्वी जानकारी से पहले ही दुष्यन्त के लिए अर्पित हो चुका था। कारण था नैसर्गिक सृष्टि-कामना की परिणति के लिए प्रस्तुत उपयुक्त उपादान। दुष्यन्त ने अपने हृदय के भाव की भी उन्हीं प्रकार निदधन शब्दों में स्वीकार किया जिस प्रकार शकुन्तला ने अपनी प्रणयपरिका में स्वीकार किया था।

शृङ्गार रस के इन आत्मग्न आश्रयों से शुद्ध शृङ्गार का जो रूप हमारे सामने आता है, वह महान और पवित्र है, सृष्टि की दुर्घोष पहिली की एक कड़ी है और मानव जाति की उत्थिति की और बढ़ाने का साधन है।

सीता और राम की आलम्बन आश्रय बनाकर शृङ्गार की प्रवृत्ति उत्तरराम-चरित और कुन्दमाला में की गई है। इन दोनों में शृङ्गार का विप्रलम्भ रूप है जिसकी तरह में कोई न काई सामाजिक पक्ष रहा करता है। उत्तररामचरित में राम और सीता का प्रेम केवल रूप पर नहीं है—यह प्रणिष्ठ साहचर्य रूप के प्रभाव से आगे बढ़कर प्रेम का गहरा बना चुका है। एंड्रिय उत्तेजना की प्राणमिक श्रेणी को अतिक्रान्त करके वह भौतिक भाव का समरूप बन चुका है। भावों की इन अतीव्र प्रवृत्तियों के कारण

है उनके वियोग में वरुणा की व्यजना गहरी बन गई है।

राम का सीता के प्रति जो भाव है, वह सीता के निर्वासन की अनिवायता मन में आने पर उनके इन शब्दों में प्रकट होता है

“हा ! आज पृथ्वी लौट गई, राम के जीवन का प्रयोजन नष्ट हो गया, अब जगत सूना उजाड़ जगल-सा लगने लगा, यह ससार असार है, शरीर भी अपने लिए बोझ हो गया है कोई आश्रय भी तो नहीं रहा, कितना विमूढ़ हूँ, क्या करूँ, कहा जाऊँ।”

फिर वियोग के बाद,

हा हा प्यारी फटत हृदय यह जगत सूय दरखावे ।

तन बन्धन सब सिथिल भय से अन्तर-ज्वाल जरावें ।

तो बिन जनु डूबत जिय तम मे, छिनछिन धीरज छोड़े ।

मोहावस सब ओर राम यह, मदभाग्य का कीज ॥^१

उधर सीता का राम के प्रति प्रेम राम के मूर्छित होने पर सीता के उद्वेग के रूप में प्रकट होता है। इतना तिरस्कार राम के हाथी पान के बाद भी उसका गम्भीर हृदय राम में ही अन्तर्भाव से लगा रहता है। उसके हृदय में अब भी राम का ही एकच्छन्न साम्राज्य है। उत्तररामचरित में जब राम दंडकवन में सीता के वियोग में मूर्छित हो जाते हैं, तब अदृश्य सीता उनकी परिचर्या करती हुई कहती है

‘अविचल अनुराग भरे, प्राणनाथ के सुखद, शीतल, दीर्घ, दारुण, सताप हरण स्पर्श से पसीजकर वापता हुआ यह मेरा हाथ जहाँ का तहाँ जड़ीभूत होकर ऐसा विवश हो गया है मानो किसी वज्रलेप से जुड़ गया हा।’^२

कुन्दमाला में, सीता का राम के हृदय पर कितना अधिक दृढ़ विश्वास है, इसकी व्यजना सीता और सखी के इस बातालाप से होती है—

सीता—(शरमाकर) यही कि आज इतने दिन हो चुकने पर भी, सीतलिन के निश्वास पवन से अद्रुपित उनके हृदय में मैं ही पूजा पा रही हूँ।

बेदवती—सखि ! क्या उतावली हो रही हो। राम अश्वमेध यज्ञ में दीक्षित होने ही का है।

सीता—तो क्या ?

बेदवती—यही कि तब यज्ञ में किसी सह्यम चारिणी का पाणिग्रहण करना ही पड़ेगा।

सीता—आयुष्य के हृदय पर ही मेरा प्रभुत्व है हाथ पर नहीं।^३

इस प्रकार शृङ्गार रस के ये दो आलम्बन आश्रय जिस उत्फुल्ल, मधुर और गम्भीर जीवन की व्यजना करते हैं, वह व्यक्तिगत और सामाजिक दोनों दृष्टियाँ से महान और महत्त्वपूर्ण हैं और ऐसे चरित्रों की सृष्टि करने वाले कवियों की काव्य चेतना हो

१ अनु० सत्यनारायण, पृष्ठ २८

२ अनु० सत्यनारायण पृष्ठ ६६

३ अनु० सत्यनारायण, पृष्ठ ७०

४ बागेश्वर विशाकार, पृष्ठ २६

मानव-जीवन के घनमान और भविष्य को स्पृहणीय बना सकती है।

उत्साह के आश्रय

राम—‘महावीरचरित’ में नायक राम वीर रस का आश्रय है। वह दुष्ट अत्याचारी राक्षसों का दमन करता है, दुराग्रही पराशुराम को पराभूत करता है, बाली का मुकाबला करके उसे पराजित करता है और रावण के मद का मदन करता है। भवभूति ने राम के विरोध में खड़े होने वाले सत्र आलम्बना के सामाजिक नतिक दोष प्रस्तुत करके उन्हें जन-ममथम और धर्म समयन में दूय बना दिया है। इन आलम्बना से उदबुद्ध राम का उत्साह व्यक्तिगत घल प्रशसन नहीं, जन-ममथित मावजनिक पक्ष की रक्षा और ‘याय’ की स्थापना के लिए किया गया उद्योग है। यह ‘याय-स्थापना और जन समयन ही वीर-रस के स्थायी भाव को हमका अमनी महत्त्व और गरिमा प्रदान करते हैं।

भवभूति ने रामायण की कथा को अधिक मानवीय रूप देने का कौशल भी दिखाया है। उनका राम लोभरक्षा के लिए प्राणा का माह छोड़कर आगे बढ़ने वाला राम है। उसके तथा अय पात्रों के त्रियाकलाप मानवोचित आकांक्षाओं से ही प्रेरित हैं। रावण का राम के विरुद्ध पटयत्र, और सगठन का प्रयत्न वास्तविकीय रामायण का कहानी में नहीं दिखाया गया। भवभूति ने यहाँ रावण और उसके मंत्रियों द्वारा किए गए व्यापक पटयत्र की उद्भावना की है जो कथा को अधिक लोकव्यवहार सगत और नाट्योचित बना देती है। अपनी उद्भावना से उन्होंने यह स्पष्ट किया है कि राम और रावण के विरोध का मूल इस सत्य में था कि रावण ने सीता का पाणिग्रहण करने के लिए जनक के पास सत्तेज भेजा था परन्तु जनक ने उसे ठुकरा दिया। यह योजना न की जाती तो राम का वीरत्व बैसा न उभर पाता। राम को संवसक्तिमान का अवतार मानन पर दण्ड यह साबित करता है कि संवसक्तिमान के रावण का मार डालन में कौन सी वीरता है ?

चाणक्य राम के उत्साह का मुख्य प्रेरक भाव अयाय से रक्षा या ‘याय’ आचरण की स्थापना है। धनजयविजय में अजु न का गो रक्षा का उत्साह भी इसी कीटि में रखा जा सकता है। परन्तु ‘मुद्राराक्षस’ में चाणक्य का दश में ‘याय’ सगत राज्य की स्थापना के लिए प्रवृत्त उत्साह जन पक्ष की गरिमा से मंडित हात हुए भी याद भिन्न प्रकार का है। यह उत्साह युद्ध करने का उत्साह नहीं है—यह तो देश की व्यवस्था को स्थिरता देने का उत्साह है ताकि स्थिर राज्य व्यवस्था में ‘याय’, सत्य और मंगल की वृद्धि हो। राम को युद्धवीर या धर्मवीर कहा जाए तो चाणक्य को देशवीर कहना मंगल होगा।

इस प्रकार का अनासा प्रयत्न करने वाले पात्र की कल्पना महानवि विशालान्त की सूत्र-वृत्त और राजनीति कुशलता की चेतक है। यहाँ चाणक्य का किसी भी आदमी से व्यक्तिगत द्वेष नहीं है। अपन असली प्रतिद्वंद्वी अमात्य राक्षस के लिए उसमें मन में बड़ा आदर है। राक्षस के लिए उसके मन की भावना इन सत्ता से प्रकट होती है

चाणक्य—(देखकर) अरे ! यही अमात्य राक्षस हैं ? जिस महात्मा ने—

बहु दुःख सों मोचत सदा जागत रा विहाय ।

मरी मति अरु चन्द्र की संनहि रइ धकाय ॥

(परदे से बाहर निकलकर) अजी अजी अमात्य राक्षस ! मैं विष्णुगुप्त आपको दण्डवत करता हूँ । (पर छूता है)¹

इस प्रकार, संस्कृत नाटकों के हिन्दी अनुवादों का पठन पाठन न केवल सांस्कृतिक आदर्शों की दृष्टि से हमारे लिए महत्त्वपूर्ण है, कायचतना की दृष्टि से भी यह आज के पाठन को एक उपयोगी दिशा दिखाने वाला है । इन नाटकों में यह दिखाया गया है कि मानव जीवन के आधारभूत दो रसों—शृंगार और धीर—के आश्रय और आलम्बन मानव जीवन के जिन व्यक्तिगत और सामाजिक पक्षों के प्रतिनिधि हैं उनपर व्यक्ति के आत्म और समाज के मंगल का आधार है ।

यह भी कहा जा सकता है कि संस्कृत नाटक हिन्दी के नाटक-लेखकों के लिए प्रेरणा का स्रोत बन । आनन्द रघुनन्दन नहुष आदि नाटकों में संस्कृत-नाटक शैली की छाप स्पष्ट दिखाई देती है । परन्तु यह प्रभाव सीधे संस्कृत नाटकों से पड़ा, संस्कृत नाटकों के हिन्दी अनुवादों से नहीं ।

३ हिन्दी गद्य की विकास-परम्परा

हिन्दी गद्य में विकास की दृष्टि से संस्कृत नाटकों के हिन्दी अनुवादों का महत्त्व विशेषतः १८५० के बाद के काल में है यद्यपि महाराज जसवन्तसिंह का प्रबोधचन्द्रादय के अनुवाद में ब्रजभाषा गद्य का प्रयोग भी ऐतिहासिक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है । इस समय खड़ी बोली गद्य का चलन आरम्भ हुआ था । परन्तु हिन्दी में लिखने वाले लेखकों के पास हिन्दी की कोई गली नहीं थी । ऐसे समय राजा लक्ष्मणसिंह ने शाकुन्तल का हिन्दी गद्य में जो अनुवाद किया उसने हिन्दी गद्य शैली की नींव डाली ।

राजा माह्व के गद्य में सरल शब्दों का प्रयोग था । परंपरा से प्रचलित संस्कृत तत्सम शब्दों के साथ साथ तदभव शब्दों का प्रयोग भी बहुत था । आपके अनुवाद के प्रथम संस्करण से एक अनुच्छेद नीचे दिया जाता है

अनुसूया—(होले प्रियवदा से) सखी मैं भी इसी सोच विचार में हूँ । मरे मन में आती है कि इनमें कुछ पूछूँ । (प्रकट) तुम्हारे मधुर वचन सुनकर मुझे भासती है कि तुम कोई राजकुमार हो, सो कहो कौन से राजवंश के भूषण हो और कहाँ की प्रजा को विरह में व्याकुल छाड़ यहाँ पधारे हो क्या कारण है कि जिसमें तुमने अपने कोमल गाँठ को इस कठिन तपोवन में पीड़ित किया है ।

इस अनुच्छेद में व्यक्तिनामा, स्वनामा, कारक-वाचका, संयोजका और सहायक क्रियाओं को छोड़कर य २६ शब्द प्रयुक्त हुए हैं । होले, सखी, भी, सोच विचार मन, जाती कुछ, पूछूँ प्रकट, मधुर वचन सुन भासती, राजकुमार, सो कहो राजवंश, भूषण, प्रजा, विरह, व्याकुल छाड़, पधारे कारण कोमल, गाँठ, कठिन तपोवन, पीड़ित ।

इनमें से य १५ तत्सम शब्द हैं । सखी, मन, मधुर, वचन राजकुमार राजवंश, भूषण प्रजा, विरह व्याकुल, कारण, कोमल, कठिन, तपोवन, पीड़ित ।

१ अनु० भारतेंदु हरिश्चन्द्र, भारतेंदु नाटकावली, भाग १ पृष्ठ ५१४ ५५
(दृष्टांत की गिनती में पृष्ठ ३५५ पृष्ठ ३५७ बन गया है ।)

शेष १४ शब्द तद्भव हैं। विदेशी शब्द या उद्भूत शब्द इनमें एक भी नहीं है।

वाक्यरचना की दृष्टि से देखे तो ये वाक्य वर्णम

१ सखी, मैं भी इसी मोच विचार में हूँ।

२ मेरे मन में आती है कि इससे कुछ पूछूँ।

३ तुम्हारे मधुर वचन सुनकर मुझे भासती है कि तुम कोई राजकुमार हो।

४ मो कहां।

५ कौन से राजवंश के भूषण हो और वहां की प्रजा को विरह में व्याकुल छोड़ गया पधारे हो।

६ क्या कारण है जिससे तुमने अपने कोमल गान को इस कठिन तपावन में पीड़ित किया है।

इनमें से पहला वाक्य सरल वाक्य है। दूसरा और तीसरा संयुक्त वाक्य हैं। चौथे का स्वतंत्र वाक्य न मानकर पाचवें और छठे का प्रधान वाक्य मानना चाहिए और इस प्रकार यह एक ऐसा संयुक्त वाक्य होगा जिसमें दो सत्त्व तथा एक सत्त्वित अंग वाक्य एक अंगी या प्रधान क्रिया के अधीन हैं। प्रधान क्रिया है "कहो।" दासरल वाक्य में हैं

(1) कौन से राजवंश के भूषण हो ?

(2) वहां की प्रजा का विरह में व्याकुल छोड़ गया पधारे हो ?

सत्त्वित अंग वाक्य है

क्या कारण है जिसमें तुमने अपने कोमल गान को इस कठिन तपावन में पीड़ित किया है ?

इस प्रकार, उस समय की रचना में शास्त्रसमूह की दृष्टि से तत्त्वम और तद्भव प्रयोगों की योग्य वरावरी और विदेशी शब्दों का अभाव दिखाई देता है। वाक्य रचना की दृष्टि से सरल वाक्यों की बहुतायत है। मुहावरों की दृष्टि से, इसमें आगे का पुट बहुत दिखाई देता है, जम, मेरे मन में आती है, 'मुझे भासती है, 'तो कहो।

यह अनुवाद १८६१ ईस्वी में किया गया था और १८६३ ईस्वी में प्रकाशित हुआ था। इसके प्रकाशन के बाद के २६ वर्षों में भाषा में कितनी प्रगति आ गई थी यह इसी अनुवाद के १८८२ ई० में प्रकाशित यह पद्यमय संस्करण के इस अनुच्छेद से तुलना करने से स्पष्ट हो जाएगा। १८८८ ई० के संस्करण में यह अनुच्छेद इस रूप में है

"धनसूया—(हीले प्रियवदा से) सखी ! मैं भी इसी मोच विचार में हूँ। जब इससे पूछूंगी। (प्रगट) मन्त्रमा ! तुम्हारे मधुर वचना के विश्वास में आकर मेरा जी यह प्रष्टन को चाहता है कि तुम किस राजवंश के भूषण हो और किस देश की प्रजा का विरह में व्याकुल छोड़ गया पधारे हो। क्या कारण है जिसमें तुमने अपने कोमल गान को कठिन तपावन में आकर पीड़ित किया है।'

इस अनुच्छेद का देखने से स्पष्ट हो जाता है कि आगे का पुट बहुत कम हो गया है, तथा वाक्य अधिक गठे हुए हो गए हैं पर शास्त्रसमूह की दृष्टि से कोई अंतर नहीं हुआ। भाषा की इस पुष्टता और परिभाषा का बड़ा धर्म भारत दु हरिश्चंद्र की मौलिक तथा अनूचित रचनाओं को है जो सब १८८५ में पहले लिखी जा चुकी थी।

धार्मिक और सामाजिक क्षेत्र में ऋषि दयानन्द और पं० अद्वैतराम फुल्तारी ने हिन्दी भाषा का सम्पूर्ण तत्सम शब्द समूह के निकट रखने में बड़ा योग दिया। परन्तु साहित्य के क्षेत्र में, १८५० से १९०० तक संस्कृत नाटकों के जो अनुवाद हुए उनका मुख्यतः हिन्दी गद्य की साहित्यिक क्षमता बढ़ाने में बड़ा महत्वपूर्ण योगदान रहा।

भारतेन्दु की भाषा कितनी प्रौढ़ थी, इसका अनुमान रत्नावली के प्रथम नाट्य दृश्य के इस अनुवाद से हो जाएगा

‘पावती निवर्त्ती के पूजन के समय उनके मस्तक पर पुष्पाञ्जलि चढ़ाने के लिए कई द्वार चरणों के अगूठा के बल (से) ऊँची हुई और स्तना के भार से फिर नीची हो गई। परन्तु जब शिवजी इनकी आरंभिता नेत्रों से बड़ी अभिलाषा से देखने लगे तो इनको बड़ी लज्जा हुई और रोम खड़े हो गए और अंग में पसीना और कप हाने लगा और हाथ न सम्भल सका ता इसान उस पुष्पाञ्जलि को बीच में ही छोड़ दिया। ऐसी पुष्पाञ्जलि तुम्हारी रक्षा करे।’^१

इस अनुच्छेद में शब्द-समूह बोलचाल का है। वाक्यविन्यास में दूसरा वाक्य लम्बा और कुछ बढ़ावा हुआ गया है। इसमें पहले ‘जब’ का प्रयोग करके बाद में दो बार तो रखा गया है। मुहावरे की दृष्टि से पहले वाक्य में अगूठा के बल होना चाहिए। ‘स’ जिस हमन काष्ठ में कर दिया है, अनावश्यक है। फिर भी १८६८ में की गई उनकी यह वाक्य रचना लक्ष्मणसिंह के १८६१ वाले अनुवाद से अधिक पुष्ट है।

१९०० के आसपास के हिन्दी गद्य का स्वरूप लाला सीताराम के अनुवादों में मिलता है। ‘मालतीमाधव भाषा (प्रकाशन वर्ष १८६८) से एक उद्धरण देखिए

‘अर जा नाई मठ के रहने वाली। भागो भागा, वह दखो जवानी के चढ़ाव में गीच-गीचकर साकरें ताड़ सिद्ध सोह के पिजरे से निकल गया है, और भण्डे की नाई पूछ उठा कि फत्कारता हुआ मठ से चला आता है। कितन जीव मार डाले और कटारी ऐसे दाता से हड़िदया ताड़ एक ही धप्पड़ से मानुष बल, घाड़े मार के गिरा रहा है। कट कटाकर चलाता हुआ मुह बाएँ, इधर उधर दौड़ रहा है। उनके मांस गल में भर के गज रहा है, उसकी छपट से सब लोग डर डर भाग रहे हैं। उसका वज्र ऐसा महा कि लगने से इतना लोह बहा है कि सड़क पर कीचड़ हो गया है। हाय, हाय दौडा, दौडा प्यारी मदयति का बार्द का बचाओ, बचाओ।’^२

उनकी भाषा में वाक्या का विन्यास व्यवस्थित है, परन्तु समूह में तत्सम शब्दों का प्रयोग बहुत ही कम है। तदभव शब्दों का प्रयोग बहुत अधिक होना का एक कारण यह हो सकता है कि यह कथन डर से घबराए हुए व्यक्ति का है। वस्तुतः उनकी भाषाशैली का भुजाव तदभव शब्दसमूह की ओर है। पर स्पष्टता और प्रभावोत्पादकता की दृष्टि से यह कथन पूर्ण पुष्ट है।

१९०० के बाद द्विवेदीकाल में हिन्दी भाषा यानी में संस्कृत तत्सम शब्दों का अनुपात बढ़ गया और उच्च भाषा बड़ी बलवती लगने लगी। उपर्युक्त अनुच्छेद का

सत्यनारायण कविरत्न ने १६१८ में प्रकाशित अपने अनुवाद में इस रूप में रखा

“(अरे भाई निवालय के रहन वाली, भागो, भागो, वह दखो जवानी के जार क मार झुड़ हा, छीच छाच के छडा को ताड मह भयानक सिंह लोहे के कटहर स यकायक निहन गया है, और ध्वजा की भाति पूछ उठाकर ऐंठना हुआ मठ में चला जाना है। कितना ही कः तो मार डाला। कपारी के समान दाता से हडिडया कटकटाकर खवाता हुआ, कदरा सा मुँह बाए हथ उधर दौड़ रहा है। एक ही थाप में मनुष्य बल और घोडा की मारकर उनका खिर मास गले में भर क गम्भीर घोर घघर गजन ध्वनि स आनास का प्रतिध्वनित कर रहा है। बहुत में मारे गए बहुता का चूग हो गया, बहुता का पना ही नहीं, न जाने क्या हुआ बहुत से डर डरकर भाग रहे हैं। उमर तीक्ष्ण नखा के गरीरो पर लगने से रक्तना रक्त बहा है कि सब सड़क कीचड़ से भर गई। देखो यह दुष्ट शादूल कराल काल की सीता की कसा चरिताय कर रहा हूँ—अरस भागो भागो! और अपने प्राण बचाओ।)”

दोना अनुच्छेदों की तुलना करने में स्पष्ट हो जाता है कि सत्यनारायण की रचना में निवालय झुड़ भयानक सिंह, ध्वजा, कदरा, खिर, मास, गम्भीर घोर, घघर, गजन, ध्वनि, आनास, प्रतिध्वनित, तीक्ष्ण नख, गरीर, रक्त, दुष्ट, शादूल कराल, काल, लोहा चरिताय, प्राण—य २६ तत्सम शब्द प्रयुक्त हुए हैं जिनमें से केवल एक ‘सिंह’ शब्द सीताराम के अनुवाद में आया था। इन तत्सम शब्दों के प्रयोग से यह कथन निःसंदेह पहल वाले कथन से अधिक पुष्ट हो गया है और वस्तुस्थिति की भयकरता का उममें वहाँ अच्छा बोध कराया है।

पिछन चालीस पचास वर्षों में ससृष्ट नाटका के जा अनुवाद हुए उनमें तत्सम प्रयोगों की प्रवृत्ति बढ़ती गई है। हमारे विचार में इस प्रवृत्ति की अतिशयता नाटकीय गद्य का मधोपयोगिता की दृष्टि से हितकर नहीं है। फिर भी तत्सम शब्दों के प्रयोग से हिन्दी गद्य बलवान हुआ है और बलवान शास्त्री, वागीश्वर विद्यालङ्कार विराज, शरण राधम, भगवन्दास उपाध्याय इन्डुगेर और मोहन रावण की गद्य रचनाएँ हिन्दी के सशक्त प्रयोग का आदर्श बनी जा सकती हैं। काल-व्यवधान के कारण जो अथभावना आज की रचना में नहीं आ सकती उसे छाड़ दिया जाए तो जय-एसी कोई वस्तु या भाव नहीं है जिससे अभिधान या अभियजन में इन्हें कोई कठिनाई अनुभव हुई हो।

सन्धि में वनमान हिन्दी गद्य गली के विकास की नींव राजा लक्ष्मणसिंह ने डाली, भारतन्दु ने उसे ढाँ और व्यवस्थित रूप दिया सीताराम ने गद्यसमूह बातचान का रसते हुए उस मजबूत नींव पर स्तम्भ बनाए और उन स्तम्भों पर हिन्दी गद्यसीली का वनमान भवन अमर टिका हुआ है। जहाँ तक साहित्यगत विचारों अर्थों और भावों का प्रश्न है हिन्दी यह व्यक्त करने में पूर्णतः समर्थ बन गई है। पिछन सौ वर्षों में जो अक्षित साहित्य की हिन्दी गली में आई है उसमें उसे लाने में ससृष्ट नाटका के हिन्दी अनुवादों का बड़ा महत्वपूर्ण योग रहा है।

४ हिन्दी की नाट्य परम्परा

हिन्दी की नाट्य परम्परा का आरम्भ लोक प्रचलित 'रास' उपरूपता में माना गया है। इनके बाद मायबाल में जो रचनाएँ हिन्दी में नाटक नाम से प्रसिद्ध हुईं उनमें से कई संस्कृत नाटकों से किसी न किसी रूप में सम्बन्धित थीं। प्रबोधचन्द्रादयः, 'हनुमन्नाटक' तथा नेवाज के 'कुतुबला नाटक' का ता संस्कृत नाटकों से सम्बन्ध स्पष्ट है। महाराज विश्वनाथसिंह के 'आनन्दरघुनन्दन' में संस्कृत नाटक शैली का अनुकरण है। भारतेन्दु के पिता गोपालचन्द्र जी द्वारा लिखे गए 'नहुष' नाटक में भी यही शैली मिलती है।

आधुनिक काल (१८५० ई०) के आरम्भ होने पर मौलिक नाटकों के माध्यम से संस्कृत से अनूदित नाटकों की एक लम्बी अविविच्छिन्न परम्परा दिखाई देती है। राजा लक्ष्मणसिंह और भारतेन्दु ने जो अनुवाद किए थे वे हिन्दी नाट्य परम्परा के अंग माने गए। राजा साहन के अनुवाद के बारे में स्वयं भारतेन्दु ने अपने नाटक 'गीपक' निबन्ध में लिखा

“हिन्दी भाषा में दूसरा प्रथम वास्तविक नाटककार राजा लक्ष्मणसिंह का 'कुतुबला' नाटक है। भाषा के माध्यम आदि गुणों से यह नाटक उत्तम प्रथा की गिनती में है।”

भारतेन्दु ने मौलिक नाटकों की रचना भी की। इनमें उन्होंने संस्कृत नाटक शैली का आश्रित अनुकरण किया। भरत के नाट्यशास्त्र में भारतेन्दु की आस्था थी पर वे यह भी अनुभव करते थे कि आज भरत नाट्यशास्त्र के सब नियमों का पालन उपयोगी नहीं है। सक्ता। इसलिए उन्होंने अपने नाटकों में तत्कालीन पारसी रंगमंच के चलन और अपनी सूत्र-वृत्त का प्रयोग भी किया। इनके 'सत्यहरिश्चन्द्र' नाटक में भरत नाट्य शास्त्र के नियमों के साथ-साथ पारसी रंगमंच का प्रभाव और उनकी अपनी सूत्र वृत्त भी स्पष्ट दिखाई देते हैं।

भारतेन्दु के बाद भी संस्कृत नाटकों के हिन्दी अनुवाद लगातार होते रहे पर १९१२ में बदरीनाथ भट्ट ने 'कुशवन्दहन' की रचना पारसी रंगमंच के अनुसार मुद्रण 'वर्णोत्तार' की माधुरी से की। यह नाटक हिन्दी नाट्यकला की दृष्टि से एक महत्वपूर्ण कदम था और भारतेन्दु के सत्यहरिश्चन्द्र के माथ पर था।

आगे चलकर हिन्दी के मौलिक नाटकों की रचना संस्कृत शैली से हटकर पाश्चात्य शैली की ओर मुड़ गई। संस्कृत नाट्यकला की अनेक उपयोगी बातें और विधान कौशल अब उपेक्षा का वस्तु बन गए। रस का स्थान कथानक वचन्य को मिल गया। नान्दी और प्रस्तावना भाँट गई।

हमारे निष्कार में नाट्य, प्रस्तावना रस और इतिवत्तविधान के कौशल की प्राचीन परम्परा का अपना हिस्सा नाट्यकला के लिए बड़ी हानिकारक सिद्ध हुई है।

आज का नाटक लेखक रस और इतिवत्तविधान के परम्परागत कौशल को समझ

सूभकर द्वाहता और इसके स्थान पर किसी अधिक प्रभावशाली कौशल का आविष्कार कर नेता तो यह पश्चिम अभिनयनीय होता। वस्तुतः हुआ यह है कि रस का सवधा परित्याग हो जाने से आधुनिक नाटक बोद्धि रोमन्धन मात्र रह गया है। इतिवत्-विधान की कोई बंधी व्यवस्था न होने से वह अपनी सज्जुद्धि पर चलने का यत्न करता है जो एकांगी होती है। परिणाम यह है कि हिन्दी में अच्छा रसमय नहीं बन पाता। जो नाटक खेला भी जाता है वह अधिक सफल नहीं हो पाता।

हिन्दी नाट्यकला के विकास के लिए हमारे नेत्रको को मस्कुन नाट्यकला के सब महत्त्वपूर्ण तत्व ग्रहण करने में सहाय न करना चाहिए। जो साग यह समझत हैं कि नाट्य और प्रस्तावना आज अनावश्यक है उन्हीं भी नाटक प्रस्तुत करते हुए कुछ भूमिका वाचन में सुविधा हो जाना है। फिल्मों में प्रस्तुत नाटका का प्रस्तुत करने हुए भी बहुधा पहले कोई गीत या वादन प्रस्तुत किया जाता है, और उसके बाद अभिनेता, कपालक सगीतकार आदि के नाम बताए जाते हैं। पहले नाट्य और प्रस्तावना द्वारा ऐसे ही प्रयोगों का मिश्रण की जाती थी। फिल्मों के अन्त में राष्ट्रीय गान गाने की प्रथा कुछ-कुछ वसी ही है जसी प्राचीन नाटकों के भरतशायक में तत्काल राजा की प्रशंसा करने की प्रथा थी। वस्तुतः सस्कृत नाटकों की अनेक दृष्टियाँ नाटक खेलन और देखन वाला की कुछ उपयोगी आवयवयनाओं की पूर्ति करने के लिए ही पड़ी थी।

जहाँ तक रस का सम्बन्ध है जब तक लेखक रस की उपमा करते रहें तब तक उनकी रचनाएँ देशों के मन में अपना स्थान न बना सकेंगी चाहे कोई कविता हो, चाहे नाटक। रचना में रस तब आया, जब लेखक के जीवन में रस होगा। जीवन में रस तब आता है जब मन में भावुकता हो, प्रेम करने की और सामाजिक हित के लिए स्वायत्त्याग की क्षमता और पराजय हो। सच्चा कवि वही बन सकता जिसके जीवन में प्रेम अहंकार का छाया न हो।

सस्कृत नाटकों के हिन्दी अनुवादों की परम्परा इस दृष्टि से बड़ी महत्त्वपूर्ण है। आज का कवि और लेखक उनसे प्रेरणा भले ही न ल, पर भविष्य का लेखक उनमें उसी प्रकार प्रेरणा लेगा जैसे भारत-पु ने ली था। समात्मक नाट्य साहित्य का यह भंडार नाटक लेखकों के लिए सदा अनुकरणीय और प्रेरक बना रहेगा।

मूल्यांकन

१५४४ में महत्कवि ने 'प्रबोधचन्द्रोदय' का सक्षिप्त रूप प्रस्तुत किया था। उनका बाद १८५० तक 'प्रबोधचन्द्रोदय' नौ अन्य कवियों द्वारा हिन्दी बनना के समक्ष प्रस्तुत हुआ। इस नाटक का धार्मिक महत्त्व ही इसके इतने अनुवादों का कारण बना। जिस विष्णु भक्ति का कीर्तन तुलसीदास और मुरदास ने किया था वही इस नाटक में अनुवादकताओं का प्रतिपाद भी और इसके प्रतिपादन के लिए उन्हीं अनुवादों का माध्यम अपनाया। इस प्रकार आधुनिक भाव आरम्भ होने से पहले अनुवादों का वास्तविक महत्त्व धार्मिक और सांस्कृतिक रहा। विशेषतः ऐतिहासिक में ये रचनाएँ मानव की धार्मिक कृति के परितोष का

आधुनिक काल जागृम्य हा जाने पर संस्कृत नाटको के हिंदी अनुवाद साहित्य काला के लिए बड़ा आकर्षण बन। इनके द्वारा राजा लक्ष्मणसिंह जीर लाला सीताराम जैसे प्रतिभाशाली लेखकों, जो विशेष मौलिक रचनाएं न कर सके, अपनी कलम का कीर्णाल दिखाने का अवसर मिला। उच्च कोटि के अनुवादों द्वारा भारतेन्दु ने हिंदी रंग मंच की कभी पूरी कर्म कायल किया। प्राचीन भारत के सांस्कृतिक आदर्शों के निरूपण द्वारा अंग्रेजी आधिपत्य के उम्र युग में भारतीय जनता को अनुवादों में आत्म गौरव अनुभव करने का अवसर दिया। भारतीय इतिहास और परम्परा के महान पुरुषों का चरित्र इन अनुवादों द्वारा हम विस्मय हिन्दी प्रेक्षकों के निवासियों के सामने आया। रामायण और महाभारत के आधार पर लिखी गई मौलिक रचनाओं से जिस प्रकार राम चरित्र और पांडवकथा के गौरवपूर्ण तथा लोकनीति के पक्ष हमारे सामने आए उसी प्रकार इन अनुवादों में भी आए।

प्राचीन कवियों की काव्यचेतना में प्रेम और उस्माह का जो आदर्श और उदात्त रूप मौजूद है उससे हिन्दी कवियों के जाने भी एक आदर्श उपस्थित हुआ। यह आदर्श मानव के स्वस्थ विकास और समाज रक्षा की आवश्यकता के लिए बड़ा मूल्यवान है। हिन्दी नाट्यचेतना को भी इन अनुवादों में बड़ा बल मिला। हिन्दी नाटककारों के सामने पहले नाटक का जो स्वरूप आया वह संस्कृत नाटका का ही था। भारतेन्दु ने संस्कृत नाटकों के अनुसार ही प्रस्तायना आदि की योजना करके मौलिक नाटक भी लिखे। यद्यपि बाद के नाटककारों ने यह योजना छोड़ दी पर इनके अनेक शिल्पविधान हिन्दी नाटकों के लिए अब भी उपयोगी हो सकते हैं।

हिन्दी गद्य के विकास में तो इन अनुवादों का योगदान ऐतिहासिक महत्व का रहा है। केवल इन दृष्टि से ही देखें तो भी ये अनुवाद हमारे हिन्दी साहित्य का महत्वपूर्ण अंग हैं।

माराग रूप में यह कहा जा सकता है कि संस्कृत नाटकों के हिन्दी अनुवादों की परम्परा समय बीतने के साथ साथ हमारे और हमारी जगली पीढ़ियों के लिए अधिकाधिक महत्व की होती जाएगी। इनसे हिन्दी पाठक समाज का अपने प्राचीन सांस्कृतिक आदर्शों की प्रेरणा मिलेगी सच्चा काव्यचेतना का दग्गन होगा, नाटकीय कौशल के अनेक विधान प्रयोग के लिए प्रस्तुत होंगे, और हिन्दी गद्य के विकास का इतिहास स्पष्ट होगा। इस कारण इनका पठन पाठन और प्रचार प्रसार जितना अधिक बढ़े, उतना हितकर है।

हमारा योगदान

१ अनुवाद के अर्थ और स्वरूप का निरूपण करने का हिन्दी में यह पहला प्रयास है।

२ इस गांधी प्रबंध में अर्थ की एक नई सतत और परम्परानुसृत व्याख्या प्रस्तुत की गई है—वाह्य घटनाओं या उनके वाचक वाक्यों में मानव की जान, इच्छा और संकल्प (या प्रयत्न) रूप वस्तुओं पर जो अनुश्रुति होती है, उस प्रमाण वस्तु भाव और उस रूप अर्थ कहते हैं।

३ कार्यावस्थाओं और अथप्रवृत्तियों का वास्तविक स्वरूप क्या है, इस प्रश्न के लिये उत्तर सुझाए गए हैं। कार्यावस्थाएँ नायक की मानसिक अवस्थाएँ नहीं होती, वे वास्तविकता की प्रकृति से नायक की फलप्राप्ति की दिशा में आने वाली अवस्थाएँ हैं जिन्हें दराक या पाठक अनुभव करता है। अथप्रवृत्ति प्रासंगिक वस्तु का विनाश है, कि इतिवृत्त का 'ओपादानिक' विभाजन।

४ किसी रचना को किसी अन्य रचना का रूपान्तर कौन-सी विशेषताएँ होने पर कहा जा सकता है इस प्रश्न का उत्तर इस प्रबंध में दिया गया है। 'सत्यहरिश्चन्द्र' जैसी रचनाओं के लिए एक नया नाम 'पराश्रयी' सुझाया गया है, क्योंकि ये वस्तुतः रूपान्तर नहीं बल्कि जा सकती हैं।

५ अनुवाद-समीक्षा की पद्धति और अनुवाद के दोषों का निरूपण तथा नामकरण पहली बार इस प्रबंध में ही हुआ है।

६ संस्कृत नाटकों के आज तक अनूदित १०० से अधिक अनुवादों का संग्रह एक जगह करके उनकी सामान्य प्रवृत्तियाँ और उनकी नैतिक विकास पहली बार इस प्रबंध में ही दिखाया गया है।

७ इस प्रबंध में सिद्ध किया गया है कि 'हृदयराम का हनुमन्नाटक' नाम से सिद्ध रचना का वास्तविक नाम 'रामगीत' है।

८ मुख्य अनुवादों का मूल में मिलान करके उनकी ठोस आधार पर विस्तृत राय पहली बार इस प्रबंध में ही की गई है।

९ संस्कृत 'मुद्राराक्षस' के एक अशुद्ध और असंगत पाठ की ओर ध्यान खींचकर इसका शुद्ध और सगुण रूप पहली बार इस प्रबंध में ही सुझाया गया है। 'गिरिजा मोक्षमुद्रामपि पुनरप्युपावर्ति' प्रचलित पाठ है जो सारे नाटकों के वस्तु में असंगत है। शुद्ध पाठ होना चाहिए 'गिरिजा मोक्षमुद्रामपि पुनरप्युपावर्ति'।

१० अनुवादों का सांस्कृतिक और काव्यात्मक दृष्टि से मूल्यांकन करने की दिशा पहले इस 'गोप' प्रबंध में ही दिखाई गई है। हमारे लिए सांस्कृतिक दृष्टि और काव्य-वेत्तना की दृष्टि से भी ये अनुवाद बड़ा महत्त्व रखते हैं।

♦ ♦ ♦

परिशिष्ट

प्रबन्ध मे उद्धृत रचनाए और ग्रन्थ

हिन्दी

गकुन्तला—(कालिदास), अनु० वागीश्वर विद्यालकार राजपाल एण्ड सन्स
दिल्ली, १९६१।

उत्तररामचरित—(भवभूति), अनु० इन्द्र एम० ए०, राजपाल एण्ड सन्स
दिल्ली, १९५७।

मृच्छकटिक भाषा—(शूद्रक) अनु० लाला सीताराम खी० ए० नेशनल प्रेस
प्रयाग, १९२७। (पाचवा सस्करण)

घाणक्यप्रतिज्ञा—कलाशनाथ भटनागर भारतीय गौरव ग्रथमाला, लखनऊ
संवत् २००५।

गकुन्तला नाटक—(कालिदास), अनु० राजा लक्ष्मणसिंह, साहित्यरत्न भंडार
आगरा, संवत् २०११। (सप्तम सस्करण)

मालतीमाधव भाषा—(भवभूति) अनु० लाला सीताराम, नेशनल प्रेस,
प्रयाग, १९२६। (तीसरा सस्करण)

वेणीसंहार—(भट्टनारायण), अनु० हरदयालुसिंह इडिशन प्रेस निमिटेड
प्रयाग, १९३६।

प्रतिज्ञा नाटक—(भास), अनु० बलदेव शास्त्री यायतीथ मेहरचंद्र लक्ष्मण
दास (लाहौर) संवत् १९६१।

मृगारामस—(विशालदत्त), अनु० बलदेव शास्त्री, यायतीथ एस० चन्द एण्ड
कम्पनी, दिल्ली लाहौर, १९६६।

त्रिवेणी—(भास—मध्यमध्यायोग, दूतवाक्य ऊर्ध्वभाग) अनु० बलदेव शास्त्री,
भारतीय साहित्य मंदिर, चान्ना चौक, दिल्ली।

भास के तीन नाटक—(भास—कणभार दूतवाक्य मध्यम-प्रायोग), अनु०
हरदयालुसिंह। हिन्दी साहित्य सम्मेलन प्रयाग, संवत् २००३ वि०।

स्वप्नवासवदत्ता—(भास), अनु० हरदयालुसिंह हिन्दी साहित्य सम्मेलन
प्रयाग, २००३ वि०।

स्वप्नवासवदत्ता—(भास), अनु० सत्यजीवन वर्मा, एम० ए०, इंडियन प्रेस, प्रयाग, १९३० ।

प्रबोधचंद्रोदय—(कृष्ण मिश्र) अनु० महेंद्रचंद्र प्रसाद, प्रकाशक—महेशचंद्र प्रसाद, पटना १९३५ ।

मच्छकटिक अथवा मिट्टी की गाड़ी—(शूद्रक) अनु० रामेय राघव, राजपाल एण्ड सन्स दिल्ली, १९५७ ।

स्वप्नवासवदत्ता—(भास), अनु० भगवतशरण उपाध्याय, राजपाल एण्ड सन्स, दिल्ली १९५८ । (द्वितीय संस्करण)

कविश्री भास—(भास—मध्यमव्यायोग, दूतघटोत्तच), अनु० सियारामशरण गुप्त मयिलीशरण गुप्त, साहित्य सन्म धिरगाव भासी, २०१२ वि० ।

मालविकाग्निमित्र नाटक—(कालिदास), अनु० गोविंद शास्त्री दुग्गवेकर, दी इटरनशनल पब्लिशिंग कम्पनी बनारस १९८४ ।

नागानन्द—(हय) अनु० गंगाधर इंद्रकर हिन्दी साहित्य सम्मेलन प्रयाग, २००० वि० ।

प्रियदर्शिका—(हय) अनु० गंगाधर इंद्रकर हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग, २००३ वि० ।

रत्नावली—(हय) अनु० गंगाधर इंद्रकर, हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग, २००३ वि० ।

अभिज्ञानाकुतल—(कालिदास), अनु० इंदुशेखर आत्माराम एण्ड सन्स, दिल्ली, १९५८ ।

मालविकाग्निमित्र भाषा—(कालिदास), अनु० सारा सीताराम, रामनारायण साह्य एण्ड सन्स इलाहाबाद १८९८ ।

कुंदमाला—(दिंड नाग), सत्येन्द्र शर्मा नीलाम प्रकाशन गृह इलाहाबाद, १९५० ।

हिन्दी शकुंतला नाटक—(कालिदास) अनु० बलदेव शास्त्री मेहरचंद्र लक्ष्मणराव, दिल्ली २००६ वि० । (तृतीयावधि)

कुंदमाला—(दिंड नाग) अनु० बागेश्वर विशालकार, विश्वसाहित्य ग्रंथ भासा लाहौर १९३७ । (द्वितीय संस्करण)

अभिज्ञानाकुतल—(कालिदास), अनु० विराज राजपाल एण्ड सन्स दिल्ली, १९६२ । (चतुर्थ संस्करण)

मालतीमाधव नाटक—(भवभूति) अनु० मयनारायण कविरत्न, रत्नाश्रम, आगरा १९८७ वि० । (चतुर्थ बार)

वेणीतहार—(भट्टनारायण) अनु० बलदेव शास्त्री रेनको बुक कम्पनी, दिल्ली सभवन १९३२ ।

उत्तररामचरित नाटक—(भवभूति), अनु० मयनारायण कविरत्न, रत्नाश्रम, आगरा, १९८८ वि० (चतुर्थ बार)

मुद्राराक्षस—(विभाजित), अनु० रागय राघव, राजपाल एण्ड सन्ज लिमिटी,
१९६०। (द्वितीय संस्करण)

महाकवि भास के तीन नाटक—(भास), अनु० सीताराम सहगल, महाल
पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली १९४६।

भारतेन्दु नाटकावली (प्रथम भाग)—धनञ्जय विजय (राजनमित्र) मुग्धा
राक्षस (विभाजित), सत्यहरिदचन्द्र (भारतन्दु हरिदचन्द्र), एटन दा व जनु
बाय—भारतन्दु हरिदचन्द्र, संपादक—बजरत्नदास रामनाथनाथ नाथ,
इलाहाबाद, २००८ वि०। (द्वितीय संस्करण)

भारतेन्दु नाटकावली (द्वितीय भाग)—रत्नामरी (दृष्ट) पाण्डुविश्वनाथ
(कृष्णमित्र), कपूरमजरी (राजनेयर) अनु० भारतन्दु हरिदचन्द्र सम्पादक
बजरत्नदास, रामनारायणलाल इलाहाबाद २०१३ (द्वितीय संस्करण)

सत्यहरिदचन्द्र—भारतन्दु हरिदचन्द्र संपादक—गिरधरदास मिश्र 'दृष्ट' काणि
मेय', नागरी प्रचारिणी सभा वाराणसी २०१८ वि०।

हिंदी साहित्य का इतिहास—(संक्षिप्त नाम—इतिहास) सत्य रामचन्द्रगुप्त
नागरी प्रचारिणी मना वाराणसी पाचवा संस्करण २००८ वि०।

हिंदी नाटक उद्भव और विकास—डा० दशरथ जामा द्वितीय संस्करण,
राजपाल एण्ड सन्ज लिमिटी।

काव्य और कला तथा अन्य विषय—जयगुरु प्रसाद अनु० संस्करण भारती
मठार, प्रयाग २०१० वि०।

हिंदी नाटक साहित्य—बजरत्ननाथ हिन्दी साहित्य कुन्नीर वाराणसी मठ
२०१७।

प्रबोधबोधक और उत्तरी हिंदी परम्परा—डा० (श्यामली) माता जयवात,
हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग, १८८२ गव।

प्रबोधबोधक नाटक—(प्रथम व द्वितीय भाग), मुकुन्द दुब, नवल किशोर
प्रेस, १८९४।

समयसार-नाटक, बनारसीनाथ, रत्नामरी—ब्रह्मचारी नन्दवान गिरधर जल
प्रथमाला मिड वाराणसी, प्रथम संस्करण २००७।

संस्कृत

अभिनानाकुतलम—काव्यनाथ मास्टर मेवाडीनाथ एण्ड सन्ज बनारस।

उत्तररामचरितम्—भवभूति निषयमागर, १८६८।

कपूरमजरी—राजनेयर निषयमागर १८४८।

कुटुम्बाला—लि नाग भारताय मसूत नवन जायधर, १८६८।

धनञ्जयविजय—राजन मिश्रनागर, १८२६।

नागानन्दम्—दृष्ट, चौमन्दा मसूत भागात्र वाराणसी, १९४८।

बोधबोधकम्—दृष्ट मिश्र, चौमन्दा विद्याभवन वाराणसी, १९४४।

- भतहरिनिबंदम—हरिहरोपाध्याय, निणयसागर, १९३६ ।
 भासनाटकचक्रम—भास, मम्पादक—सी० आ० देवधर, ओरिएंटल बुक एजेंसी, पूना, १९६२ ।
 मालतीमाधवम—भवभूति निणयसागर, १९३६ ।
 मुद्राराक्षसनाटकम—विशाखदत्त चौखम्बा संस्कृत सीरीज, वाराणसी, १९५६ ।
 रत्नावलीनाटिका—हृष निणयसागर, १९३८ ।
 बेणीसहारम—भट्टनारायण निणयसागर, १९४० ।
 महावीरचरितम—भवभूति, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, १९५५ ।
 मच्छकटिकम—गूढ़क, निणयसागर १९५० ।
 नाट्यशास्त्रम—भरत गायकवाड आरिएंटल सीरीज बडौदा, जिल्द १, १९४६ ।
 नाट्यदर्पणम—रामचंद्र और गुणचंद्र गायकवाड ओरिएंटल सीरीज, बडौदा, १९५९ ।
 वनस्पतिम—धनंजय चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, १९५५ ।
 धर्मालोक—जानकधन मोतम बुक डिपो, दिल्ली, १९५२ ।
 (हिंदी)
 काव्यप्रकाश—मम्मट चौखम्बा विद्याभवन, बनारस—१, १९५५ ।
 (संस्कृत)
 हनुमन्नाटक—प्रकाशक—गंगाविष्णु थाकृष्णदास, लक्ष्मीवेंकटेश्वर स्टीम प्रेस, कल्याण, बम्बई, १९५८ ।
 साहित्यदर्पण—विश्वनाथ कविराज मोतीलाल बनारसीदास दिल्ली, १९५६ ।

अंग्रेजी

- The Sanskrit Drama A B Keith Oxford University Press, 1959
 The Indian Stage Vol II III Hemendra Nath Das Gupta
 Published by I K Das Gupta II A
 S P Mukherjee Road Calcutta-26
 Psychology : Robert S Woodworth and Donald G Mardus
 Methew & Co London, 1958
 On Translation ed Reuber A Brower
 Harvard University Press, 1959
 Aspects of Translation Published by Secker and Warburg,
 London 1958
 Bhoja s Srangar Prakash V Raghuvan Published by Punarvasu
 7, Shri Krishnapuram Street, Madras 1963

अनुक्रमणिका

- अकालजल १७०
 अच्छ अनुवाक की वसोटी ७६
 'अयववे' १५, ३१
 प्रधिकायता ८६ ८६
 नाथनास ८७ ११२
 —अनुवाक आधुनिक काल के १४४
 —और अनुवाक—कालक्रम ८७
 —की सामाय प्रवृत्तिया ८७
 —और पाश्चात्य समीक्षण ८५
 —का अर्थ ८, २२
 —का उद्देश्य १०३ ४
 —का प्रतिरूप १६
 —का याग्यन और मूल्यांकन २६३
 —की प्रक्रिया ६, १८
 —की गलिया समीक्षा और
 गुण-गोप ७६
 —की समीक्षा ७६
 —की सामाय प्रवृत्तिया १०३
 —के आलाचक्र ८४
 —क गुण ६१
 —क दोष ८६
 अनूति नाटक (तीन काला म) १०१
 —और रगमच २५०
 अपरोक्षसिद्धान्त १२१
 अभिमानाकुन्तल ५६ ६३ ८० २
 ('गाकुन्तल भी) ८७ ६ ६६, ६८
 १०४, १०७ ८, ११०, ११३ १३०,
 १०४, १६४, २००, २१८ २२०,
 २०३, २३४ ५ २५० २५४ २६१ २
 २६४ ६ २६८, २७१, २७४
 —क पाच अनुवाक का तुलनात्मक
 अध्ययन २३४
 'अभिधावृत्तिमानुका १२
 अभिधाव्यापार १२
 अभिनवगुप्त ३० ५५ ७, ७५१
 अभिनवभारती ३० ५६ ७, ५६, ६३-
 ४ ६७
 'अभिपेक' १०० १०२ १०४ २००
 जमानत २०७
 अम्बिकान्त व्यास ६८
 अयाध्याप्रसाद चौधरी ६८, १०६
 अरुण डिक २६२
 अर्थ का स्वरूप ११
 जयालकार ४६
 जलकार १२
 जलकारा क भेद ४६
 जवधनारायण ६६
 'अवलोक टीका ५६, ५८
 जशान, मझाट १५
 अष्टाव्यायी ६
 अस्पष्टावधारण ६०
 अहन्नामा नया ('यू टेस्टामेंट') १६
 —, पुराना ('ओल्ड टेस्टामेंट') १६
 अगत पराश्रयी रचनाए ११६
 आत्मा की तीन वृत्तिया १२
 आधुनिक काल क अनुवाक १४४
 आधुनिक रगमच २५१
 'आधुनिक हिन्दी काव्य म
 छन्द-योजना' ४८ ६
 आनन्द ६८, ११२
 'आनन्दरघुनन्दन' ६५, २७४, २७८
 आनन्दवधन १३, ३० ३२, ४६
 'आनन्दविजय १२१
 'आट स पोएटिका ८५
 आनुतोष देव २५४

‘इतिहास (दखा ‘हिन्दी साहित्य का इतिहास’)

‘इंदर सभा २०७

इंद्रोत्तर ८७, १०१, २०१, २३८४०,
२७७

इंद्र १००

इमिटेगन ८५

‘उत्तररामचरित ७१ ७२ ६०, ६८

१००, १०२, १०४, १४५, १६४

१६६७, २०० २०७ २०६ १०,

२१६, २१६, २१६ २५६ २६५ ६

२६८ ६ २७१ २

उदयवीर ८० विराज

उद्देश्यमगनि ६२

उमान्यास मिथ ११६

‘ऊर्ध्वग १०० १०२ १०४, २००, २३५

ऋग ऋग्वेद ६ २५

ऋग्वेदसर्वाङ्गमणिवाकार ४८

एकमेजेसिस १६

एडप्टेशन ७८

‘एनीड ८६

‘एस्थटिक्म ८६

ओविड ८८

‘कणभार १००, १०२, १०४, १०६

२००

‘कपूरमजरी’ २३, ६६ ६८ १०१ २

१०४, १६५ १६७, १६९, १७२ ६,

२५८

‘कविजनमुखा १७७

कविरत्न दखो सत्यनारायण

काचन मिथ काचनाचाय १०४, १६८

कातानाय गास्त्री सलम ५७

कादावस्था अमप्रहृति और सधि का

सपाय स्वरूप ५६

काप्लि गोपालनास ६६

कानिदाम १०८ १३२, १४५, २०१,

२०६, २१६, २१८ ६, २२३, २३६,

२४३, २५४, २६४, २६७

काय, उत्कृष्ट ३२

‘काय और कला तथा अय निबंध ३१

काय का अनुवाद ३०

—स्वरूप ३१

—के गुण और दोष ४०

—दोष ४१

—अवगत ४३

—पदगत ४१

—वाक्यगत ४२

—म अलवार ४४

—का महत्त्व ४५

—छन्द ४७

—का महत्त्व ४७

—रस दोष ४४

‘कायप्रकाश ३७ ४१ २४५

(कापी) नागरी प्रचारिणी सभा १२४,

१६०

काशी पत्रिका १८६

काशीराम, काशीराम १३१, १४३

काष्ठरत्न ८६ ८६

कीथ डा० ए० बेरीडेल ५७ ५६, ६१

कुतबन १२१

‘कुदमाला ६० १०२, १०४ १०६ २००,

२१८ ६, २३५ २६०, २६६ २६८ ६,

२७१ २

‘कुपितकोशिक १६०

‘कुमारसम्भव २२३, २३५

कुरुवनदहन ७६ ६६, १०८, १६२, २००

कृष्णनास भट्ट कृष्ण मिथ ११७ १२३

कैदारनाथ शर्मा १००

केशवदास ११६

के० साम्बनिब गास्त्री २६

कलीशनाथ भटनागर ७६, १६२

कोच बनेडेटा ८६

कनीअर ग्लास ट्रांसलेशन ८३

कवेचुआ १७

कुमरो १४४

खेमचंद ११७

गणपति गास्त्री २०१

गदाधर भट्ट ६८
 गङ्गवाल १४४
 'गाथासप्तशती' १५
 गगाधर इन्द्रकर १००
 गुरुप्रसाद उदामीन १२६
 गुलाबसिंह ६०, ६८, १०५, १०७ १०६
 १०, ११२, ११५, १२६
 गेटे ८६
 गोपालकृष्ण शील १०१
 गोपालचन्द्र (उपनाम गिरधरदास) ६५,
 २०८
 गोपालदास ११६
 गोपीनाथ तिवारी १२४
 गोविन्द शास्त्री दुग्धेकर १००
 गोविन्दसिंह, मुख १३१
 गौरीशकर व्यास १००
 गौरीशकर शर्मा ६६
 'गणेशोक्ति' ७८, १०८, १४५, १६२,
 १८८ ६३
 'गणेशस्तुति नाटक' १७०
 'गणेशपूजाप्रतिष्ठा' ७६
 'गणेशस्तुति' १००, १०२, १०४, २००
 २३५ २६५
 गोकुलेश्वरी १७
 छन्द का स्वरूप ४८
 छापानुवाद ७६
 '(ए) जनरल स्टोडरसन
 टु साइका एनलिसिस २०
 जन अन्तर ६७, ११२
 जगन्नाथप्रसाद १० ३१०, १७६-७
 जसवन्तसिंह १०, ७६ ६७, १०४ ५
 १०७ ६ ११२ ५, १२१ २, २७४
 जामनी १२१
 जाज धियद्विषल कम्पनी १०६, २०७,
 २५८
 जीव गोस्वामी ३८
 जोन ड्रान्डन ८५
 जालाप्रसाद मिश्र ६८ ६, २३४

टीकानुवाद ७७, ७६, ६६
 टी० एन० बी० आचार्य
 (देवा रामेश राघव)

हुण्डिराज यज्वा १७६

सारा चिञ्चालकर २६२

साराहमाग १८

सुलसीदास १२१, २७६

तेजसिंह भूपाल १०५

दयानन्द, ऋषि १६५, २७६

दयानन्द ठाकुर ६६

दशरथ आभा १२१, १३० २५३

दाम्पक ४७, ५२-३, ५६, ६७ ७०

दाम्पककार ३८ ४७ १३, ५७ ६, ६३,
 १६०

दादुदयाल १२१

दामादर मिश्र १३२

दामोदर शास्त्री ६६

दिङ्नाग २१६

दुरवधारण ६०

दुदक १७२

'दुलभवधु' ८३

दुहिक १७२

दूतघटोत्कच १०० २, २०० १

'दूतवाच ६६ १०२ १०४, २००, २३५

'दूताग १००, १०२, २००

द्वाराव २१८

द्व १४५, १७५

देवदत्त तिवारी ६८

'दवीधद्रमुत्तम १७६

दवीदाम ११७

देवदत्तकुमार २०

द्रव्य मा प्रवाह ६१

धम्मपद १५, १६

धनजय धनिर ५६

'धनजयविजय ६८, १०१ २, १०४,

१४५, १६१, १७२, २५५, २५८

२७३

धीन्नाग १०४ २१६

धौकल मिथ ६८, १०३ ५, १०७, ११०,
११२ ३, १२४ २३४

‘ध्रुवस्वामिनी’ १७६

ध्वनि के भेद ३४

‘ध्वन्यालाप’ १३, ३० ३२, ४६

नंदलाल, ग्रन्थचारी १०

न० वि० दव ६८, ७३४

नहुष’ २७५

‘नागानन्द’ ६८ १०२, १०४, १४५, १६८,
२००

नागाजुन ११

नाटक का इतिवृत्त

—अथप्रवृत्तिया १४ ५७

—कार्यावस्थाए ५४

—सधिया ५५

—पञ्चकत्रय पर

विभिन्न मत ५६

—भोज के तीन पञ्चक ६०, ६१

—स्वरूप ५२

—के अनुवाद की समस्याए ५२

—के दोष ८६

—में गीत ६६

—नेता या नायक ६१

—विगिष्ट शब्द प्रयोग ६६

—आमुक्त कथोत्थान, वाक्यापमूलक ६६,
६८ ६

—प्रयोगान्तर ६६ ७०

—प्रवृत्तक ६६ ६८ ६

—संघा वीथी के अग गण्ड ६६ ७० २

—गुहायपद उद्घाट्यक ६६, ७०

—पताका स्थानक ६७ ७१

—प्रवृत्ति आमंत्रण गान ६६ ७३

—पात्रभाषा ६६ ७३

—गान्धी ६६ ८

—स्थापना पात्रमूचन ६६, ६८

—मुखमूचन ६६ ८

नाटकानन्द’ ६८ ११२

नाट्य और अनुवाद ६६

नाट्यदपण’ ६०, ५२ ३ १७ ५६, ६३,
१७६

नाट्यभारती २५४, २६१

‘नाट्यशास्त्र’ ३६, ४०, ४६, ५२, ५६

६३, ६६ ७, १६६, २५१, २७८

नाट्यशास्त्रकार ६१

नानक १२१

नानकदास ६८, १०७, ११०, ११२ ४,
१२४

नारायण उपाध्याय १६८

नालिका ६६, ७०, ७२

निग यूजीन ए० १६

‘निष्का’ २६४

निमला दाणी २६२

निर्दोषत्व ६१

नीराजना २१८

नीलतटीयबोलिया १७

नेमिचंद्र जन २५०

नेवाज ६७ १०३ ११२ ४, २३४, २७८

‘नैपथ्यचरित’ २५

‘नायदगन’ ६

‘युनायता’ ८६ ८६

पताकास्थानक ६४ १४६

पदमाकर १४५ १७५

पदमावत १२१

पदाग्रह ८६, ८८

परमानन्द उदासीन, स्वामी १२६

परमेश्वरानन्द गान्धी १००

परा (वाणी) ११

पराश्रमी १०८, १४०

—रचनाए ७६ १०६

परिश्रामी रगमच २५३

पश्यन्ती (वाणी) १२

पञ्चरात्र ६६ १०० १०२ १०४, २००,
२३५

पंडितराज (अग्रन्नाथ) २५, ३३

प्राक्पण्डविडम्बन ६०, ६८, १०४, १६१,
१६४, २५५

पाणिनि ८८

पाणिनीय शिक्षा’ १२

पात्रदोष नाटक के अनुवाद में ६०

पारसी चियेटर का मंच २५३

‘पावती परिणय’ ६६, १०१ २, २००

पिंगलच्छन्द मूत्रम् ४८

पुत्तूलाल शुक्ल ४८ ६

पराक्रम ८५

प्रवरण १६८

प्रतापनारायण मिश्र ६८

‘प्रतिभा’, ‘प्रतिभायोग्यवरायण’ १००,
१०२ ४, २००, २३५

‘प्रतिभा’ ६८, १००, १०२-४, २००,
२३५

प्रतीयमान अर्थ १३

प्रधान वाक्याय ३३

प्रबोधचन्द्रान्त्य’ १०, ६० १, ६५, ६७

१०१ १०३ ४ १०८, ११०, ११३

४, ११६, १२१ ३ १२६ १४५ ७,

१६६, २००, २०३, २५५, २६७

२६६, २७४, २७८-९

‘—और उसकी हिंदी परम्परा’ ११६

प्रबोधसुमध्युदय ११६

‘प्रबोधनाटक’ ७६ १२१-२

प्रसाद (दशो जयशंकरप्रसाद)

प्रसाद गण ४१

‘प्रियदर्शिका’ १०० १०२ ४ २००, २०३

प्रियप्रवास २०३

प्रेमचन्द १०

प्रेमनिधि शास्त्री १००

फास्टर, लियोनाड ८३

फायर, मिगमड २०

फेडरिक पिनकौट १४७

बदरीनाथ भट्ट ६६ १०८, १६२, २००,
२७८

बनारसीदाम ६७ ११२, ११६

बलदेव शास्त्री ८६, ६६, १००, १५१,
२०१ २३४ २३६ ४६, २६५, २६८,
२७७

बनाराम ११४, १२३, १२४

बहादुरगढ़ १३१

‘बाइबल के अनुवाद’ १६

बाबा डिके २६१ २६२

बाबूलाल मायागवर दुबे ६६ २०१

बालकृष्ण भट्ट ६६

बालभारत १७३

बालमुकुन्द गुप्त ६६

‘बालरामायण’ १७३

बनजानसन ८५

बतू १७

ब्रजबानीदास १०५ ७, ११०, ११२ ५,

१२३

‘ब्रजविलास’ १२३

बजरत्नदाम १६८, १६९

भगवत्शरण उपाध्याय १००, २०१, २७७

भट्टनागयण १०४

भरत ३० ३६७ ४० ४६ ५२ ३, १६६,
२५१ २७८

भन हरि ११ २६

भन हरिनिबंद’ ६६ १०१, १०३ ४,

१०६, २०० २०६ २५८, २६२

भवभूति १६ १०४ १४५ १६४ ६

२०८ १०, २१५, २१६, २६५ २६८,
२७२

‘भारत-जीवन’ १०६

भारते दुहरिचन्द्र १०, ७८ ६ ८४, ६१

६५ ६८ १०४ = १४४ ७ १६६,

१६१ ७०, १७२ १७४ ६ १७६ ८२,

१८५ ६ १८६ ६० १६३-४ १६६,

२०४ २०८, २१४, २१६ २३०,

२५० २५५ ६, २५८, २६७, २७४ ६
२७८ ८०

भारत-दु काल १४४

‘भारत-दु कालीन नाटक साहित्य’ १२४

भारत-दु नाटकावली’ भाग १ १६८

१६२-३ २५६ २५८, २६७, २७४

—’ भाग २ १० ८३, ६० १७५,

२७६, २७८

भाव १२

— अभिचारी ४०

—, स्थायी ३६

भावगान्ति आदि ३६

भावानुवाद ७६

भाषान्तर ७६ ७६

‘भाषाभूषण’ १२१

भाषा गद्दे जय १०

भाषा हनुमन्नाटक’ १२८ ३०, १४२

माम २०० २, २६७

भिनायता ८६ ७

भिनायधारण ६०

भिनायता ८६ ८८

—, पदगत ८८

— प्रबधगत ८८

— वाक्यगत ८८

‘भीमप्रतिना ७६

भुवदव दुबे ६८ १०६

भूप—देवा सीताराम

भाज ६१ १३३

‘भाजाज्ञ शृंगारप्रकाश’ ६१

नालाकर व्यास ५७ ८

मयुरादास ११० ११७

मधुसूदन सरस्वती ४८

मध्यकाल के अनुवाद ११२

मध्यम व्यायोग’ ६६ १०१, १०३ ४,

२००, २३५, २६५

मयमा १२

मनु० मनुस्मृति १५ ६

मनोविश्लेषण’ २०

मम्मट मम्मटाचार्य ३७ ४१ ४५ ४७

‘मचेंट आफ बनिस् ७८, ८३

मनगासी १७

महत्त्व ६५, ६७ १०४ १०७ ८

११०, ११२ ५, ११७ ११६ १२१

७७६

महामा गाधी २६७

महानाटक’ १३२, १३४ ७ १४२ ३

महाभारत १५, २८, १६६, २५५ २८०

मन्वीरचरित १६, ८२, ६०, ६६,

१०१ १०३ ४ १८५ १६४ ५ २०६

२१४ २१६, २७३

महाचन्द्र १००, १०८

माधवविनोद ६७ ११२ ११४, १२४

मानसिंह १२६

‘मानतीमाधव’ ८८ ६७ ८ १०१ १०३-

८ ११०, ११३ १२८ ५ १४५

१८४ २०० २०७ २११ ७७६

मानसिकानिमित्र’ ८८, ६६ १०१

१०३ ४, १०७ १८५, १६४ २००,

२०३, २०५, २३५ २६१ २

मिट्टी की गाड़ी’ १०१

मुख्य या वाच्य अर्थ १३

‘मुद्राराक्षस’ ६४, ७२, ८६, ६८, १०० १,

१०३ ४, १०८, १४५ १६१ १७६ ८,

१८० १८३ ६, २०० २१४, २२०,

२२५, २३० २३४, २५०, २५६

२५८, २६७ २७३

— मूलपाठ म एक

महत्त्वपूर्ण असंगति १७८

‘मच्छकटिक’ २४ ६८ ६ १०१ १०३ ४,

१०६ १४४ ५ १६६, १६८, १६८

२०० १ २२५ २२८ २६५ २६६

७०

मेटाफ़ोर ८५

मयदूत’ १४४ २३४

मनायणी संहिता कृष्णयजुर्वेदीया ६

मथिलीशरण गुप्त ६६ १००, २०१

मोनियर विलियम्स १४७

माह विवेक मुद्र’ ११६

मोहन राकेश १०१ १०६, २६५, २७७

मौलिक—पराश्रयी १६२

मभन १२१

‘यजुर्गीत’ ७३५

यजुर्वेद’ २३५

रघुवर्ग’ २१६ २३४

रत्नावली १८ ६६ ६८ १०१ १०३ ४

१४४ ५ १४७ १६३ २००, २०३ ६,

२५५, २७६

रमेशसिंह राजा २०६

रम १२

—और औचित्य ३६

—नाटकप्रकार ६५

—वा स्वप्न ३६

राघवन वी० ६१

राजेश्वर १७७ ३

रामगीत ६७, १२२, १२७ ८, १३० १

१३४ ६ १४१ ३

—और महानाटक अन्तर १३७

— गमानाण तथा अन्तर १३२

अनुक्रमिका

- या अनुवा १८०
 —की कविता १४०
 रामचंद्रगीत १८२
 रामकृष्ण वर्मा १२६ ३०, १४०
 रामचंद्रगुणचंद्र ४०, ५५
 रामचंद्र गुप्त ३०, ८०, १२६, १३१,
 १४६, १८६ १८०, २०३
 रामचंद्र मूर्ति १६०
 रामान्ध्रि गर्मा ६६
 रामदास राय ८६, १००
 रामलीलमहि, बाबू २०४
 'रामायण' ६६
 'रामायण' २८, ६०, १४३ २०६ १०,
 २१६ २४०
 रामचंद्र मठ ६८
 रागेय राधक ८६, १०१, १०८, २०० १,
 २२१, २२६, २३३ २७७
 गह्वर वारपुत्र २६१ २
 रत्न वागिराय १६० १६१
 (रत्न वागिराय मिश्र)
 रूपक क भेद १३
 रूपान्तर ७७ ७८
 रंगपीठ २५०
 रंगमंच, आधुनिक २४१
 — खुला २४३
 —, परिवर्तनीय २४३
 —, पारसी थियेटर का २४३
 —, संस्कृत २४१
 —, हिन्दी २४३
 रंगशीघ्र २५०

- संक्षेप १३
 संक्षेपा व्यापार १३
 संक्षेपमहि राजा १०, १४, ४६, ८० २,
 ८४, ८७, ८६ ६१, ६८, १०४ ६,
 १०८, ११० १, १४४ ७ १५१, १६१,
 १६३ ४ १८०, १८३, २०८ ६ २१४,
 २१६ २३४ ५ २३७ ८४, २४६ ६,
 २५४ २७४ २७६, २७८, २८०
 संक्षेप १३
 नालायम ११६
 लिटिल थियेटर २५४

सूचक ८६

- वचन मिश्र ६६, १०६, ११०, २०० १,
 २०६, २५०, २५८, २६०
 वज्रिल ८६
 वणाश्रम धर्म २६३
 वतमान काल के अनुवाद २००
 वमन रंग २६२
 वमुधरा कालवार २६२
 वस्तु १२
 —के अनुवाद म पाच स्थिति २०
 —रूप अर्थ का अनुवाद ८२
 वाक्पत्नी ६६, ७० १
 'वाक्पत्नीदीप' ११, २६
 वाक्पत्नी या गण्ड का स्वरूप १४
 वाक्पत्नी ११
 —की वनावट १३
 —, प्रधान ३३
 — मनायापार की दृष्टि से १०
 वागीश्वर विद्यालवार ८४, ८८ ६१ ६८,
 १०१, १०६ ११०, १५१, २०० १,
 २१८, २२५, २३४ १ २३७ ८०,
 २४० १० २६०, २६२, २६६ २६८-
 ६, २७०, २७७
 वाक्पत्नी १३
 वाक्पत्नी ८६
 वाक्पत्नी २८, ३० ४७ ८, २०८, २१४
 'वाक्पत्नीय रामायण' ४८, १६१ २०८,
 २७०
 'वाक्पत्नीय' १०० १, १०३ ४ १०७,
 २३५ २५५, २६१
 विजयानन्द त्रिपाठी ८८, ६६, २०१,
 २०३ ४
 'विजयानन्द' ११६
 'विजयानन्दमजिका' १७३
 विद्यासुन्दर २५५
 विमल रमा म धर्म की अनुवृत्ति ४०
 विराज ८० ८७, १०० १०७ ८, २०१
 २२२, २२४ २३४ ६, २३८ २४० ८,
 २५४ २६१, २६७, २७७
 विद्वनाथ कविराज १४, ३० ६८
 विद्वनाथमहि महाराज २७८

विशाखदत्त विशाखदेव १७६, २७३
 विष्णु चिंचालकर २६१
 वीरनाग २१६
 वुडवय, राबट एस० ३७
 वर्णीसहार ६६, ६८ १०४, १०८ ६,
 १६२, २०० २३४, २५५ २६५,
 २६७ २६६, २७८
 वलरी १२
 'वय्य अय १३
 व्यजक १३
 व्यजना के भेद ३४
 व्यजना-व्यापार १३
 व्रतीभ्राता २३६

'शकुन्तला नाटक' १०, १४, ४६ ६८,
 १०० १०६, ११३ १४४ १४७,
 १५१, १६१ १८३, २२० २५४
 २७८
 'शकुन्तलोपाख्यान' ६७ १०३, ११२ ४,
 ७३६

शक्तिग्रह ११
 'शदानुवाद ७७
 शब्दालंकार ४६
 'शाकुन्तल — दक्षिण अभिमानशकुन्तल
 शालिग्राम ६८
 शास्त्रीय अनुवादों के दोष ६०
 'शिक्षा प्रथम ४८
 शिवप्रसाद, राजा १४६ १८०
 शिवप्रसाद मिश्र हर्ष कागिः १६०
 'शिशुपान-वध २५
 शीतलाप्रसाद ६८
 शीलावती १७२
 'शुन जी—दक्षिण रामचंद्र गुप्त
 'शुद्ध १०४ १६८
 'शृंगारप्रकाश १७६
 'शृंगाररसमण्डन १२२
 'शिव चारक २६
 श्याममुन्दरदाम १४६
 श्याम सयासी २६१
 श्रद्धाराम फूलोरी २७६
 'श्रीचन्द्रावली २५८
 श्रीहृष, हृष २५, १०६

सट्टक ६६
 सत्यजीवन वमा ६६
 सत्यनारायण कविरत्न ८८ ६०, ६६,
 ११०, १२४ ५ २०१, २०७ ६, २११
 २ २१५ ७ २५६, २६६, २७२, २७७
 सयत्रतसिंह १०१ १०६ १७८ ६ २००
 'सत्य हरिश्चन्द्र ७८ ६, ६८, १०८,
 १४५ १६२ १८० १८६ ६२ २८६
 —म अनुदित अक्ष १६३
 —कुछ असंगतियाँ १६२
 सत्यायप्रकाश १६५
 सत्येंद्र शरत १००
 सदानन्द अवस्थी ६६
 'समयसार नाटक' २, ६७ ११२, १२६
 सम्प्रेषण का जातीय भाषिकीय
 अभिव्यक्ति १८
 सरोज अग्रवाल ११२, ११६
 सतिनाथ ११०, १२५
 साइकोलोजी ३७
 'सा० द० दक्षिण 'साहित्यदपण'
 साध्य या विधेय १३
 सारकथन या आख्यान शैली ७८
 सारानुवाद ७७
 'साहित्यदपण' १४ ५७
 साहित्यिक अनुवाद की प्रक्रिया ३०
 'साह्यदशन ३८
 सिद्ध या उद्देश या अनुवाद्य १३
 'सिद्धांतबोध १२१
 सिद्धान्तसार १२१
 सियारामशरण गुप्त १००
 सिसरो ८५
 सीताराम मुख ८२ ८४, ६० १, ६८ ६,
 १०५ १०८, ११०, १४४ ६ १६५,
 १६६ १६८, २०८ ६ २१४ ५,
 २७७ २८०
 सीताराम सहगल १००
 सुन्दराराम प्रो० डी० २५१ २
 सुमन दांडेकर २६२
 सुरति मिश्र ६८, ११२
 मूरदाम ३८, १२१, २७६
 मुखान्त साम्प्रो १००
 सोमनाथ गुप्त ७८, १०६ १८६ ६०

सौमनाथ चतुर्वेदी ६७, १०३ ४, ११०,
११२, १२४ ५, २१६
'संगीत गावुन्तल' ६८
सद्भिधावधारण ६०
संस्कृत रगमच २५१
संस्कृत और हिंदी का सम्बन्ध २३
'स्वप्नवामवदत्तम्' २०१
'स्वप्नवासवदत्ता' ६६ १०१, १०३ ४,
१०६, २०० १, २३४, २७०
हनुमन्नाटक' ७६, ६७, ११२ ३, १२६
३०, १३२
हरदत्त, डा० ६६
हरन्यालुसिंह १००, १०६, २०० १
हरिमल मिश्र ६६
हरिचन्द्र, देखिए भारतन्दु हरिचन्द्र
हरिचन्द्र मगजीन १६८
हरिहर १०४
हम युटिमस १६

हय, श्रीहय २५, १०४
'हितापदेश' १५ ६
हिल्ली का गठन २५
हिन्दी की नाट्यपरम्परा २७८
'हिन्दी नाटक' उत्भव और विकास'
१२६, २५३
'हिंदी नाटक-साहित्य का इतिहास' ७८,
१२६, १८६
हिंदी नाटक साहित्य में उपलब्ध
अनुवाद शैलिया ७८
'हिन्दी साहित्य का इतिहास' १२६ १४६,
१८६, २०३
हिरण्यराम, हृदयराम ७६, ६७, ११२ ३,
१२७ ३१ १४१ ३
हिलिगनन १७
हिलेजर वेलाक ८६
हेमद्रनाथ दासगुप्त २५४ ५
होरेस ८५